साहित्यशास्त्र के प्रमुख-पक्ष

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी
प्राध्यापक, सागर विश्वविद्यालय,
सागर।

समर्पण

सारस्वत-मंदिर के आलोक-केन्द्र
डॉ० द्वारका प्रसाद जी मिश्र
(मुख्य मंत्री म० प्र०)
को
जिनकी स्नेह और सौजन्यमयी
छाया में विकास का अवसर मिला।

शुभाशंसा

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन, यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव ॥
[कालिदासः]

पश्यामि कस्यापि कवेः कृतिं चेत् सारस्वतं कोशमवैमि रिक्तम्।
अन्तःप्रविश्यायमवेक्षितश्चेत् कोणे निविष्टा कविकोटिरेषा ॥
[नीलकण्ठः]

यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयापि रमणी
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते।
मदुक्तिश्चेदन्तर्जडयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः ॥ [श्रीहर्षः]

मधुर, प्रसन्न, मसृण, संस्कारसंपन्न और नूतन पदशय्या तथा गम्भीर, कमनीय, चमत्कारपूर्ण, मननीय, अनुसन्धानसंभृत, अर्थराशि सन्दर्भ की महत्ता, उपादेयता, मनीषिमहनीयता और चिरस्थायित्व प्रदान करते हैं। विपुल तात्त्विक सचय और समुन्नत आर्हन्तीपुरःसर उनका समुपस्थापन स्पृहणीयता और व्यापकता के उपोद्‌वलक होते हैं। विद्वद्‌गोष्ठी, विचारकगण, सहृदयकदम्ब, भावकव्रात, पण्डितमण्डल, आलोचककुशल महाशय ऐसे निर्मलधारा के उदन्याबद्ध रहते हैं और शश्वत् अनुशीलन परिशीलन के स्पृहयालु रहते हैं। शब्दसरणि, अर्थसार्थ के साथ विमर्श स्रोत उपलब्ध हो, अन्तस्तलावगाहन अवाप्त हो, अद्‌भुत, विविध, प्राज्य, प्राञ्जल विवेचन चारिमा का चातुर्य पदे-पदे उत्तमाङ्ग को नव-नव अनुभूतियो से संतृप्त करता रहे, विधूनन का सर्जन विलोकित करे वहीं कहीं-कहीं सन्तप्त भी करे तब वह ग्रन्थरत्न सुधीसङ्घमण्डन होता है, अभ्यसनीय, उपासनीय और समादरणीय होता है। पौरस्त्य, पाश्चात्य, प्राचीन, नवीन, उच्च, मध्य, प्राध्यापक, अन्वेषक, अन्तेवासी यदि गाम्भीर्य, सौदर्य, अवबोध, व्युत्पत्ति, दृष्टि, उन्मेष, शक्ति प्रतिभा आदि श्लाघनीय गुणगणगौरव के अनुरागी, प्रार्थी और उपलिप्सु हों तब तो ऐसे उपलम्भ अवश्य उपक्रान्त होने चाहिए।

अस्तु—वाङ्मय सुधाम्भोनिधि की शतशः सहस्रशः पुनीत धारायें हैं। यह परमपावन, मनोरम, परमेश्वर सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ की मधुरिमा, रचनाकौशल, ललित कलाओं के कलकलरवनिनादित भारतवर्ष आर्यावर्त आजमीढ़ वर्ष उन धाराओं का आक्रीडाङ्गण है। यहाँ के वेदान्त दर्शन के अद्वैत तत्त्व के निगूढ़ अत्यन्त श्रेयस्कर व्यवहार परमार्थ के सच्चे साथी दिव्यालोक विश्व के भूपृष्ठ के समस्त मनीषिमण्डल को चमत्कारचमत्कृत करता है, साधकों को अखण्ड शान्ति सरोवर के अवगाहनानन्द प्रदान करता है, इस देश की शस्यश्यामला, तीर्थसार्थसेवित लोभनीय वसुन्धरा रत्नगर्भा किसको आकृष्ट विलोभित नहीं करती, यहाँ निगम, आगम, पुराण, गणित, व्याकरण आदि अनेक गम्भीर उपपन्न रचनाये विचारशील द्रष्टा को विस्मित किये बिना नही छोडती, उसी प्रकार एक अद्भुत सर्जन, लोकोत्तर विस्मय, वाग्देवताका नूपुरझंकार, विधातृवैभवप्रतिस्पर्धी लोकोत्तर-कर्मालङ्कर्मीण कविगण का आगूरितगौरव कौशललावण्य रसमय सौन्दर्यमय आश्चर्यमय साहित्य-सौहित्य सुधासिन्धु अथवा हृदयङ्गम, सहृदयहृदयोल्लास की चरम परम भूमि, रसशास्त्र अलङ्कार-शास्त्र का दिव्य विकसित विशाल मनोहर नन्दनवन है तो भारतवर्ष में है। इसके दृश्य श्रव्य भेद में आमूल-चूल सर्वाङ्गीण रसतत्त्व लोकोत्तर आनन्द परिपूर्ण है, रस आत्मा है, ध्वनि उसका स्वरूप है, उपमादि अलङ्कार प्रसाधन है, दुःश्रवत्वादि दोष काणत्व, खञ्जत्व, मूढ़त्व के सदृश अपकर्षक हैं क्योंकि वे उद्वेजक होते हैं। गुण माधुर्य, ओज, प्रसाद, शौर्य, वीर्य, पाण्डित्य के समान अन्तरङ्गभूषण है, अभ्यर्हणा के सन्निकृष्ट साधन है। इन प्रसाधनो से प्रसाधित, 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति, इस तैत्तिरीय श्रुति में सुनिरूपित सारभूत सर्वस्व रस, परम आनन्द उपलम्भभूमि है, आनन्दोपलब्धि को ही उद्देश्य कर कमनीय मार्ग का विरचन चातुर्य मुखरित है। पौरस्त्य पाश्चात्य प्रवाहों का संगम हो रहा है। आलोचना, प्रत्यालोचना, प्रतिभा, स्पर्द्धा, खण्डन, मण्डन अनेक इसके विवेचन स्रोत प्रवाहित हुए हैं और होते रहेंगे। अद्यत्वे लेखकों के अनेक स्वरूप है। कहीं केवल साहस, असांप्रदायिकता, परिज्ञान दौर्बल्य, कीर्तिलोलुपता, अभिनिवेश नवीनतानयन की उद्ग्रीवता वस्तुतत्त्व के अन्यथापन का उद्गम करते है, वास्तविकता का निमीलन, उत्पथ का प्रसार प्रचालित करते है, अधिक ऐसा ही वर्ग है। कहीं अधिकार संपन्न, विमर्शक, तलावगाही, परम्परापरिप्राप्त अवदात विद्योद्-द्योतित, सुधीर, पारदृश्वा, विनयनयविभूषित, व्युत्पत्तिप्रतिभाप्रभाप्रभासित

मनीषी नवनिर्माण, रहस्योद्घाटन, वस्तुतत्त्वविवेचन, सत्यमूल्यांकन, निर्भ्रान्त लेखन, प्रामाणिक विमर्श उपस्थापन करते हैं।

प्रकृत सन्दर्भ साहित्य दर्शन का अनर्घ रत्न है। इसमें प्राच्य, पाश्चात्य विचारसौष्ठव संग्रथित है। यह एक विशाल अध्ययन है। इसमें निहित विचार प्रामाणिक है अतएव उपपत्ति सिद्ध है। इसमें प्रत्यालोचनायें विनय तथा विभूष्य वैदुष्य के साथ की गयी हैं। साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष इस ग्रंथ का सुरुचिर किन्तु अन्वर्थता प्रवण प्रगुण नाम है। इसके प्रभव प्रखर विद्वान् साहित्याचार्य डा० श्री राममूर्ति त्रिपाठी एम० ए०, प्राध्यापक हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय है। मेरे यहाँ इन्होंने साङ्गोपाङ्ग विधिवत् अध्ययन किया है और इनकी रचना हिन्दी जगत् के लिए एक उत्कृष्ट अमूल्य देन है। मैं इसको देखकर आप्यायित हूँ और इसके निर्मल यश और प्रसार की पराम्बा अन्नपूर्णा और अखिल ब्रह्माण्ड-नायक श्री विश्वनाथ से सतत प्रार्थना करता हूँ।

धर्मसंघ, वाराणसी
चै० कृ० ११ २०२२ वैक्रम।

भिक्षु-महेश्वरानन्द सरस्वती
काशीस्थ ऊर्ध्वाम्नाय सुमेरु पीठाधीश्वर
जगद्गुरुशङ्कराचार्य

भूमिका

डा० राममूर्ति त्रिपाठी की प्रस्तुत पुस्तक "साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष" पढ़कर मुझे प्रसन्नता हुई। उसमें जहाँ एक ओर काव्य हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य-भेद जैसे भारतीय साहित्यशास्त्र के अपने विषय है वहाँ दूसरी ओर संस्कृत-अलंकार-ग्रथों में सौदर्य-तत्त्व, पूर्वो और पश्चिमी दृश्य-काव्य, अलंकार का अंतरंग दर्शन—जैसे आधुनिक विषयों का समावेश भी किया गया है। इसमें जहाँ एक ओर अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि जैसे भारतीय सम्प्रदायों का विवेचन किया गया है, वैसे ही खण्ड-काव्य, महाकाव्य जैसे काव्य-रूपों पर भी दृष्टि डाली गई है। इस दृष्टि से देखने पर यह पुस्तक विश्वविद्यालयों में प्रचलित भारतीय साहित्यशास्त्र के अध्ययन की विविध सामग्री का उपनयन करती है परन्तु इसके कई निबन्ध स्वतन्त्र चितन संम्बन्धी भी है जो साहित्यिक विद्वानों और चिंतकों के लिए विशेष उपयोगी हैं।

इन समस्त निबन्धों में आधुनिक पाठक के लिए आधुनिक शैली में विचार प्रस्तुत किये गये हैं। स्पष्ट ही क्रमागत विचार-पद्धति और व्याख्याओं से डॉ० त्रिपाठी की पद्धति भिन्न है। इन्होंने जिस प्रकार के प्रश्न उठाये है और उनका जिस रूप में उत्तर दिया है, वे प्रश्न और उत्तर नई जिज्ञासा के अनुरूप है। केवल पण्डित मण्डली के पिष्ट पेषित तथ्यों और विचारों का संग्रह ही नहीं है।

दूसरी प्रमुख वस्तु डॉ० त्रिपाठी की वह संयत विवेचना है जिसमें उन्होने श्री देशपाण्डे, डॉ० नगेन्द्र तथा जगदीश गुप्त जैसे नव्य विचारको का प्रत्याख्यान किया है। कदाचित् पुस्तक के सबसे गम्भीर निबन्ध यही हैं। इन निबन्धों से यह भी अभिज्ञान होता है कि डा० त्रिपाठी में पूर्वाग्रह या हठवादिता नहीं है और वे साहित्यिक विचारधारा को प्राचीन आचार्यों तक सीमित नहीं मानते। अज्ञेय जैसे नये लेखक भी उनके विचार के विषय बने हैं।

यहाँ हमने पुस्तक की केवल उन विशेषताओं का उल्लेख किया है, जो प्रथम दृष्टि में हमारे सम्मुख आई हैं। यों डॉ० त्रिपाठी के प्रत्येक निबन्ध में स्वतंत्र चिंतन तथा प्राचीन और नवीन के समन्वय का इच्छा और प्रयत्न देखे जाते हैं। मेरे विचार में यह पद्धति भारतीय साहित्यशास्त्र के विचार के लिए विशेष उपायोगिनी है। पाठक देखेंगे कि इन निबन्धों में डा त्रिपाठी की चिन्तन एक नव्यशास्त्रीय भूमिका पर प्रतिष्ठित होने लगी है।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में मैं इस पुस्तक का स्वागत करता हूँ। आशा है अन्य भारतीय भाषाओ के पाठक और विचारक भी इससे लाभ उठा सकेंगे।

रंगपंचमी
११-३-६६

नन्ददुलारे वाजपेयी
उपकुलपति
विक्रम विश्वविद्यालय

विज्ञप्तिका

काव्य के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश विकीर्ण करने वाली 'भारतीय-साहित्य दर्शन' के बाद यह मेरी दूसरी कृति है। साहित्य-शास्त्र पर इसके पूर्व औचित्य विमर्श, रसविमर्श आदि अन्य रचनाएँ भी प्रकाश में आ चुकी हैं—परन्तु काव्य के अधिकांश पक्षों पर एकत्र विचार करने की दिशा में इसे उक्त कृति (भा० सा० द०) के बाद दूसरा प्रयास ही कहा जा सकता है। भारतीय साहित्य दर्शन की अपेक्षा प्रस्तुत कृति की विशेषता कई दृष्टियों से है। यद्यपि नायिका भेद, शब्द-शक्ति आदि विषय प्रस्तुत कृति में नहीं है—फिर भी जिन प्रमुख साहित्यिक-पक्षों को विवेचनार्थ यहाँ ग्रहण किया गया है—भारतीय-साहित्य-दर्शन की अपेक्षा वे ऐतिहासिक और तुलनात्मक पीठिका पर प्रस्तुत हुए है। फिर दोनो कृतियो के अतराल-काल में इन 'प्रमुख-पक्षों' पर न जाने कितनी शकाएँ और समस्याएँ मेरे सम्मुख उपस्थित हुई और उनका समाधान पाने का प्रयास किया गया। पुस्तक में संगृहीत निबन्धों को परस्पर संबद्ध बनाने की दृष्टि से कुछ अल्पकाय निबध भी जोड़ दिये गये हैं—इस दृष्टि से उनका महत्त्व आपेक्षिक रूप में कुछ कम भी हो सकता है। परिवर्द्धित चिंतन का दावा सर्वत्र नही किया जा सकता, पर यथाशक्ति अधिकाश मैने यही प्रयत्न किया है कि इससे पूर्व इन्हीं विषयों पर मैने जो कुछ कहा है—उससे आगे कुछ कहूँ। कहने का प्रयत्न मेरा है और उसके महत्त्व का निर्णय तटस्थ पाठकों पर।

प्रस्तुत कृति पर शुभाशंसा श्रद्धेयवर्य स्वामी महेश्वरानंद सरस्वती ने और भूमिका आचार्य नंददुलारे वाजपेयो ने लिखकर उसे और मुझे जो गौरवान्वित किया है—तदर्थ काशीपीठाधीश्वर शंकराचार्य और विक्रम वि०वि० के उपकुलपति का मैं हृदय से कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ।

अत में मै उन समस्त मनीषियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिनकी ज्ञान राशि से मुझे यह आलोक मिला कि मै प्रस्तुत कृति को वर्त्तमान रूप देने में सशक्त हो सका। साथ ही प्रबुद्ध और निराग्रही पाठकों से यह आशा भी करता हूँ कि प्रस्तुत कृति की त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करेंगे ताकि अन्य संस्करण में उस पर मैं पुनः विचार कर सकूँ।

सागर विश्वविद्यालय
सागर।

राममूर्ति त्रिपाठी

लेखक की प्रमुख कृतियाँ

१—व्यञ्जना और नवीन कविता

२—नृसिंह चम्पू (हिंदी व्याख्या)

३—भारतीय साहित्य दर्शन

४—औचित्य-विमर्श

५—रस-विमर्श

६—लक्षणा और उसका प्रसार

७—काव्यालङ्कार सार संग्रह और लघुवृत्ति की व्याख्या

८—साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष

यंत्रस्थ

(क) रहस्यवाद [हिंदी साहित्य के संदर्भ में]—राजकमल प्रकाशन

(ख) छायावाद : शब्द और चिंतन —अनुसंधान प्रकाशन

(ग) साहित्यिक वाद कोश —उ० प्र० सरकार

(घ) सिद्ध साहित्य की दार्शनिक भूमिका और संत साहित्य से उसका शृंखला नियोजन —बृहद्-इतिहास ना० प्र० सभा

अनुक्रमणिका

संस्कृत अलंकार-ग्रंथों में सौंदर्य विषयक धारणा	१
साहित्य का स्वरूप : सौंदर्य के बदलते प्रतिमान	८
प्राचीन आचार्य और काव्य का व्यापक प्रतिमान	२६
काव्य हेतु	३४
काव्य का प्रयोजन	३८
काव्य-प्रभेद	५८
अर्थ की दृष्टि से काव्य-प्रभेद	५६
कथा और आख्यायिका	६२
मुक्तक-काव्यरूप	६८
खण्ड-काव्य	७७
महाकाव्य	८३
पूर्वी और पश्चिमी दृश्य काव्यगत समानताएं	६७
नाट्यसंधि-विमर्श	१०८
संस्कृत-साहित्य में नाटिका	११५
भारतीय काव्यात्मवाद की भूमिका	१२२
अलंकार का अंतरंग दर्शन	१३३
पश्चिमी अलंकार-साहित्य का उद्भव, विकास और विवेचन	१७१
रीतिवाद	१६०
ध्वनिवाद	२०१
वक्रोक्तिवाद	२२३
रस विमर्श की विभिन्न वैचारिक पृष्ठभूमियाँ तथा साधारणीकरण का विवेचन	२४३
औचित्य-विमर्श	२८१
औचित्य-विचार	२८७
डा० नगेंद्र और व्यंजना	२६२
'भक्तिवाद'—एक प्रश्न	२६६
गुणक्रम	३०२
अलङ्कारशास्त्र को पंडितराज जगन्नाथ की देन	३०६—३२०

संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में सौंदर्य-विषयक-धारणा

भारतीय-अलकार-शास्त्र की चिन्तन-धारा पर गंभीर-दृष्टि–निक्षेप करने से यह तथ्य स्पष्ट सामने आता है कि इन लोगों ने दो पक्षो से काव्य संबंधी विचार उपस्थित किये थे—पहला पक्ष है सर्जनात्मक और दूसरा ग्रहणात्मक। पहले पक्ष से विचार करनेवाले आचार्यों के समक्ष यह प्रश्न था कि वह कौन सा सारतत्त्व है, जिसको आधार बनाकर कवि अपनी उक्ति को सामान्य उक्ति से पृथक् कर उसे काव्यात्मक रूप प्रदान करता है? अथवा उसके सर्जन की कैसी पद्धति है, जिस पर आरूढ़ होने से वह काव्य की भूमिका पर खड़ा हो जाता है? कवि की दृष्टि से विचार करते हुए आचार्यों ने यह निर्द्धारित किया है कि कवि अपनी उक्ति को शास्त्र-व्यावृत्त करने के लिए जिस शोभाकारी धर्म को अपनाता है, वह है अलकार। इस सारतत्त्व पर बल देने के कारण उन आचार्यों को अलंकार–वादी कहा गया। निश्चय ही यहाँ कतिपय शब्दार्थालकारों की अपेक्षा एक व्यापक अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। रीतिवाद एव वक्रोक्तिवाद भी इसी प्रवृत्ति के विकसित रूप है। इसीलिए वस्तुतः वे 'वाद' भी अलंकारवाद ही हैं। वस्तुतः सर्जनापक्ष से विचार करनेवालो का 'वाद' अलकारवाद एव ग्रहणपक्ष से विचार करनेवालो का वाद 'रसवाद' है। बस, दो ही 'वाद' प्रमुख है। शेष वाद उन्ही के अवान्तर भेद हैं, उन्हीं के संकोच प्रसार है। अप्रासंगिक होने पर भी इस विषय में कुछ विचार अपेक्षित है। जब हम रीतिवाद को अलकारवाद के भीतर लेते है तो यह सोचकर कि उन्होने यह उद्घोष किया है कि "सौंदर्यमलकार," अलंकार ही सौंदर्य है, उसी से काव्य को ग्राह्य माना जाता है और इस सौंदर्य को काव्य में आहित करने के लिए दोषहान एवं गुण तथा अलंकार का आदान अपेक्षित है। वस्तुतः इन्होने अलकार शब्द को दो अर्थों मे लिया है—सौदर्य एव सौंदर्य-साधन। पहला अर्थ अलंकार शब्द की भावव्युत्पत्ति से और दूसरा अर्थ करण व्युपत्ति से। करण व्युत्पत्तिक अर्थ भी दो प्रकार का है—पहला व्यापक और दूसरा सकुचित। व्यापक अर्थ में दोष त्याग तथा गुण और अलंकार तीनो ही अलंकार हैं और संकुचित अर्थ में "तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः" वाला अलंकार। गुण को काव्य-शोभाकर तो कहते ही है, पर जब सौदर्यात्मक अलकार के साधनो की बात करते है—तब

भी गुण का नाम लेकर अलंकार के व्यापक रूप में ही उसे समेट लेते हैं और लोचनकार तथा आनन्दवर्द्धन दोनो ने रीति एवं गुण को अभिन्न माना भी है—पहला मुखर है और दूसरा मौन। इस प्रकार व्यापक रूप में रीतिवाद एवं अलंकारवाद दो वाद नही है। दण्डी ने भी जहाँ 'मार्ग' के भेदक तत्त्वो की चर्चा की है—वहाँ गुणो का नही 'प्रत्युत श्चिदलंक्रियाः' को भी साधन बताया है और अवशिष्ट अलकारो को तो उभय मार्ग साधारण अलंकार कहा है। वामन सम्मत गुण और अलकार के भेद का खण्डन उद्‌भट, जयरथ तथा स्वयं मम्मट ने भी अपने-अपने ग्रंथो में किया है। हाँ, लोचनकार ने इन प्राचीनों के मत को उपस्थापित करते हुए अवश्य एक को स्वरूप निष्ठ चारुता का तथा दूसरे को संघटनानिष्ठ चारुता का हेतु मानकर अंतर स्पष्ट किया है इस प्रकार अलंकारवाद एव रीतिवाद का पहला भेद, जो गुण एवं अलंकार के स्वरूप भेद पर आश्रित है इस तरह शिथिल कर दिया गया है। दूसरा भेद अलंकारवाद एवं रीतिवाद का यह बताया गया है कि अलंकारवादी 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्' के द्वारा कान्ति गुण की अपेक्षा भूषा को वनिताानन की शोभा के लिए अधिक महत्त्व का मानते है और रीतिवादी अलंकार की सार्थकता नारी गत युवावस्था जैसे गुण के रहने पर ही मानकर गुण को आपेक्षिक रूप से अधिक महत्त्व प्रदान करते है। पर यह अंतर सभी अलंकारवाद के तथा कथित आचार्य स्वीकार नहीं करते। दण्डी ने समस्त शोभाकर धर्मों को अलंकार ही कहा है। प्रतीहारेंदुराज को अलकारवादी कहना निश्चित है—पर काव्यालंकार सार की टीका में प्रतीहारेंदु राज ने अपने आशय का उपसंहार अलंकार की प्रधानता में जिस समारम्भ के साथ किया है, उससे एक ओर उन्हें अलंकारवादी कहना आवश्यक होता है और दूसरी ओर उन्होने वामन को स्थल-स्थल पर उद्धृत करके अलंकार की अपेक्षा गुण को उत्कृष्ट ठहराकर उक्त भेदक तत्त्व का निरसन भी अर्थात् कर दिया है। निष्कर्ष यह कि अलंकार एवं रीति वाद के दोनो भेदकतत्त्व बहुत प्रौढ़ नही हैं। इस प्रकार ग्रहण की दृष्टि से श्रव्य एवं दृश्य—उभयत्र रस की प्रतिष्ठा करनेवाले आचार्य आनंदवर्द्धन से पूर्व इन अलंकार वादियों ने सौंदर्य तत्त्व पर जो कुछ विचार किया है उसका निष्कर्ष यह है कि सौंदर्य अलंकार ही है। जहाँ तक सौंदर्य के उपकरण की बात है—भामह ने शब्दतः शब्द गत एवं अर्थगत अनुप्रासोपमादि वाग्विकल्पों अथवा वक्रार्थ शब्दोक्ति तथा रस को, दण्डी ने समस्त काव्यशोभाकर धर्मों यहाँ तक कि श्रव्य एवं दृश्य काव्यगत संधि, संध्यंग, वृत्ति लक्षण आदि को भी तथा वामन ने दोष हान तथा गुण एवं अलंकार के आदान को सौंदर्य का साधन कहा है।

लोचनकार ने भी इन लोगो के सौंदर्य सम्बंधी मत की चर्चा ध्वन्यभाववादियों के मत को उपस्थित करते हुए की है। कहा है कि 'चारुत्व दो प्रकार का होता है—स्वरूप निष्ठ एव सघटनानिष्ठ। पहले का कारण अलंकार है और दूसरे का गुण। इस विवेचन में अभिनवगुप्त ने अलंकारवादियो की सौदर्य धारणा का उपकरण एव आश्रय की दृष्टि से विचार किया है। सौंदर्य के उपकरण तो गुण एवं अलकार है और आश्रय शब्द (वाचक एवं लक्षक) एवं अर्थ (वाच्य एवं लक्ष्य)। आश्रय के सबध में भामह का 'चारवोगिरः', दण्डीं का 'वपुः सुन्दरम्', वामन का 'गुणालकारसस्कृतशब्दार्थयोः", उद्भट का 'चेतोहारिसाधर्म्यम्' सिद्ध करता है कि वे लोग सौदर्य का आश्रय शब्दार्थोभयात्मा काव्य को मानते है। ध्यान रखने की बात है कि उनका शब्द एवं अर्थ क्रमशः वाचक, लक्षक तथा वाच्य, लक्ष्य रूप ही हो सकता है। इन मूल ग्रन्थकारो ने शब्दतः नहीं, पर अर्थतः अपना अभिप्राय अलकार्य के विषय में व्यक्त किया है, परंतु इनके टीकाकारो में प्रतीहारेंदुराज, नमिसाध, जयरथ आदि ने तो स्पष्टतः प्रश्नोत्थापन-पूर्वक स्थिर किया कि अलकार का विचार अलकार्याधीन हो, तो ही अच्छा है और अलकार यदि शोभाकारी धर्म है तो अलंकार्य काव्य है—वह केवल शब्द रूप है अथवा शब्दार्थोभयरूप है—यह दूसरी बात है। इस प्रकार आनंदवर्द्धन से पूर्व अलकार शास्त्रियो की सौदर्य-विषयक धारणा यही है।

सर्जनापक्ष से प्रवाहित अलकार-गर्भा सरस्वती का नवोत्थान कुन्तक एवं भोज में विचित्र रूप से होता है। भामह के अलकार का मालवा में भोज द्वारा तथा वक्रोक्ति का काश्मीर मे कुन्तक द्वारा बड़ा ही व्यापक रूप दिखाई देता है। वक्रोक्तिकारने यद्यपि अलंकार एवं अलंकार्य को वैयाकरणो के वर्ण, पद, वाक्य की भाँति अलग-अलग नहीं माना है, पर फिर शिक्षक की दृष्टि से समझाने के लिए भिन्न-भिन्न कल्पित कहा है और कहा है—"उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः' 'अर्थात् शब्द एवं अर्थ अलंकार्य है और उनकी अलंङ्कृति वक्रोक्ति है। इन्होने भी वामन की भाँति इस शब्द का उन्हीं दोनों अर्थो (शरीरधर्म तथा शरीर) में प्रयोग किया है। इस प्रकार यद्यपि ये भी अलंकारवादी हुए है फिर भी प्रागानंदवर्द्धन आलंकारिको से कई माने में भिन्न है। यद्यपि इन्होने काव्य में एक ही प्रकार का शब्द और अर्थ-वाचक और वाच्य कहा है, फिर भी उसमें लक्षक-व्यञ्जक सब सिमटे हुये है। दूसरे यह कि वक्रता के अन्य रूपो में रस की महत्ता अधिक स्वीकार की है। रस के संस्पर्श से लोकोत्तराह्लादकारिवैचित्र्य रूपवक्रता जैसी उन्मीलित हो सकती है वैसी अन्यविध उपादेय तत्त्वो से नही। खटकने की बात इतनी ही है कि सभी उपादेय तत्त्वो गुणालंकाररीतिरस सधि संध्यंग

इतिवृत्तादि को वक्रता में अंतर्भूत कर उसे आत्मस्थानीय बनाकर तरतमभावापन्न तत्त्वो को भी आत्मा के समान स्तर पर प्रतिष्ठित कर दिया है। इतना अन्याय एक सहृदय आचार्य को असह्य था। इसीलिए उन्होंने विविध वक्रताओ में तरतम की भी बात कही-कही कर दी है। वस्तुतः आनंदवर्द्धन के मत की तब तक प्रतिष्ठा हो चुकी थी, ग्रहण पक्ष से भी विचार हो चुका था और वह पर्याप्त प्रभावशाली भी था। अतः सबका समन्वय करने वाला, सबको आत्मसात् करके चलानेवाले इस सम्प्रदाय में कुछ बेडोलपन आ गया। वैसे कुन्तक ने यदि अलंकृति- वक्रोक्ति को कहा—तो वह उक्ति-गत-वक्रता साधारण उक्ति की अपेक्षा 'कुछ और' ही है। यही काव्य का सौंदर्य है और समस्त काव्योय उपादेयतत्त्व उसके उपकरण है और अलंकार्य या आश्रय काव्य है। इसके अलंकार्य शब्दार्थोभयात्मा काव्य में आनदवर्द्धन भी छिपे है। इस प्रसंग में ध्यान रखने की बात हैं कि महिमभट्ट ने इनकी वक्रता को व्यञ्जकता का पर्याय सिद्ध किया है।

वक्रता की भांति अलकार शब्द को भोजराज ने विभुता प्रदान की और दण्डी को अनुकृत करते हुए इन्होंने भी काव्य के समस्त उपादेय तत्त्वो को अलंकार कह दिया—गुण को, अलंकार को, रस को, संधि सध्यङ्ग एवं प्रबधतत्त्वो को भी। फिर भी ग्रहण पक्ष के आचार्यो के प्रभाव ने इनसे भी कहवा लिया— "सर्वासुग्राहिणीं तासु रसोक्ति प्रतिजानते।" वस्तुतः इन दोनों आचार्यों पर दोनों पक्षों की सौंदर्य-धारणा का प्रभाव है।

काव्य की सर्जनात्मक प्रक्रिया को ध्यान में रखकर की गई सौंदर्य-विषयक-धारणा की संक्षिप्त चर्चा के पश्चात् अब ग्रहणपक्ष से विचार करने वालों आचार्यों की सौदर्य-विषयक-धारणा का भी दिग्दर्शन कर लेना चाहिये। इसके वाद को 'रसवाद' के भीतर रख लेना अनुचित न होगा। "काव्यस्यात्मा स एवार्थः" द्वारा इनका यही उद्घोष है कि काव्य की आत्मा वस्तुतः रस ही है। पर एतदर्थ व्यञ्जना की स्थापना, तथा प्रतीयमान का महत्त्व स्थापन भी इनके बौद्धिक सरम्भ का विषय है। सर्जन-पक्षीय-विचारको का विरोध करते हुए इन्होंने ध्वन्यालोक तृतीय-उद्योत मे चारुता, उसके उपकरण एवं आश्रय का विचार किया है। वहाँ बड़े तर्क-वितर्क से सिद्ध किया गया "शब्द विशेषाणामत्र चान्यत्र च चारुत्वं यद्विभज्योपदर्शितं तदपि तेषां व्यञ्जकत्वेनैवावस्थितमित्यवगन्तव्यम्"—अर्थात् शब्दो या अर्थों में जो चारुता यहाँ या वहाँ कहीं भी प्रतीत होती है, जिसकी चर्चा अलंकारवादियो एवं रसवादियों ने की है—उसका निमित्त शब्द गत व्यञ्जकता है, अलंकारवादियों की भांति

वाचकता और लक्षकता मात्र नहीं। नियमतः जहाँ व्यञ्जकता रहेगी वहीं चारुता रहेगी, उसी के कारण काव्य में विदग्ध-ग्राह्यता आ सकती है। इनके मत से वामन के प्रतिरूप सूत्र बनाये जायँ तो कहा जा सकता है—"चारुत्वं व्यञ्जकत्वाश्रयि" "काव्य ग्राह्यं व्यञ्जकत्वात्" "तच्च प्रतीयमान सापेक्षम्।" अर्थात् शब्द एव अर्थ में चारुता या सौंदर्य इसलिए प्रतीत होता है कि वे व्यञ्जक हैं। व्यञ्जकता प्राचीनों के गुण एव अलकार की भाँति शब्दार्थ का सहज धर्म नही है, प्रत्युत प्रतीयमान-सापेक्ष होने के कारण आरोपित है। व्यञ्जक शब्दों में ही चारुता होती है—इसीलिए तट, तटी एवं तटम् वाच्यार्थ की दृष्टि से समान होने पर भी "तटी तारंताम्यति" में 'तटी' शब्द को ही ग्रहण किया गया—उसमें स्त्रीलिंग बोधक प्रत्यय मधुर-पदार्थ को व्यञ्जित करता हुआ उस शब्द मे व्यञ्जकत्व-निमित्तक चारुता का आधान करता है। इस प्रकार जहाँ अलंकारवादी शरीर-धर्मों से शरीर गत सौंदर्य का स्थापन करते थे—वहाँ इन लोगो ने आत्म स्थानीय प्रतीयमान के सस्पर्श से काव्य में सौंदर्य की प्रतिष्ठा की। वाचक एवं लक्षक शब्दों में, जैसा कि प्राक्तन आलकारिक मानते थे, चारुता नहीं हो सकती। अभिधावादी आचार्यों की ओर से तर्क देते हुए आनंदवर्द्धन ने कहा कि वे लोग कह सकते हैं कि वह चारुता जो गुणालकार-निरपेक्ष है—और फिर भी कुछ लोगो को मालूम होती है और उसी कारण वे सहृदय अथवा विदग्ध कहे जाते है—तो यह चारुता वस्तुः या काव्य गत-धर्म नहीं, बल्कि कोई अपूर्व वस्तु है, व्यक्ति निष्ठ वस्तु है—कल्पित वस्तु है—जो तथाकथित गोष्ठी बाँधे हुए सहृदयों को ही मालूम होती है। इसका उत्तर देते हुए उन्होने 'सहृदयता' की बड़ी ही रुचिकर व्याख्या दी है। उन्होने दो विकल्प खड़े किये है कि क्या सहृदय सहृदय इसलिये कहा जाता है कि वह एक अपूर्व-रस भाव-निरपेक्ष वैयक्तिक रुचि-प्रसूत तत्त्व का ग्रहण करता है अथवा इसलिए सहृदय कहा जाता है कि वह रसिक जन-मात्र द्वारा अविसवादी रूप में तरतमभाव के बावजूद सजातीय रसतत्त्व का–प्रतीयमान तत्त्व का ग्रहण करता है ? यदि पहला पक्ष स्वीकार किया जाय तो चारुता वैयक्तिक-समय-गोचर कही जायगी—जो प्रातीतिक या प्रातिभासिक होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति को विभिन्न रूपो में गृहीत होगी–और अव्यवस्थित होगी। इसलिए दूसरा पक्ष ही ग्राह्य होगा अर्थात् सहृदय की सहृदयता यह है कि वह रस-भाव-निरंतर काव्य-स्वरूप के परिज्ञान मे निपुण हो–रसज्ञ हो। यही रसज्ञता ही सहृदयता है। इस प्रकार ये सहृदय जिस रस की प्रतीति करते हैं—उसके सपर्क से ही काव्यीय पदार्थों में चारुता आती है। यह रसमयता-रसव्यञ्जकता—व्यञ्जकता ही है—

जो चारुता या सौंदर्य का प्रत्यय कराती है। जिसमें रसग्रहणानुकूल संस्कार नहीं, उन्हें रसासिक्त काव्यीय एव नाट्यीय पदार्थ आकृष्ट नहीं कर सकते, वे उन्हें सु दर नहीं लग सकते। इस प्रकार यद्यपि उन्होंने आरम्भ में चारुता का निमित्त व्यंग्यव्यञ्जक भाव को ही माना है तथापि अत में यही कहा है-"रसादिमयकाव्येऽस्मिन् कविः स्यादवधानवान्" अर्थात् यहाँ रसादिमयता पर बल दिया है। काव्यगत मौलिकता, नितनूतनता लानेवाली रमणीयता का विचार करते हुए यही कहा है—'सर्वे नवा इवाभान्ति काव्ये रसपरिग्रहात्।" इस प्रकार यह रस या प्रतीयमान अर्थ ही है–जो काव्य में चारुता लाता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी कहा है कि 'न ह्यनामृष्टप्रतीयमानोऽर्थः स्वतश्चमत्कारमाधातु शक्नोति' उनकी रमणीयता एवं इनकी चारुता में बहुत कुछ साम्य है। उन्होंने रमणीयता को लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता को—वह अर्थ गत तत्व कहा है जिसके ज्ञान से लोकोत्तर आह्लाद की अनुभूति हो। कुन्तक ने अपनी वक्रता के लिये भी कहा–लोकोत्तराह्लादकारिवैचित्र्यमेव वक्रोक्तिः। यह रमणीयता, प्रतीयमानता, वक्रता, चारुता या लावण्य की भाँति काव्य में कवि-प्रतिमा-द्वारा निषिक्त एवं सहृदय की भावयित्री प्रतिभा द्वारा गृहीत 'कुछ और' ही तत्त्व है—फिर भी यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो इनमें अन्तर मिलेगा। निष्कर्ष यह कि रसवादियो या ध्वनिवादियो की दृष्टि से चारुता या सौंदर्य काव्यीय सामग्री में है—प्रतीयमान से संबद्ध होने के कारण वह गृहीत होता है अथवा उन सुन्दर पदार्थों के कारण रसमयता का अनुभव होता है। सुन्दर से रसमयता और रसमयता से सुन्दर के अन्योन्याश्रयत्व पर विचार विचार करने के लिए दर्शन में प्रवेश अपेक्षित है। यहाँ वह गाथा अनावश्यक है। इस प्रकार जो चारुता पहले गुणालंकार के कारण वस्तुगत प्रतीति होती थी—वह अब व्यञ्जकता के कारण स्थिर हुई—जो पहले सहज धर्म के कारण थी वह अब आरोपित धर्म के कारण आई, जो पहले वाचक एवं लक्षक गत थी वह अब व्यञ्जक गत हुई। पर रही काव्य-वस्तु गत ही। आज रसमयता से कुछ विचक्न होने पर भी ध्वनिसिद्धान्त से विद्वेष नहीं है।

इस पक्ष में दार्शनिक दृष्टि से एक बड़ा विवाद खड़ा हो सकता है कि आनंदवर्द्धन, अभिनव एवं (कुन्तक) आदि काश्मीरी आलकारिको पर आइडियलिस्ट अद्वैतशैवागम का प्रभाव है और इस दृष्टि से सौंदर्य को व्यक्तिनिष्ठ तत्त्व मानना चाहिए। इस विवाद के उठने पर किसी निष्कर्ष तक पहुँचने के पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि पारमार्थिक सत्य की भाँति सौंदर्य भी तीन प्रकार का है—पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातीतिक या प्रातिभासिक।

निरपेक्ष सौंदर्य पारमार्थिक है। सस्कार सापेक्ष सौदर्य व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक है। यह संस्कार ही है जिसके कारण हम प्रत्येक वस्तु को विभिन्न नाम-रूप देकर भेद की स्थापना करते हैं। बौद्धो ने ऐसी प्रतीति को विकल्पात्मक असत्य कहा, तो कहते रहें—उनका खण्डन भी यह कहकर हुआ कि यदि व्यक्तिगत संस्कार या विज्ञान का परिणाम है। बाह्यप्रतीति तो भ्रमात्मकस्थल की प्रतीत वस्तु की भाँति बाह्यवस्तु का साक्षात्कार सबको अविसंवादी रूप से नहीं होना चाहिए, जबकि होता है। अतः मानना पड़ेगा कि कम से कम वे व्यावहारिक जगत् की ठोस वस्तु है। अविसवादी रूप से प्रतीत मात्र व्यावहारिक सत्य हैं। इस प्रकार गुलाब का सौंदर्य वस्तुगत सौदर्य है—व्यावहारिक सौंदर्य है। काव्य के रमणीय या सुन्दर पदार्थ यदि तरतम के वावजूद एक जातीय रूप से गृहीत होते हैं—तो उन्हे उतनी दूर वस्तुगत एवं व्यावहारिक मानना ही पड़ेगा। यदि रसमयता के उद्बोधक सुन्दर पदार्थों का सहृदयमात्र जहाँ एक जातीयरूप मे ग्रहण करते है तो वहाँ उतनी दूर तक वह सौदर्य वस्तुगत है—और वहाँ का तरतम अपने संस्कार या वैयक्तिकता का फल है। यह सौदर्य एकदम व्यक्तिनिष्ठ तब कहा जा सकता जब घिनौने बालक के उस सौंदर्य की भाँति होता जो केवल ममत्व निधान उसके माता-पिता को अनुभूत होता है। भ्रमात्मक रज्जुसर्पकी प्रतीति केवल भ्रान्त को है–वह विज्ञानमय है, वह बाह्य है ही नहीं। फिर दूसरे के ज्ञान का मानस-प्रत्यक्ष जिस प्रकार दूसरे से असंभव है उसी प्रकार प्रातीतिक या प्रातिभासिक वस्तु भी यदि काव्यीय सौंदर्य प्रातीतिक होता तो निश्चित ही सबकी प्रतीति विसवादी होती। पर मिर्च की वस्तुगततिक्तता की भाँति शृंगार की सारी सामग्री सबको सुन्दर लगती है-का अर्थ यह है कि वह सौंदर्य काव्य- गत है। कहा जा सकता है कि वह काव्य का इन्द्रजाल है जो न रहती हुई वस्तु को दिखाता है–तो कहने को तो बुद्धि असीम एव अपरिमित है जो भी कहा जा सकता है।

———

साहित्य का स्वरूप : सौंदर्य के बदलते प्रतिमान

साहित्य के स्वरूप को विभिन्न युग एवं देश में रहनेवाले अनुरूप-संस्कार-संपन्न-साहित्यकारो ने स्पष्ट करने का प्रयास किया है, और उनके प्रयास अपने युग एवं देश के लिये सार्थक भी रहे हैं--पर विभिन्न युग एवं देश के अनुरूप परिवर्तनशील तत्त्वो को केंद्र में रखकर की गई परिभाषाएँ अपना शाश्वत महत्त्व नहीं रख पाती--इसीलिये वे सदा बदलती रहती हैं। वस्तुतः साहित्य के अंतर्गत दो प्रकार के तत्त्व है—परिवर्तनशील तत्त्व और अपरिवर्तनशील। अपरिवर्तनशील है—मानवीय अनुभूति और परिवर्तनशील है--व्यजक उपकरण। पहले को केंद्र में रखकर की गई परिभाषाएँ स्थायी होती है और दूसरे को ध्यान में रखकर की गई परिभाषाएँ अस्थायी। साहित्यकार द्वारा प्रायः दूसरे प्रकार के तत्त्व—जो देश युगानुरूप होते हैं—छोड़े नहीं जा सकते है। इसीलिये वे परिभाषाएँ अन्य देशयुगीन साहित्यकार और पाठक को सर्वांशतः स्वीकृत नही होतीं। फल यह होता है कि साहित्य के स्वरूप को समझाने का प्रयास निरतर होता रहता है और सभी प्रयास सार्थक होते हुये शाश्वत मूल्य नही रखते।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने साहित्य और काव्य को पर्याय भी माना है और उसका स्वरूप समझाते हुये शास्त्रीय विधि के दो पथ अपनाये गये है—व्युत्पत्ति एवं लक्षण। व्युत्पत्ति के माध्यम से साहित्य या काव्य का जो अर्थ उन्होंने निर्धारित करना चाहा है-वह इस प्रकार है। सहितयोः (शब्दार्थयोः) भावः—साहित्यम्—सहित के भाव को साहित्य कहा जाता है—सहित का भाव 'सहभाव' है। प्रश्न हो सकता है—सहभाव किनका ? उत्तर दिया गया है—शब्द एवं अर्थ का। पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत की जा सकती है कि शब्द एवं अर्थ का सहभाव तो काव्येतर वाङ्मय में भी संभव है। अतः 'साहित्य' का ही स्वरूप बोध तो इस व्युत्पत्ति से सभव नहीं है ? कदाचित् इसी जिज्ञासा का भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' से पर्याप्त समाधान न समझकर राजशेखर ने 'शब्दार्थयोः यथावत्सहभावः' कहा है—अर्थात् काव्येतर वाङ्मय में भी शब्द एवं अर्थ का सहभाव रहता है—पर वह यथावत् सहभाव नहीं होता—

असंतुलित होता है। व्यक्ति विवेककार महिम तथा उनके टीकाकार ने इसीलिये यह बताया है कि वाङ्मय तीन प्रकार का है—एक में शब्द का प्राधान्य होता है, दूसरे में अर्थ का प्राधान्य होता है और तीसरे में दोनो का समप्राधान्य होता है। पहली स्थिति वेद में, दूसरी पुराण में और तीसरी काव्य में सभव है। इससे स्पष्ट है कि राजशेखर के 'यथावत् सहभाव' का तात्पर्य शब्द एवं अर्थ दोनो के समान प्राधान्य से है। परन्तु फिर भी यह प्रश्न उठता है कि दोनो के समप्राधान्य का अभिप्राय क्या ? इसी का उत्तर कदाचित् कुन्तक ने यह कहकर दिया है कि काव्यीय सौंदर्य की उत्पत्ति में दोनो ही का परस्पर प्रतिस्पर्द्धी रूप में होड़ लगाकर सक्रिय रहना ही उनका समप्राधान्य है। इस प्रकार व्युत्पत्ति के माध्यम से साहित्य का जो अर्थ निश्चित किया गया वह यह है कि साहित्य उस शब्द एवं अर्थ के यथावत् सहभाव को कहा जाना चाहिए। जहाँ काव्यीय चारुता की निष्पत्ति में शब्द एवं अर्थ द्वारा पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा प्रदर्शित की गई हो।

इसी प्रकार काव्य की व्युपत्ति बताते हुये कहा गया है—कवेः कर्म काव्यम्। कवि का कर्म है काव्य। कवि का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है—वर्णयिता (कवृ वर्णने)। वर्णन करनेवाले का कर्म 'वर्णन' ही होगा—और 'वर्णन' शब्द तथा अर्थ के ही सहारे सभव है। काव्यात्मक वर्णन वही कहा जायगा, जिसके माध्यम से काव्योचित सौंदर्य निर्झरित हो। फलत. पूर्व निर्दिष्ट स्वरूप के पास ही इसके माध्यम से भी हम पहुँचते हैं।

इन दोनों शब्दो की व्युत्तियों के उल्लेख किये जाने के अनतर उस **कांव्योचित सौंदर्य** का भी प्रश्न उठाया जाना समुचित है। जिसके प्रकाशन के लिये शब्द एवं अर्थ में होड़ है। यह काव्योचित सौंदर्य निरपेक्ष है या सापेक्ष, विषयगत है या विषयीगत और कहीं भी हो तो उसका स्वरूप क्या है ? ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनका उत्तर दिये बिना साहित्य का स्वरूप-निर्वचन पूरा नहीं हो सकता। मेरा विचार यह है कि सौंदर्य निरपेक्ष भी है और सापेक्ष भी, इसीलिये विषयगत भी है विषयीगत भी। अध्यात्म में आस्था रखनेवाले परतत्त्व में निरपेक्ष—सौंदर्य की स्थिति मानते है, जिसके उद्घाटन में समस्त आलोक-काव्य निरत रहता है। इस स्तर पर सौंदर्य की स्थिति विषय एवं विषयी जैसे विभक्त आधार की अपेक्षा नहीं रखती। यहाँ तो वह उभयाश्रित होकर भी अनुभयाश्रित है। उभयात्मा होकर भी अनुभायात्मा है—यहाँ वही वह है। सौंदर्य का दूसरारूप 'सापेक्ष' है। सापेक्ष का अर्थ है—जहाँ 'सौंदर्य' की प्रतीति द्रष्टा के मानस-संस्कारो की मुखापेक्षी हो। अपने मानस-सस्कारो के अनुरूप पडनेवाली

वस्तु में आकर्षण होता है। फलतः उसे सुन्दर माना जा सकता है और विरूप पड़नेवाली वस्तु में विकर्षण या तटस्थता उत्पन्न होती है, फलतः उसे अनाकर्षक और असुन्दर कहा जाता है। सापेक्ष-सौंदर्य भी अद्वैत वेदातियो की परसत्ता की भाँति (निरपेक्ष या पारमर्थिक के अतिरक्त) व्यावहारिक और प्रातितिक या प्रातिभासिक दो प्रकार का हो सकता है। जिस वस्तु में सर्व सामान्य को 'सौंदर्य' प्रतीत हो वह सोदर्य 'व्यावहारिक' है। उसकी स्थिति विषय एवं विषयी—उभयाश्रित है, पर जिस वस्तु का सौदर्य व्यक्तिगत प्रतीत हो, उसे हम प्रातीतिक या प्रातिभासिक मानेगे और उसकी स्थिति हम केवल विषयीगत' स्वीकार करेंगे। उदाहरण के लिये एक सौंदर्य पाटल पुष्प का है। निश्चय ही प्रत्येक स्वस्थ द्रष्टा को उसमें सौंदर्य की उपलब्धि होगी। इसका सौंदर्य विषयगत भी है, पर साथ ही इस सौंदर्य की प्रतीति में द्रष्टा-गत जो तारतमिक अतर आता है—वह विषमीगत सस्कारो या विशेषताओ के कारण, अतः इतने अश में उसे विषयी-गत मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है। जिस सौंदर्य को मैने केवल विषयीगत या व्यक्तिगत (प्रातिभासिक) कहना चाहा है उसका उदाहरण वह घिनौना बालक है जो अपने माता-पिता को सर्वदा सुदर लगता है, अन्य लोग उसके रूप को देखकर तटस्थ हो सकते हैं या नाक-भौह सिकोड़ सकते हैं। निश्चय ही वहाँ का व्यक्तिगत सौंदर्य वस्तु-गत नहीं है, नही तो वह मिर्च की तिक्तता की भाँति सर्वसाधारण को अनुभूत होती ; फलतः उसे द्रष्टा के मानस का ही उसमें निहित सस्कारों का ही वैशिष्ट्य समझना चाहिये। कुछ वस्तुमुखी-चितक मेरे द्वारा निरूपित सौंदर्य के त्रिविध रूपो के विरोध में यह कह सकते है कि सौंदर्य न तो निरपेक्ष होता है और न विषयी-गत। वह तो सर्वथा विषयगत ही तत्त्व है। इनमें से जहाँ तक सौंदर्य के निरपेक्ष-पक्ष का सबंध है वह दार्शनिक विवाद और आस्था का विषय है अतः इस विवाद को न उठाकर मै इतना ही कह सकता हूँ कि इसके मूल में भी अपने-अपने संस्कार है—विषयीगत वैशिष्ट्य है। हाँ यदि सौंदर्य के 'सापेक्ष' रूप वाले पक्ष के दोनो भेदों के संबंध में यदि कोई 'व्यावहारिक' सौंदर्य को केवल विषय-गत और प्रातीतिक सौंदर्य को विषयगत न होने से अनस्तित्ववान् मानना चाहता है तो उससे यह पूछा जा सकता है कि व्यावहारिक सौंदर्य में द्रष्टाओं की प्रतीति में जो मात्रा भेद होता है उस प्रतीति-सिद्ध सौंदर्यगत मात्राभेद का मूल कहाँ निहित है वस्तु में या विषयी में ? निश्चय ही यह मात्रा भेद सौंदर्य के प्रतीति-पथ मे उतर आने के बाद उत्पन्न हुआ है और 'प्रतीति' आंतर ही होगी—मात्राभेद भी इसीलिए

आतर अर्थात् विषयीगत ही होगा। पुनः प्रश्न हो सकता है कि यह मात्राभेद 'प्रतीति' गत है या विषय-निष्ठ सौंदर्य-गत ? अर्थात् है यह मात्राभेद प्रतीति-गत ही, पर उसे वस्तु निष्ठ-सोंदर्य में आरोपित कर दिया जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि वह वस्तुतः सौंदर्य-गत ही है—इसके उत्तर में मै यह कह सकता हूँ कि प्रतीति द्वारा सौंदर्य की अधिक और कम अनुभूति होती है या निर्विषय प्रतीति की ही ? यहाँ बहुत ही स्पष्ट सी बात है कि यह मात्रा भेद प्रतीत-सौंदर्य में है प्रतीति मे नही। मात्राभेद का साधन ही प्रतीति है आधार नहीं। निष्कर्ष यह कि प्रतीत-सौंदर्य का 'व्यावहारिक' सत्व विषय और विषयी उभय-सापेक्ष है। दूसरी बात यह भी है कि वस्तु स्वतः न तो सुदर है और न असुंदर—यह तो द्रष्टा है जो अपनी प्रतीति से सम्पर्क स्थापित करके उसे सुंदर या असुदर कहता है—इस स्थिति में विषयी की महत्ता सर्वथा उपेक्षित किस प्रकार हो सकती है ?

रही बात प्रातीतिक या प्रातिभासिक अर्थात् केवल विषयीगत सौंदर्य की स्थिति की—वस्तुवादी इसे मानने में ही हिचकेंगे और उसकी कहीं भी स्थिति ही स्वीकार नही करेंगे। लेकिन प्रतीति का अपलाप तो नहीं किया जा सकता। इतना निश्चय ही सिद्ध है कि घिनौने बालक में उसके माता-पिता को सौंदर्य दिखाई पड़ता है तभी तो वह उसकी ओर आकृष्ट होता है। इस प्रसग को स्पष्ट करने के लिए एक छोटा सा उदाहरण प्रस्तुत करना अनावश्यक न होगा। उदाहरण यह है कि किसी बड़े आदमी ने कुछ खाने की वस्तु अपने नौकर को दिया और कहा कि पाठशाला में जाकर इस पदार्थ को वह उस लड़के को दे जो सर्वाधिक सुंदर हो। बड़े आदमी का ख्याल यह था कि वह लड़का उसी का होगा ही जो उसे सर्वाधिक सुंदर लगता था। परन्तु उसके आशा के विपरीत नौकर ने काफी अच्छी तरह देखभाल करने के अनंतर उस मिठाई को अपने ही लड़के को दिया क्योंकि वही उसे सर्वाधिक सुदर जान पड़ा। अब, इस उदाहरण से क्या निष्कर्ष निकाला जा सकता है—यही न, कि इन स्थलो का सौंदर्य समानरूप से सर्वजन सवेद्य न होकर व्यक्ति-विशेष सवेद्य है। इस सौंदर्य को मानना तो पड़ेगा ही क्योंकि वह प्रतीति सिद्ध है—सवाल, अब केवल यह खड़ा किया जा सकता है कि उस सौंदर्य की स्थिति कहाँ है वस्तु में या व्यक्ति में, दृश्य में या द्रष्टा में ? दृश्य में यदि होती तो सबको प्रतीत होती—पर ऐसी बात है नहीं। अतः अवश्य स्वीकरणीय 'सौंदर्य' की स्थिति को 'बाह्य' न होने पर 'आंतर' ही मानना पड़ेगा व्यक्तिगत प्रतीति का ही विषय मानना पड़ेगा, व्यक्तिनिष्ठ ही स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार सौंदर्य के प्रातीतिक पक्ष को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।

इसप्रकार सौंदर्य के त्रिविध रूपों का निरूपण हो जाने के अनंतर भी देखना यह है कि काव्योचित सौंदर्य या रमणीयता इनमें से सब तरह का सौदर्य है या किसी एक खास तरह का ? व्यावहारिक धरातल के 'सौंदर्य' से काव्यीय धरातल का 'सौंदर्य' एक है या भिन्न ? वस्तुतः काव्यीय सौंदर्य या आस्वाद को जहाँ एक ओर 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहकर 'ब्रह्मानद' या 'निरपेक्ष सौंदर्य' से भिन्न कहा गया है वही दूसरी ओर उसका सर्वसामान्य से संबध बनाकर 'प्रातीतिक' या 'प्रातिभासिक' जैसे वैयक्तिक सौंदर्य से भी उसे पृथक् कर दिया गया है। आनंद वर्द्धन एवं अभिनव गुप्तपाद ने ध्वन्यालोक लोचन में काव्यास्वाद या काव्यासौंदर्य के इस व्यक्तिपक्ष का निराकरण किया है (देखिए तृ० उ० व्यञ्जकत्वाश्रित सोदर्य की स्थापना चौ० स० पृ० ३५९) और कहा कि वह काव्यसौंदर्य व्यक्तिमात्र संवेद्य नहीं, बल्कि सहृदयसामान्य सवेद्य है। व्यक्ति-व्यक्ति का सवेद्य मानकर उस काव्य सर्वस्व को विवादास्पद बना दिया जायगा—अर्थात् हर व्यक्ति का अपना सौंदर्य प्रतिमान अलग-अलग हो जायगा—जैसा कि आज के व्यक्तिवादी नये-नये सौदर्य बोध के चक्कर में पड़कर कहीं भी एकमत नहीं हो रहे हैं। अनैकमत्य अव्यवस्था और अस्थिरता का जनक है। इस प्रकार 'व्यावहारिक-सौंदर्य' बच रहता है—ऐसा 'सौंदर्य' विचारणीय कोटि में आ बचता है जिसकी प्रतीति मनुष्य सामान्य को (किञ्चत् मात्रा भेद छोड़कर) गुणात्मक दृष्टि से एक प्रकार की होती है।

इसके पहले कि 'व्यावहारिक सत्ताक सौंदर्य' के व्यावहारिक और काव्यीय धरातल में कोई भेद है या नहीं—काव्य के सौंदर्य के विषय में प्रातीतिक पक्ष से किये गये अन्यदीय विचारो को भी देख लेना होगा। कुछ लोग मानते हैं कि काव्य सौंदर्य या काव्यास्वाद 'प्रातीतिक' ही है। कारण, उसकी सत्ता 'प्रतीति' मूलक और प्रतीति समकालिक ही है। प्रतीति काल तक ही अपनी सत्ता को सीमित रखने वाले पदार्थ 'प्रातीतिक' कहे जाते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी काव्यास्वाद को अन्य प्रातीतिक पदार्थों की भाँति 'साक्षिभास्य' माना है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि ये विवेचक काव्यास्वाद या रसमयता को प्रातीतिक कहना चाहते है क्योंकि वह न तो प्रतीति से पूर्व है और न प्रतीति समाप्ति के बाद ही। पर मैं जिसे प्रातीतिक स्तर से हटाना चाहता हूँ—वह है 'काव्योचित सौंदर्य' न कि 'रसमयता'। यहाँ यह सवाल खड़ा किया जा सकता है कि 'रसमयता' और 'काव्यसौंदर्य—एक हैं या अनेक, परस्पर पर्याय हैं या नहीं ? मेरा खिंचाव उस ओर है जो लोग यह मानते हैं कि काव्योचित सौंदर्य और काव्यानंद पृथक्-पृथक् हैं। वस्तुतः 'सौंदर्य' और

'आनंद' में जन्य जनक भाव संबंध स्वीकार किया जाना चाहिए और किया भी गया है। पंडितराज ने 'रमणीयता' या सौदर्य' को लोकोत्तराह्लाद की जनक सामग्री में ही स्वीकार किया है। पश्चिम के स्वच्छन्दतावादी मनीषियो में से वर्ड्स-वर्थ आदि ने भी 'ब्यूटी' एवं 'प्लेजर' मे अतर माना है और कहा है कि प्रथम प्रथम वस्तु-दर्शन से 'सौदर्य' का ही ग्रहण होता है और बाद में सौदर्यानुभूति के परिणाम रूप में आनदात्मक मानस प्रतिक्रिया होती है। आनंद बर्द्धन ने तो 'चारुता' या 'सौदर्य' का निमित्त 'रसमयता' को कहा है—अर्थात् दोनो परस्पर एक दूसरे के मुखापेक्षी है—जो हो, पर दोनो में कार्यकारण का सा संबंध होने से दोनो भिन्न अवश्य है और जब दोनो भिन्न है तो काव्यानंद के प्रातीतिक भी होने से काव्य सौदर्य भी 'प्रातीतिक' ही हो यह आवश्यक नही। पुनः विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि यदि दोनों परस्पर सापेक्ष है तो जहाँ एक की स्थिति होगी वहीं दूसरे की भी स्थिति होगी। इसके सबंध में यह कहा जा सकता है काव्यानद काव्य-सौदर्य सापेक्ष अवश्य है पर काव्य सौदर्य या काव्यीय रमणीयता केवल वहीं नहीं कही जा सकती—जहाँ भावोद्रेक वश काव्यानंद की स्थिति आती है। अलकार प्रधान काव्य में काव्यीय सौदर्य है पर भावोद्रेकवश होने वाला काव्यानंद नहीं है—वहाँ कुछ विशेष प्रकार का काव्योचित बौद्धिक चमत्कार है। पडित-राज के लोकोत्तराह्लाद की सीमा मे भावोद्रेक वश उत्पन्न आह्लाद तो है ही काव्योचित अन्यविध चमत्कार भी है। इसलिये यह नियमतः नही कहा जा सकता है कि जहाँ काव्य सौन्दर्य है वहाँ 'भावोद्रेक-संभूत-काव्यानंद' है ही।

'काव्योचित सौन्दर्य' काव्यीय सामग्री द्वारा प्रायः प्रत्येक सहृदय पाठक को मात्राभेद को छोड़कर गुणात्मक प्रकृति में एक प्रकार का ही गृहीत होता है। इसलिये इस 'काव्योचित सौन्दर्य' को उन 'प्रातीतिक सत्ताक' वस्तुओं की कोटि में नहीं रखा जा सकता जो व्यक्तिमात्र सवेद्य होती हैं। भ्रम एवं स्वप्न के पदार्थ प्रातीतिक सत्ता रखते है। क्योकि एक तो वे प्रतीतिकालमात्र संवेद्य होते है और दूसरे यह कि वे प्रतिव्यक्ति भिन्न होते है। एक ही समय में अनेक लोग उससे संवद्ध गुणात्मक प्रकृति का समान अनुभव नहीं कर सकते। इस दृष्टि से किसी वस्तु की सत्ता को प्रातीतिक मानने के लिये जो दो उपर्युक्त शर्तें बताई गई है, उनमें से काव्योचित सौन्दर्य के सम्बन्ध में वे दोनो शर्तें लागू नही हो पाती। इसीलिये मेरी तो यही स्थापना है कि काव्योचित सौन्दर्य को व्यावहारिक सत्ताक सौन्दर्य के धरातल पर रखना चाहिए।

यहाँ एक यह प्रश्न खड़ा होता है कि हम जब काव्योचित सौन्दर्य को

व्यावहारिक सत्ताक सौन्दर्य के धरातल की वस्तु मान लेते हैं, तब लौकिक और काव्यीय सौन्दर्य का अन्तर क्या होगा ? क्या दोनों एक ही प्रकार की वस्तुएँ होगी या भिन्न प्रकार की ? निश्चय ही वे दोनो भिन्न प्रकार की वस्तुएँ है। यदि लौकिक सौन्दर्य एव तज्जन्य आनद प्रायः समस्तजन सवेद्य है तो काव्यीय सौन्दर्य एव तज्जन्य आनन्द सहृदय सामान्य सवेद्य है। ग्राहक की दृष्टि से ही नहीं—उनकी गुणात्मक प्रकृति में भी भेद है। चर्निस्वेस्की जैसे कुछ लोग भले ही कहें कि भाजनजन्य आनन्द एवं काव्यीय आनन्द में कोई अन्तर नहीं है। पर इस साम्य को साहित्यिको का ससार कभी एकमत से स्वीकार नहीं कर सकता। लौकिक दृष्टि से उन वस्तुओ में भी सौन्दर्य एवं तज्जन्य आनन्दानुभूति हो सकती है, जो भौतिक बुभुक्षा, रागद्वेषमूलक बुभुक्षा को शांत कर सकती हैं, पर उसको काव्यस्तरीय नहीं कह सकते। पहला रागद्वेष से परिवद्ध दृष्टि से गृहीत सौन्दर्य है दूसरा रागद्वेष से उन्मुक्त दृष्टि से गृहीत सौन्दर्य है। पहला 'स्वपरभान' नियन्त्रित दृष्टि का दृश्य है दूसरा स्वपरभावनिर्मुक्त दृष्टि का दृश्य है। पहला मानस विकार बढ़ाने का कारण हो सकता है, असतुलन पैदा कर सकता है जब कि दूसरा मानस परिष्कार का कारण है, सतुलन का विधायक है। इसीलिये काव्योचित सौन्दर्य को व्यावहारिक संत्ताक मानते हुये भी इतना अन्तर स्वीकार ही करना पड़ेगा कि सौन्दर्य की लौकिक एवं काव्यीय प्रकृति में अन्तर है।

इस प्रकार व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्राचीन आचार्यों ने साहित्य का स्वरूप निर्धारित करते हुये कहा है कि **साहित्य काव्योचित सौन्दर्य के उन्मीलन में परस्पर प्रतिस्पर्द्धी शब्द एवं अर्थ का सहभाव है।**

व्युपत्ति के अतिरिक्त प्राचीन आचार्यों ने परिभाषाओ का सहारा लिया है। भामह ही नहीं, भरत से भी देखना आरंभ करें और पंडितराज तक की परिभाषाओं को देखें तो बहुत ही स्पष्ट जान पड़ता है कि इन आचार्यों के दो दल हैं—एक दल विशिष्ट प्रकार के 'शब्द' को ही काव्य कहना चाहता है और दूसरा वर्ग, विशिष्ट प्रकार के 'शब्द एवं अर्थ'—दोनों को ही काव्य कहना चाहता हैं। कुछ श्रद्धेय विद्वानो ने संस्कृत आचार्यों की परिभाषाओं को दूसरे ढंग से विभाजित करना चाहा है। वे मानते हैं कि संस्कृत की परिभाषाओं में कुछ वहिरग निरूपिका और कुछ अतरंग निरुपिका है। अपने विभाजन की पुष्टि में वे लोग यदि पहले के उदाहरण में काव्य प्रकाशकार का 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' को प्रस्तुत करते हैं तो दूसरे के उदाहरण रूप में 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' को। एक में दोषाभाव, गुण

एव अलकार जैसे बहिरंग धर्मों का समावेश बताते है तो दूसरे में 'रमणीयता' जैसे अतरंग धर्मों का। स्थूल दृष्टि से तो कोई विशेष आपत्ति इस वर्गीकरण में नही है, पर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह मानना पड़ेगा कि यदि पंडितराज ने अतरग धर्म को स्पष्टरूप से कहा है–तो प्रकाशकार ने साहित्यिक ढग से उस धर्म का सकेत दिया ही है। प्रकाशकार मानते हैं कि गुण एवं रस में अविच्छेद्य सबंध है–गुण रसाश्रित हैं। अतः काव्यत्व के लिये गुण की सत्ता को अपेक्षित बताकर उसके अनिवार्य आश्रय 'रस' की ओर भी इगित किया गया है। निष्कर्ष यह कि अतरग धर्म का सकेत यहाँ भी है। विश्वनाथ महापात्र के शब्दो में कहा जा सकता है कि प्रकाशकार जब गुण एवं रस का अविच्छेद्य संबध मानते है तब दोनो में से प्रमुख तत्त्व 'रस' का ही उल्लेख करते–गुण की स्थिति तो स्वयं व्यक्त हो जाती। कारण यह है कि जब दोनो अविच्छेद्य हैं तो एक की स्थिति से दूसरे का अस्तित्व भी अपने आप सुस्पष्ट हो जाता। पर प्रकाशकार ने ऐसा किया नहीं–इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्हें 'रस' जैसे अतरग धर्म का सत्त्व अभीप्सित नही था या कम से कम बहुत अपेक्षित नहीं था। ठीक है–पर इस तर्क से भी नहीं कहा जा सकता कि प्रकाशकार ने काव्य के अतरग धर्म का अनुल्लेख किया है। काव्य का अतरग 'रस' है और प्रकाशकार उस अतरंग धर्म का भी अतरग या धर्म 'गुण' को मानते हैं। फिर अतरग का अनुल्लेख कैसा? दूसरी बात यह है कि 'रस' एवं 'गुण' में से काव्य प्रकाशकार 'रस' के उल्लेख द्वारा 'गुण' की स्थिति पर प्रकाश न डालकर 'गुण' के उल्लेख द्वारा जो 'रस' पर प्रकाश डालते है–उससे वे कुछ और सूचित करना चाहते है। सूचित यह करना चाहते है कि 'रस' के रहने पर 'गुण' तो रह सकता है —पर गुणोचित वर्ण योंजना का होना अनिवार्य रूप से नहीं आ पायगा। यदि 'गुण' द्वारा 'रस' की ओर सकेत किया जायगा तो इससे एक ओर 'रस' की और दूसरी ओर गुणव्यञ्जकोचित शब्दयोजना की अनिवार्य स्थिति सिद्धि होगी। इस प्रकार निष्कर्ष यह रहा कि प्रकाशकार की परिभाषा में अतरंग धर्म का अभाव नहीं है। अतरग निरूपक एवं वहिरग निरुपक–जैसा विभाजन काम चलाऊ और स्थूलबुद्धि के पाठको के लिये तो ठीक है, पर वह तात्त्विक नहीं।

अस्तु! अब हमें देखना यह है कि विशिष्ट शब्द वाद एवं विशिष्ट शब्दार्थवाद का अभिप्राय क्या है? काव्य या साहित्य वाङ्मय का एक प्रकार है और वाङ्मय वागात्मक या वागर्थात्मक, शब्दात्मक या शब्दार्थात्मक है। वाङ्मय के काव्य या काव्येतर–समस्त रूप यदि श्रवण-गोचर होने के कारण

शब्दात्मक है तो बोध-विषय होने के कारण अर्थात्मक भी है। पाणिनि ने भी 'तदधीते तद्वेद'—सूत्र द्वारा यही बोधित कराना चाहा है। वाङ्मय अपने शब्दात्मकपक्ष से अध्ययन का और अर्थात्मक पक्ष से वेदन का विषय है। वाङ्मय की किसी भी शाखा का पूर्ण मर्मज्ञ वही कहा जा सकता है जो उसके दोनो पक्षो का ज्ञाता हो। इस प्रकार समस्त वाङ्मय को 'शब्दार्थात्मक' मानने का विचार परिनिष्ठित महर्षियो का भी रहा है। अतः केवल एक विशिष्ट प्रकार के 'शब्द' पक्ष पर जोर देनेवाले आचार्य—उसी को 'काव्य' का स्वरुप माननेवाले आचार्य बहुत-संगत नहीं है। यद्यपि अपने पक्ष की पुष्टि में इस वर्ग का प्रतिनिधित्व करनेवाले पडितराज जगन्नाथ ने कई तर्क दिये है। उन्होने 'काव्य' को इसीलिये तो शब्दात्मक मानना ही चाहा है कि वह 'सुना जाता' है और सुना 'शब्द' ही तो जायगा। इसलिये भी शब्दात्मक माना है कि 'कवि' शब्द जिस मूल धातु (कुङ् वर्णसे) से बना है उसका अर्थ भी शब्दात्मक वर्णन ही है। अतः कवि का कर्म शब्द-योजना है, और वही काव्य है। पर काव्य का संबध कवि और ग्राहक दोनों से है यद्यपि इस विषय पर भी पर्याप्त विवाद है कि कवि काव्य का निर्माण केवल आत्माभिव्यक्ति की दृष्टि से करता है या सप्रेषण की दृष्टि। परिनिष्ठित मत दोनो ही पक्षो का साहित्य या सामञ्जस्य मानकर चलने वाला है। इस प्रकार कवि के वर्णनापक्ष से ही काव्य के स्वरूप का विचार एकांगी है। उसे सर्वांगीण बनाने के लिये यह आवश्यक है कि ग्राहक को भी ध्यान में रखा जाय। ग्राहक की दृष्टि से शब्द के माध्यम से 'अर्थ' पक्ष का ही महत्त्व है। दूसरे यह कि 'रस' को काव्य का प्रशस्ततत्त्व माननेवाले सभी भारतीय आचार्य इसको स्वीकार करते है कि इसको निष्पत्ति में शब्द एवं अर्थ दोनो का समान महत्त्व है। अतः परिभाषा की दृष्टि से भी वही पूर्वोक्त स्वरूप काव्य का प्रतिष्ठित हो पाता है और वह यह है कि काव्योचित आस्वाद या सौदर्य को परस्पर प्रतिस्पर्द्धापूर्वक व्यक्त करनेवाले शब्द एवं अर्थ का सहभाव ही साहित्य है।

विशिष्ट शब्दवादी धारा का उदाहरण यदि पंडितराज का 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' है तो विशिष्ट शब्दार्थवाद का उदाहरण काव्यप्रकाशकार का 'तददोषों शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' है। एक में रमणीय अर्थ के प्रतिपादक "शब्द" को काव्य कहा गया है तो दूसरे में उस 'शब्द एवं अर्थ" को काव्य कहा गया है—जिनमें दोष का अभाव हो, गुण का सद्भाव हो और (रसात्मक स्थल में) यदि अलंकार का अस्फुट रूप से भी विधान हो तो कोई हर्ज नहीं। ध्यान से देखने पर यह भी पता चलता है कि इन दोनों वर्गों में भी अवान्तर विभाजन संभव हैं। दोनो ही वर्गों की परिभाषाएँ

सामान्य काव्य एवं विशिष्ट अथवा उत्कृष्ट काव्य को निरूपित करने के कारण दो प्रकार की हैं—सामान्य काव्य (उत्कृष्ट एव अपकृष्ट-सर्वतोगामी) की स्वरूप गत विशेषताओं को बताने वाली और केवल उत्कृष्ट काव्य का स्वरूप बताने वाली। वस्तुतः काव्य या साहित्य की विशेषताएँ-दो प्रकार की होती हैं-स्वरूपाधायक एवं उत्कर्षाधायक। केवल पहले पर ध्यान रखने वाली परिभाषाएँ काव्य मात्र (उत्कृष्ट एवं अपकृष्ट-सर्वविध) की परिचायिका होती हैं और उत्कर्षाधायक धर्मों का भी उल्लेख करने वाली परिभाषाएँ महज उत्कृष्ट काव्य का स्वरूप बताती हैं। पण्डितराज की परिभाषा केवल 'रमणीयता' का उल्लेख कर काव्यसामान्य के स्वरूप का परिचय देती है, पर प्रकाश कार ने दोषाभाव, गुण एवं अलंकार का सद्भाव भी आवश्यक बताकर उत्कृष्ट काव्य का ही स्वरूप बताया है। प्रकाशकार ने काव्य के जो प्रयोजन बताये हैं उनसे भी यही स्पष्ट होता है कि वे उत्कृष्ट काव्य की ही चर्चा कर रहे हैं। विशिष्ट शब्दार्थ वादियो में भामह की परिभाषा 'शब्दार्थौ सहितौकाव्यम्' सामान्य काव्य की है और प्रकाशकार की उत्कृष्ट काव्य की। इसी प्रकार विशिष्ट शब्दवादियो में यदि पंडितराज की परिभाषा काव्य सामान्य पर लागू होती है तो चद्रालोककार जय देव की उत्कृष्ट काव्य पर ही।

सक्षेप में प्राचीन भारतीय आचार्यों की यही परिभाषायें हैं और उनके मूल में यही दृष्टि। व्युत्पत्ति एवं परिभाषा के माध्यम से काव्य का जो परिनिष्ठित स्वरूप स्थापित होता है वह यही कि काव्योचित आस्वाद या सौंदर्य को परस्पर प्रतिस्पर्द्धा पूर्वक व्यक्त करने वाले शब्द एवं अर्थ का सहभाव ही साहित्य है।*

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय आचार्यों ने 'काव्यास्वाद'† एवं 'रमणीयता' अथवा 'काव्य सौदर्य' को केन्द्र में रखकर काव्य-स्वरूप का विचार किया है। हिंदी के मनीषियो में भी ऐतिहासिक क्रम से देखने पर तीन

---

* एस. के. डे साहब का भी यही निष्कर्ष है—

"Literature is not a liguistic expression, but beautiful expression, it indicates a certain poetic relation between the two, The Sahitya, therefore, is a certain charming commesurateness between content and expression and becomes synonimous with poetry."

†आनंद वर्द्धन एक तरफ 'काव्यस्मात्मा स (रसः) एवार्थः' कहते हैं, अभिनव इसे मानते हुए भी कहते है—चारुत्व प्रतीति स्तर्हि—काव्यस्यात्मा स्यात्—इति तदङ्गी कुर्म एव, नास्ति खल्वयं विवादः।

केंद्रीय तत्व मिलते हैं—काव्यास्वाद या रसानुभूति काव्यसौंदर्य (साध्यरूप में और साधन रूप में) तथा सह-अनुभूति। आधुनिक चिंतन का प्रौढ़ आरंभ यदि शुक्ल जी से माना जाय और काव्य-स्वरूप के सम्बन्ध में उनकी धारणा देखी जाय तो यह नितांत सुस्पष्ट हो जायगा कि उन्होंने काव्य स्वरूप निरूपण के केन्द्र में रसानुभूति को ही रखा है। उन्होंने अभिनव गुप्त के साथ 'प्रीति एवं व्युत्पत्ति' को काव्य का एकीभूत मूल लक्ष्य माना है, महिम भट्ट के साथ 'विभावादि सयोजनात्मा' कवि का कर्म स्वीकार किया है। शुक्ल जी ने कवि-कल्पना का चरम उत्कर्ष विभावादि के निरूपण में ही स्वीकार किया है। अध्यात्म क्षेत्र के ज्ञानयोग एवं भक्तियोग की भाँति काव्य के क्षेत्र में उन्होंने भावयोग स्वीकार किया है। आध्यात्मिक क्षेत्र में आध्यात्मिक साधना से जिस प्रकार आत्म-मुक्ति होती है आत्मा की मुक्त दशा होती है—शुक्ल जी ने काव्य-क्षेत्र में काव्योचित साधना से हृदय की मुक्त दशा स्वीकार की है और इसी हृदय की मुक्त दशा को वे रस-दशा मानते हैं। इसी रस-दशा का विधान करने वाली वाणी को वे काव्य सज्ञा देते हैं।

शुक्ल जी जहाँ एक ओर 'रस-निष्पत्ति' को काव्य का केन्द्रीय तत्व स्वीकार करते हैं और 'बृत्ति-परिष्कार' तक उसकी अनायास परिणति स्वीकार करते हैं—वहीं प्राचीन भारतीय आचार्यों से 'रस' संबधी धारणा में अनेक विध वैमत्य भी रखते हैं। इस वैमत्य का मूल आधार उनकी मनोविज्ञान-सम्मत दृष्टि है। 'रस' को स्थायी भाव का परिपुष्ट रूप दोनो ही स्वीकार करेंगे—पर 'भाव' की व्याख्यायें दोनों की भिन्न होगी, एक 'बृत्ति' मानेगा दूसरा 'बृत्ति चक्र' मानेगा। 'साधरणीकरण' की प्रक्रिया दोनों ही स्वीकार करेंगे—पर उसकी व्याख्यायें दोनों की सर्वथा एक नहीं होंगी, रसानुभूति में व्यक्तित्व (प्रमातापारिमित्य) की विस्मृति या विगलन दोनों ही मानेंगे—पर एक यदि काव्य-क्षेत्र तक ही रसानुभूति को सीमित मानेगा, तो दूसरा काव्य-जगत् ही नहीं व्यावहारिक जगत् तक उसे खींच ले जायेगा। माना कि 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः' तथा 'पुटपाक प्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः' "आदिकवेः शोकः" जैसी उक्तियाँ प्राचीन भारतीय आचार्यों की भी हैं—और ये तीनों यह सिद्ध करती हैं कि रसदशा काव्य-जगत से बाहर भी संभव है—तो भी एक तो इस स्थापना को राम एवं बाल्मीकि जैसे व्यक्तियों के अतिरिक्त सामान्य नायक में स्वीकार करना सर्व संमत पक्ष नहीं है और दूसरे यह कि प्राचीन भारतीय आचार्यों की 'रसात्मक प्रतीति के स्वरूप से और शुक्ल जी द्वारा स्वीकृत व्यापक तर रसात्मक प्रतीति में पर्याप्त अंतर है। शुक्लजी की दृष्टि में रस आनंदात्मक न होकर सुखदःखात्मक

कोटि का होता है–वैशिष्ट्य इतना ही है कि ग्राहक की निर्वैयक्तिकता और सामाजिकता के कारण वह क्षोभकारक नहीं होता और अन्यविध लौकिक अनुभूतियाँ वैयक्तिक होने के कारण क्षोभकारक होती हैं। पंडितराज ने भी सहृदयो के अनुभव को साक्षी मानकर 'करुण' को केवल आनंदात्मक या दुःखसंवलित आनदात्मक स्वीकार किया है–शारदातनय आदिकों ने भी इस तरह की बात कही है—तथापि जहाँ भारतीय प्राचीन आचार्य अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर अन्ततः आनंदात्मक परिणति ही स्वीकार करते है–आरम्भ में वह भले ही दुःखात्मक जान पड़े–वहाँ शुक्ल जी इसे निर्वैयक्तिक दुःख रूप स्वीकार करते हैं। एक बात और भी है कि जहाँ आचार्य शुक्ल रसानुभूति को मनोमय कोश तक ही मानते हैं–वहाँ प्राचीन भारतीय आचार्य उसे मनोमय ही नहीं, विज्ञानमय एवं आनंदमय कोश से भी ऊपर आत्मा की भूमिका तक ले जाते हैं। निष्कर्ष यह कि यद्यपि स्थूलतः काव्यास्वाद या काव्य सौंदर्य को काव्य का केन्द्रीय तत्त्व दोनों मानते हैं पर इस केन्द्रीय तत्त्व के मूल में निहित वैचारिक पृष्ठभूमि-दोनो की पृथक्-पृथक् है।

काव्य के स्वरूप के संबंध में शुक्ल जी की एक और उल्लेखनीय विशेषता है और वह यह कि वे संसार या लोक-जीवन को छोड़कर काव्य के स्वरूप को उसके अस्तित्व को सोच ही नहीं सकते। जो लोग संसार को छोड़कर सीधे आत्मा और काव्य का गठबधन करते हैं—उन पर तो वे झुँझला उठते हैं और उसी झुँझलाहट में वे यह भी कह जाते हैं कि अध्यात्म शब्द को तो काव्य से बाहर निकाल कर फेंक देना चाहिए। जीवन या लोकजीवन की आत्मा और काव्य के बीच से हटा देने वालों की रहस्यात्मक भावनाओं को वे साहित्यिक कनकौआ उड़ाना मानते है। निर्वैयक्तिक या सामाजिक भावभूमि के सौंदर्य से पृथक महज आलंकारिक सौदर्य को वे झुन-झुना का बचकाना सोदर्य मानते है। शुक्ल जी ने लोक जीवन को रीढ़ मानने के कारण ही यह कहा है कि यदि संसार सत्य की अभिव्यक्ति है तो काव्य अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार उन्होंने यदि अपने को किसी वाद के अन्तर्गत माना है तो 'अभिव्यक्तिवाद' के। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि शुक्ल जी का अभिव्यक्तिवाद अभिनव गुप्त के 'अभिव्यक्तिवाद' से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय आचार्यों से शुक्ल जी काव्य-स्वरूप के संबंध में तत्वतः पृथक् हो जाते हैं। प्राचीन आचार्य अलंकार काव्य भी मानते हैं—भले ही वह 'अधम काव्य' हो। शुक्ल जी ऐसी उक्तियों को जो ग्राहक को लोक हृदय में लीन करने का माध्यम नहीं है—क्या कहेंगे? इसी प्रकार जिन उक्तियों

द्वारा आत्मा का लोक जीवन से हट कर रहस्यात्मक भूमिका पर काव्य से संबंध व्यक्त हुआ है उनको भी वे काव्य की परिधि से निकाल बाहर कर देते हैं।

इसी के साथ एक अंतर और देखना चाहिये। रस का मूलाधार भाव है। शुक्ल जी 'भाव' की व्याख्या Emotion को ध्यान में रखकर करते हैं न कि प्राचीन आचार्यों द्वारा निरूपित 'भाव' (भावयति—इति भावः) को। मनोविज्ञान सम्मत 'भाव' एक वृत्ति चक्र है—जिसके भीतर बोध या ज्ञान, इच्छा या संकल्प, प्रवृत्त और लक्षण—ये चार मानसिक और शारीरिक वृत्तियाँ आती हैं (चिन्तामणि-अभि-यंजनावाद) भारतीय प्राचीन आचार्य सम्मत 'भाव' इससे भिन्न है।

मनोविज्ञान की ही दृष्टि से 'भाव' या 'रस' पर विचार करने का यह परिणाम हुआ कि अंततः उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा कि रस का कार्य मन में भावात्मक वेग उत्पन्न कर कर्म की ओर उन्मुख करना है (रस मीमांसा, पृ० २०) इस प्रकार रसमयी कविता को उसकी लक्ष्य सिद्धि में समर्थ बताया है। आनंद या आस्वाद काव्य का चरम लक्ष्य नहीं है—शुक्ल जी इसे माध्यम मानते हैं। इस प्रसंग में तुलना के लिए अभिनव गुप्त जैसे प्राचीन भारतीय आचार्य का मत जब हम देखते हैं—तो उनका अभिमत इस पंक्ति में दिखाई पड़ता है—'इह तु विभावाद्येव प्रतिद्यमानं चर्वणाविषयतौन्मुख्यम्''''''न च नियुक्तोऽहं करवाणि, कृतार्थोऽहमिति शास्त्रीयप्रतीति सदृशमदः—तत्रोत्तर कर्त्तव्यौन्मुख्येन लौकिकत्वात्''—अर्थात् शास्त्रीय एवं लौकिक प्रवृत्तियों से काव्यीय प्रतीति का यही अन्तर है कि जहाँ पहली में मानवीय वृत्ति केवल चर्वणा-विश्रांत होती है—चर्वणा की ओर ही उन्मुख होती है वहाँ दूसरी ओर कर्त्तव्य की ओर ही। अभिनव गुप्त ने तो स्पष्ट कहा है कि काव्य वाक्यो से किसी व्यापार बिषयक प्रवृत्ति या निवृत्ति नहीं होती—प्रत्युत कवि द्वारा अभिव्यक्त भाव या रस में रसिक के हृदय को विश्रांत कर देना ही काव्य का प्रमुख प्रयोजन है [काव्यवाक्येभ्यो हि न नयनानयनाद्युपयोगिनी प्रतीतिरभ्यर्थ्यते, अपितु प्रतीति विश्रांति कारिणी—साचाभिप्रायनिष्ठा एव, न तु अभिप्रेतवस्तु पर्यवसाना]।

प्राचीन आचार्यों से शुक्ल जी का ऊपरी साम्य काव्य-निरूपण के प्रसंग में की गई 'सौंदर्यानुभूति' की भी चर्चा से है। ऊपरी साम्य इसलिए कि शुक्ल जी मानते हैं कि 'सौंदर्य' सुंदर वस्तु से पृथक कोई तत्त्व नहीं—वह वस्तु निष्ठ ही है। 'सौंदर्य प्रतीति या सौंदर्यानुभूति, शुक्ल जी के अनुसार, हृदय

वाला तत्त्व काव्य का भावात्मक या काव्योचित सौंदर्य-पक्ष ही है और दोनों ही स्थितियों में उपर्युक्त ढंग से व्यक्तित्व का विगलन निर्माण एवं ग्रहण की दोनों ही भूमिकाओं में संभव है। अतः मेरी अपनी धारणा तो अब भी यही है कि काव्यास्वाद या काव्योचित सौदर्य को केन्द्र में रखकर परस्पर प्रतिस्पर्द्धी शब्द एवं अर्थ का हो जाने वाला सहभाव ही साहित्य है।

प्राचीन आचार्य और काव्य का व्यापक प्रतिमान

यद्यपि उपनिषदो का उद्‌घोष है कि आनन्द से ही समस्त भूतजात की उत्पत्ति है, आनन्द से ही सब जीवित हैं पुनः आनन्द[1] ही में समा जाते हैं और इसी आनन्दतत्त्व के लिये 'रसो वै सः'[2] कहा गया है इसलिये 'रस' की व्याप्ति से बाहर कुछ भी संभव नहीं है। यद्यपि आनन्दवर्द्धन ने यह प्रतिपादित किया है कि ऐसा कोई भी काव्य का प्रकार हो नहीं सकता, जहाँ इसका विषय[3] न हो और ऐसा होने में तर्क यह कि वस्तुशून्य काव्य नही हो सकता और यदि वस्तु है तो जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं होगी जो किसी रस या भाव का अंग न हो जाय और अन्ततः कोई अंग नहीं, तो विभाव तो अवश्य ही होगी। बात यह है कि रस एवं भाव आदि हैं क्या ? चित्तवृत्ति विशेष ही, फिर क्या कोई वस्तु ऐसी भी होगी जो किसी भी प्रकार की चित्तवृत्ति ही पैदा न करे और यदि नहीं करती, तो ऐसी वस्तु को कवि विषय क्यों बनायेगा ? दशरूपक[4]कार ने तो इनसे भी आगे बढ़कर यह कहा कि वस्तु की बात तो पृथक् है, कवि और भावक से भाव्यमान कोई अवस्तु भी ऐसी न होगी जो

१—आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनदेनाभिजीवन्ति, आनंदं प्रति अभिसंविशंति।

२—"तैत्तिरीय उपनिषद्"

३—यत्र तु रसादीनामविषयत्वं, स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येन

(पृ० ४६२ ध्व० लो०)

४—रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीचमुग्रं प्रसादिगहनं विकृतं च वस्तु।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके।

(४।८६ दशरूपक)

इस भाव को न प्राप्त कर सके और इस प्रकार यद्यपि भट्टनायक ने भी काव्य उसी को माना जिसका भाव्य 'रस' हो, महिम भट्ट ने एकमात्र अनुमेय 'रस' को ही काव्य का मूलतत्व मानकर एक ही प्रकार का काव्य स्वीकार किया—तथापि यह एक विचारणीय प्रश्न है कि व्यावहारिक और प्रायोगिक भूमि पर रसकी व्याप्ति को कहाँ तक मान्यता प्रदान की जाय।

कवियों ही नहीं महाकवियों की कृतियो को सामने रखकर तद्गत काव्य-व्यपदेशोपयोगी चारुता की भारवाहिता के निर्णय का प्रश्न भी भारतीय आचार्यों के सामने आया और तब प्रायोगिक दृष्टि से विचार करते हुये उनकी संतुलित दृष्टि अपने सैद्धातिक पक्ष के समर्थन में सतर्क हो गई। उनको लगा कि काव्य नामधारिणी समस्त कृतियाँ जिस लोकोत्तराह्लादकारिणी चारुता के कारण काव्य कही जाती है उस चारुता का मूल सर्वत्र रस ही नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि जहाँ तथाविध चारुता का मूल स्रोत रस है—वह रसवादी और ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ ठहरा। रसवादियो की 'रस-भूमि' को छोटा पड़ते देखकर ही ध्वनिवादियों ने उसे 'प्रतीयमान' तक खींचा और कहा कि सहृदय हृदयहारी काव्य का ऐसा कोई प्रकार नहीं है जिसे प्रतीयमान अर्थ के संपर्श का सौभाग्य न मिला हो। पण्डितराज ने भी इसी में स्वर मिलाते हुये कहा कि अनामृष्ट प्रतीयमान अर्थ में किसी प्रकार की चारुता नहीं होती। पर इस चारुता के लिये सर्वत्र रस ही अपेक्षित नहीं रहा है। काव्यव्यवहार के लिये सर्वत्र रस की अपेक्षा रखने वाले विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा कि विश्वनाथ का 'रस' से अभिप्राय क्या है? चमत्कारप्राण रस की पूर्ण स्थिति या यथाकथञ्चित् रस का सस्पर्श मात्र? यदि पहली शर्त मानी जाय तो वस्तुप्रधान, अलकारप्रधान काव्यो में इसकी व्याप्ति न होने के कारण उन्हें काव्य ही न कहा जा सकेगा? और इस आधार पर वहां रस की व्याप्ति माननी कि जब समस्त वस्तुएँ विभावादि में किसी न किसी के अन्दर पड़ सकती है तो उनकी सत्ता के बावजूद यहाँ रस का सर्वथा असंस्पर्श कैसे—तब तो किसी भी वाक्य को रसासंपृक्त नहीं कहा जा सकता और यह 'व्याप्ति' अतिव्याप्ति कही जायगी—जो किसी को सम्मत नहीं। इसी प्रकार ऐसे भी वर्णन मिल सकते हैं जहाँ केवल प्रवाह वर्णन हो, कपि विलास चित्रित हो—क्या इन काव्यों की चारुता का मूलस्रोत रस ही है? क्या गोत्रंध, मुरजबंध इत्यादि काव्यों का मूल स्रोत रस ही है? इसकी व्याप्ति से प्रसूत चारुता ही वहाँ है? इसीलिये रस को व्यावहारिक दृष्टि से अव्याप्त मानकर

पण्डितराज ने काव्य की समाई के लिये रस से बड़ी परिधि 'रमणीयता' की खींची है और रमणीयता की व्याप्ति को रस की व्याप्ति से बड़ा कहा है। पण्डितराज ही नहीं, अभिनव गुप्त ने भी एक श्लोक में काव्यव्यपदेशोचित चारुता का भार अविवक्षित वाच्यध्वनि को देना चाहा है और रसांध भट्टनायक की समीक्षा की है और कहा है कि 'वही कमल कमल है जिसे सूर्य की रश्मियों का अनुग्रह प्राप्त हो।' इसमें जो काव्योचित चारुता प्रतीत होती है भट्टनायक क्या उसका भार रस पर दे सकेंगे? आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि का समर्थन करते हुये कहा है कि 'सर्वत्र' ध्वनिरागिणा न भवितव्यम्'— हो सकता है वहां की काव्यव्यपदेशोचित चारुता का भार कोई दूसरा संवहन कर रहा हो। तथापि चारुता के निर्णय में अत्यन्त विवेक से काम लेना चाहिये। क्या यह अविवेक नहीं है कि किसी स्थल की चारुता का सारा दारोमदार जब वाच्यालंकार पर निर्भर हो तो हम उसे अप्रधान और अविवक्षित निर्गुण रूप से अवस्थित अनभिव्यक्त रस को दें? क्या यह रस की व्याप्ति को बलात् खींचना नहीं है? पर इसके साथ-साथ मैं वह अवश्य मानता हूँ कि काव्य वही उत्कृष्ट है जो भावोत्तेजक हो और विचारोत्तेजक वाङ्मय से इसी कारण अपना पार्थक्य रखता हो। पर यह नहीं मानता कि काव्यव्यवहार के लिये अपेक्षित चारुता का भार सर्वत्र रस पर ही निर्भर रहता है। यद्यपि म. म. गंगाधर शास्त्री ने बिश्वनाथ का अभिप्राय व्यक्त करते हुये कहा कि जहाँ प्रकृत रसोपयोगी रत्यादि स्थायी भावो के उद्बोधक अर्थों की योजना रहती है वहाँ रसात्मकता होती है और वहीं काव्यात्मकता होती है—फिर भी इसका अर्थ तो यही हुआ कि जहाँ कवि की मूल दृष्टि रसमयी होगी—वहाँ का काव्य रसमय होगा, पर यदि जहाँ अतिरिक्त प्रकार के चमत्कार सर्जन की दृष्टि से अर्थ-योजना होगी वहाँ तो रसव्याप्ति नहीं होगी। अस्तु,

इस प्रकार पण्डितराज ने काव्य के लिये रमणीयता की परिधि खींची। निश्चय ही इनकी रमणीयता या चारुता रस-निमित्तक चारुता से बड़ी है। यह रमणीयता रस-निमित्तक चारुता को समेटती हुई काव्योचित कल्पना-जनित चारुता तक फैली हुई है। पण्डितराज बंधकाव्यों में सक्रिय कल्पना को काव्योचित कल्पना नहीं मानते और परम्परा का अनुरोध मानकर महाकवियों ने जहाँ इस प्रकार का प्रयास किया है उन कृतियों को वे काव्य नहीं कहना चाहते, कारण वे अर्थगत रमणीयता की परिधि को लांघ जाते हैं। उनकी रमणीयता उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम एवं अधम काव्यों तक ही फैली हुई है, ऐसे बंध काव्यों तक नहीं। काव्यवस्तु प्रतीयमान होकर, प्रतीयमान से

संस्पृष्ट होकर तो चारुता प्राप्त करती ही है, पर जहाँ इनका हस्तावलम्ब नहीं है ऐसे अधमकाव्यो में कल्पना का पारस सस्पर्श आवश्यक है। इसीलिये आलोककार ने भी सभी अलकारो का मूल अतिशयोक्ति को माना और पण्डितराज ने इस अतिशयोक्ति को काव्यीय कल्पना की उपज मानी। तो निष्कर्ष यह कि जहाँ तक ध्वनिवादियों का सवाल है—वे भी समस्त काव्य की चारुता की व्याख्या के लिये रस को ही भारवाही नहीं बनना चाहते। रस के अतिरिक्त अन्यान्य चारुतावह तत्त्वो की योजना में जब कवि की प्रतिभा का संरम्भ लक्षित है—तो उस संरम्भगोचर प्रधान तत्त्व की व्याप्ति की उपेक्षा की जाय और अप्रधान तथा अनभिव्यक्त की ही व्याप्ति का ढिंढोरा पीटा जाय—क्या यह अविवेक नहीं है ?

अब रहे, अन्य सम्प्रदायवाले—अलंकार, रीति, वक्रोक्ति वाले। उनकी दृष्टि से भी रस की व्याप्ति की समीक्षा कीजिये। अलंकार और रीतिवादियो की काव्यव्यपदेशोचित चारुता तो अभिनवगुप्त के अनुसार शरीर और संघटन निष्ठ तत्त्वो पर ही निर्भर थी। इन लोगो से अनजाने रस की व्याप्ति पर भले ही एक आध कलम चल जाय, पर जानकर यह नहीं होने का। भामह के अनुसार तो काव्य यवहार के लिये अलकार का योग और उस अलंकार का एक भेद रस है। समस्त अलंकारो के मूल में इन्होंने भी 'वक्रता' की व्याप्ति स्वीकार की है। इस प्रकार अलंकारसम्प्रदाय वाले 'वक्रता' की व्याप्ति रस की अपेक्षा विस्तृत मानते हैं। दण्डी ने भामह की अपेक्षा स्वभावोक्ति को अलग रखकर वक्रोक्ति की व्याप्ति थोड़ी कम कर दी है।

वामन ने ओज एवं कान्ति गुण सम्पन्न गौड़ी रीति को अतत्त्व कहकर वैदर्भी के विपक्ष में उपेक्ष्य उसे माना है। कान्तिगुण ही एक ऐसा गुण है जहाँ रस की समाई है। सो, रसयुक्त रीति की उपेक्षा कर रस की व्याप्ति का क्या महत्त्व दिया—यह बहुत ही स्पष्ट है। यद्यपि अन्यत्र इन्होंने 'सदर्भेषु दशरूपकं श्रेयः (१।२।३०) कहा है और कोई इसका कारण रसमयता अनुमित कर सकता है, पर उन्होंने इसका निमित्त कुछ और ही कहा है—

'तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात्'

अर्थात् यहाँ काव्य के सभी रूपो का सांकर्य मिल जाता है। निष्कर्ष यह कि काव्य में रस की व्याप्ति से ये सर्वथा विमुख हैं।

शेष रहे कुन्तक, इन्होंने भावप्रेरित वक्रता को श्रेष्ठ अवश्य माना है इसीलिये यह कहा है—'निरन्तरसोद्गारगर्भसंदर्भगिरा ही अमर जीवन वाली

होती है पर साथ ही बुद्धिप्रेरित वक्रता को भी काव्य का उपजीव्य माना है– इसलिये रस की व्याप्ति के विपक्ष में उससे बड़ी वक्रता की व्याप्ति काव्य के लिये आवश्यक बतायी।

इस प्रकार भट्टनायक को छोड़कर शेष लोगों ने रस की अपेक्षा वक्रता, रीतिं एवं रमणीयता की व्याप्ति को बड़ा माना है। हाँ, अलंकारवादियो और वक्रोक्तिवादी की 'वक्रता' के स्वरूप में अन्तर है। पहले की 'वक्रता' उसकी समझ में केवल शारीर चारुता का उपजीव्य है और दूसरे की शारीर के साथ आन्तर का भी। रीति वालों की समझ शरीर-सौन्दर्य की ओर ही सिमटी हुई है। अतः इन सीमित दृष्टि वालो को छोड़कर कुन्तक और पडितराज की 'वक्रता' और 'रमणीयता' पर आइये। निश्चय ही दोनो की ये काव्य-व्यापिनी विशेषताएँ 'रस की अपेक्षा ज्याद। भूमि घेरती है। अब देखना यह है कि वक्रता और रमणीयता कहाँ तक एक और भिन्न है। निश्चय ही कुन्तक ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि किसी भी प्रकार के काव्य मे कवि का ऐसा किसी भी प्रकार का व्यापार नहीं है जहाँ किसी न किसी प्रकार की वक्रता न हो, पण्डितराज ने इतनी व्यापिनी रूप रेखा रमणीयता की नहीं खींची है। कहीं-कहीं तो वक्रता रमणीयता के पर्याय के अतिरिक्त प्रयोजक भी बन जाती है और प्रयोजक बनकर उससे व्यापक हो जाती है।
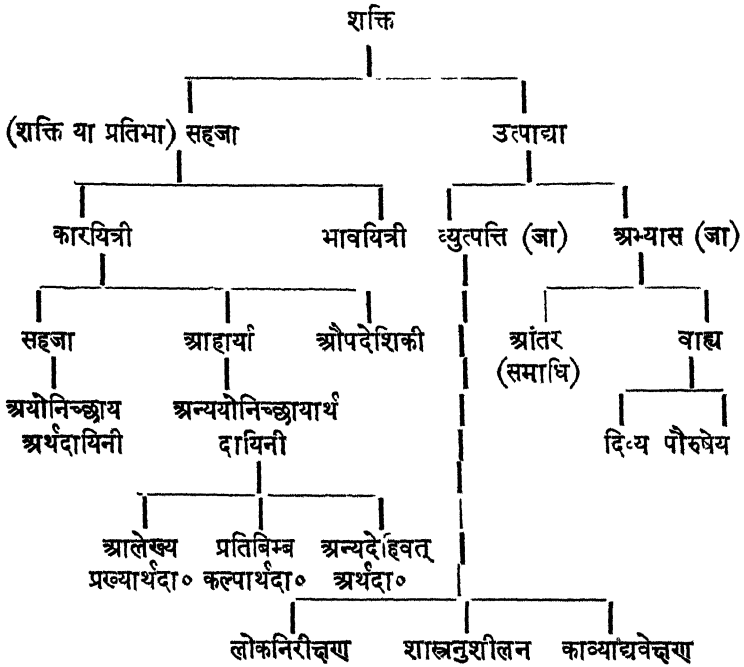
प्राचीन भारतीय आचार्यों ने यह स्वीकार किया है कि काव्य निर्माण अशक्त व्यक्ति नहीं कर सकता, तदर्थसशक्त होना नितांत आवश्यक है। शक्ति के दो रूप आचार्यों ने बताये हैं—जन्मजात तथा अर्जित। पहली को 'सहजा' और दूसरी को 'व्युत्पाद्य' कहते है।

'सहजा' को कतिपय आचार्यों ने जन्मजात शक्ति के रूप में बताया है और कुछ एक ने उसी को प्रतिभा रूप कहा है। पर शक्ति और प्रतिभा संबंधी विवेचनाओं के देखने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इनका स्वरूप भिन्न-भिन्न कहा गया है। शक्ति कवित्व का बीजभूत एक विशेष प्रकार का संस्कार है और प्रतिभा काव्य निर्माण के सद्यः पूर्व होने वाली वह 'स्फुरण' है—जिसमें काव्योचित शब्द एवं अर्थ आदि झलक जाते हैं। इस दृष्टि से 'प्रतिभा' का हेतु भी शक्ति है।

यह प्रतिभा कविगत होकर 'कारयित्री' है और ग्राहक गत होकर 'भावयित्री'। पहला काव्य निर्माणोपयोगी है और दूसरी काव्यार्थग्रहणोपयोगी। काव्यार्थ निर्माण की दृष्टि से विचार करने के प्रस्तुत प्रसंग में कारयित्री ही मुख्यतः विचारणीय है। इसके भी तीन रूप कहे गये हैं—सहजा, आहार्या एवं औपदेशिकी। यद्यपि आहार्या और उत्पाद्या एक ही है, तथापि व्युत्पत्ति की दृष्टि से दोनों शब्द स्वरूपगत दो विशेषतायें प्रकट करती हैं। 'आहार्या' में और चाहे जो हो—आहरण का भी संकेत विद्यमान है। आहरण अन्य पूर्ववर्ती काव्यार्थ का संभव है। सहजा या जन्मजात स्वयंभूप्रज्ञा अयोनिच्छाय या अछूते अथवा अनुच्छिष्ट या अछूती उक्ति-वैचित्र्य का विधान करती है, पर आहार्या पूर्व कवियों से संस्पृष्ट अर्थ का भी कथन करती है। इस अर्थ को अन्ययोनिच्छाय कहा जा सकता है। इसके विभिन्न रूप संभव है—आलेख्य प्ररव्य, प्रतिविम्बकल्प और तुल्यदेहिवत्। प्रतिविवकल्प अर्थ की काव्य में कोई उपादेयता नहीं है। कारण यह है कि वहाँ प्रतिविवभूत अर्थ पूर्ववर्ती कवि से सस्पृष्ट अर्थ है और इस प्रकार संस्पृष्ट है कि दोनो के स्वभाव में कोई अंतर ही नहीं है। प्रतिविव कल्प अर्थ में विवंस्थानीय प्राक्कविस्पृष्ट अर्थ से न तो शरीरगत और न स्वभावगत ही कोई अंतर होता है—प्रतिविंब का तो शरीर भी तात्विक नहीं होता–शारीर की तो बात ही अलग है। आलेख्य अर्थ में प्रतिविंबभूत अर्थ से यह अतर अवश्य होता है कि यहाँ वाह्य अंतर अर्थात् शरीरस्थानीय शब्दार्थ विन्यास का अंतर तो अवश्य रहता है परन्तु आंतरतत्त्व का यहाँ भी सर्वथा अभाव रहता है। प्रतिविंब एवं आलेख्य में शरीर विन्यास की दृष्टि से अंतर होते हुए भी आत्मविन्यास की दृष्टि से यह साम्य है कि दोनों में अपूर्व (प्रागसंस्पृष्ट) या अछूते अर्थ की उत्प्रेक्षा सर्वथा नहीं रहती। इसी आंतरतत्त्व के अभाव में ये दोनों ही प्रकार के संवादी प्रयोग काव्य में अग्राह्य है। 'तुल्यदेहिवत्' में शरीर तो भिन्न रहता ही है—शरीरी भी अंशतः भिन्न रहता है। यह अवश्य है कि यहाँ का उत्प्रेक्षित आंतर अर्थ पूर्वप्रयुक्त आंतर अर्थ के सदृश होता है–पर सदृश होने का अर्थ एक होना तो नहीं ही है। फलतः इस कोटि के अर्थ का आहरण 'आहार्या' प्रतिभा कर सकती है।

'आहार्या' और 'उत्पाद्या' में कोई मौलिक अंतर नहीं है, हाँ 'औपदेशिकी' को आचार्यों ने इन दोनो प्रकारो से भिन्न कहा है। यदि पहली जन्म जात है, तो दूसरी अर्जित। उत्पाद्या एवं औपदेशिकी—दोनो ही जन्मजात से

भिन्न होने के कारण अर्जित ही हैं—तथापि दोनो में एक अंतर यह है कि जहाँ 'अहार्या' या उत्पाद्या' में अपनी ओर से किये गये प्रयत्न की प्रधानता है—वहाँ 'औपदिशिकी' में गुरु की ओर से दिये गये 'उपदेश' की प्रधानता है।

'उत्पाद्य' के लिए भविष्णु कवि जो प्रयत्न अपनी ओर से करता है—वह दो प्रकार का है—व्युत्पत्ति और अभ्यास। 'व्युत्पत्ति' की कुल तीन परिभाषायें या स्वरूप मिलते हैं—कोई उसे 'निपुणता' बताता है और कोई 'उचितानुचित विवेक'। कतिपय आचार्य उसे ही 'बहुज्ञता' भी कहते हैं। तत्त्वतः इन तीनो अर्थों में कोई खास अन्तर हो—ऐसी बात नहीं है। 'निपुणता' बहुज्ञता ही से संभव है और नैपुण्य का अर्थ उचित एवं अनुचित का विवेक ही है। 'व्युत्पत्ति' की उपयोगिता 'अभ्यास' से आती है। अथवा कह सकते हैं कि 'अभ्यास' 'व्युत्पत्ति' का भी प्रयोगोचित संस्कार करता है। व्युत्पत्ति का प्रयोगोचित सस्कार होने से काव्य में चारुतावह व्यवस्था आती है। अभ्यास का तात्पर्य है—काव्यनिर्माण के उद्देश्य से लोक की अशेष वस्तुओ, प्राणियो एवं आचार विचारो तथा अन्य सांस्कृतिक उपकरणो का परिज्ञान। इस सूक्ष्म निरीक्षण की भी एक विशेष रुचि एवं शक्ति होती है—जिसके फलस्वरूप दृश्य की छोटी छोटी विशेषतायें प्रतिभा में जम जाती है—और काव्य निर्माण के समय कवि अपनी कल्पना से पुनः उसे साक्षात्कृत कर लेता है। लोक व्यवहार से उत्पन्न अनुभूतियों के कार्य-कारण भाव को इस प्रकार हृदयङ्गम कर लेता है कि वह जब चाहे कल्पना से उन परिस्थितियो को सँजोकर प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न अनुभूति में मग्न हो सकता है। 'अभ्यास' के लिए लोकनिरीक्षण ही नहीं, पूर्वाचार्यों की अनुभूतियों का शास्त्रीय विश्लेषण भी परिज्ञेय है। इसके द्वारा परम्परागत महती प्रतिभाओ का भी हम उपयोग कर लेते है। काव्योचित सौदर्य के विभिन्न प्रतिमानों का ज्ञान हमें काव्यशास्त्र या लक्षण ग्रथों से तो होता ही है—अन्य शास्त्रों से भी अनेक विध काव्योचित सामग्री का परिचय मिलता है। 'उत्पाद्या' प्रतिभा का परिष्कार करने के लिए लोक एवं शास्त्र का ही नहीं, काव्य परम्परा का भी ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार इन त्रिविध स्रोतों से प्राप्त किया गया काव्योचित नैपुण्य है—उसके साथ जब 'शक्ति' के आपेक्षिक महत्त्व की बात उठती है-तब यह कहा जाता है कि यदि व्युत्पत्ति न भी हो-तब भी उसके अभाव से उत्पन्न होने वाली कमी या त्रुटि का संवरण 'शक्ति' कर लेती है, पर 'शक्ति' यदि न हो-तो 'व्युत्पत्ति' उस अभाव से उत्पन्न होने वाली त्रुटि का संवरण नहीं कर सकती। लेकिन

यदि 'व्युत्पत्ति' को 'अभ्यास' का हाथ पकड़ा दिया जाय तो उससे जो 'व्युत्पाद्या' शक्ति पैदा होगी वह इस आक्षेप को बहुत दूर तक खतम कर सकती है।

'अभ्यास'—एक ही निर्देश का बार-बार किया गया प्रयोग है। इसके लिए शिक्षक का संविधान आवश्यक होता है—अंशतः इसका कार्यान्वयन शिक्षक निरपेक्ष भी हो सकता है। 'अभ्यास' के दो रूप हैं—'आंतर' एवं 'बाह्य'। आंतर अभ्यास 'समाधि' है और 'समाधि' का अर्थ है—मन की एकाग्रता। विक्षिप्त अंतःकरण में न तो विषयोचित सामग्री का सप्रयत्न अनुसंधान हो सकता है और न तो स्वयं स्फुरण। अभ्यास का जो बाह्य रूप है—वह 'दिव्य' भी होता है और 'पौरुषेय' भी। 'दिव्य' उपाय से आचार्यों का मतलब अदृश्य शक्तियों की उपासना से है—जैसा कि नैषधकार श्री हर्ष एवं मूक कवि आदि के लिए प्रसिद्ध है। पौरुषेय यत्न अपने द्वारा किये गये नियमों का या काव्य प्रणयन का पुनः-पुनः अभ्यास है।

इस प्रकार शक्ति, व्युत्पत्ति एव अभ्यास का निर्वचन हो जाने के अनतर आचार्यों ने इस पक्ष से भी विचार किया है कि तीनों मिलकर काव्य निर्माण के प्रति निमित्त हैं या इन तीनो में से प्रत्येक (या दो) अलग-अलग भी कारण है ?

इस प्रश्न पर जितना भी विवेचन हुआ है उसका सारांश यह है कि उत्कृष्ट काव्य के लिए तीनों मिलकर कारण हैं, पर सामान्य काव्य के लिये कोई नियम नहीं है। व्युत्पत्ति एवं अभ्यास से हीन कवि भी यदि 'शक्ति' सम्पन्न है—तो काव्य निर्माण कर सकता है। इसी प्रकार जन्म-जात 'शक्ति' हीन व्यक्ति भी व्युत्पत्ति और अभ्यास से काव्य निर्माण कर सकता है।

इसके साथ एक दूसरा प्रश्न भी संबद्ध है और वह यह कि क्या कवि जब चाहे तभी काव्य निर्माण कर लेता है—अर्थात् ये तीनों कारण सक्रिय हो जाते है या किसी विशेष क्षण में स्वय ये तत्त्व सक्रिय हो जाते हैं ? अनुभव मे या देखने में तो सामान्यतः दोनो बाते आती हैं—पर वही जैसा कि ऊपर कहा गया है—उत्कृष्टतम रचनायें किसी क्षण विशेष में 'अकस्मात्' होने वाले काव्योचित-उल्लास वश फूट पड़ी हैं। ध्वन्यालोककार ने कहा है—

"येषां सुकवीनां प्राक्तनपुण्याभ्यासपरिपाक वशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थ परिग्रहनिःस्पृहाणां स्वव्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते। सैव भगवती स्वयमभिमतमर्थमाविभ वयति। एतदेवहि महाकवित्वं महाकवीनामितिओम्।" (ध्व० च० उ० पृ० ५५१)। अर्थात् काव्य निर्माण में प्रवृत्ति

स्वयं जान बूझकर हठात् भी हो सकती है—और प्राक्तनपुण्याभ्यास के परिपाक वश सहसा भी—पर जब अंतिम प्रकार वाली आकस्मिक प्रेरणावश प्रवृत्ति होती है तो उस समय कवि परकीय काव्यार्थ ग्रहण की ओर से निरपेक्ष होकर सर्वथा असंपृष्ट अर्थ की रचना करता है। ऐसे अर्थ की योजना में कवि का ज्ञात प्रयास (Concious-mind व्यापार) सक्रिय नहीं रहता, बल्कि भगवती सरस्वती स्वयं अभिमत अर्थ को स्फुरित करती रहती है। महाकवियों का महाकवित्व अंतिम स्थिति से ही प्रकट होता है। जब ऐसी स्फुरणा होती है—तो कवि स्वयं चमत्कृत होकर उल्लसित हो जाता है—और काव्य निर्माण के वेग को सम्हाल नहीं पाता-वह अपने आप समुचित पदशय्या के सहारे व्यक्त हो जाता है। प्रेरणा का यह सिद्धांत रहस्यमय है। मनोविज्ञान इस रहस्य को खोलने का प्रयास करता है—पर Unconcious-mind की गहरी अँधेरी कोठरी का रहस्य वह भी अभी पर्याप्त संतोषजनक रूप में खोज नहीं पाया है। संभव है मानव का प्रयास 'सहज' का रहस्य पा ले और 'रहस्य' को प्रकट कर ले।

काव्य का प्रयोजन

अप्रमत्त व्यक्ति के सभी कार्य सप्रयोजन होते हैं, अतः काव्य का भी कुछ प्रयोजन अवश्य होना चाहिये। काव्य-प्रयोजन का विचार काव्य से सम्बद्ध व्यक्तियों की दृष्टि से किया जाता है। काव्य से सम्बद्ध व्यक्ति दो कोटि के हैं—एक कोटि में तो उनकी गणना है जो उसके निर्माता हैं और दूसरी कोटि में उन लोगों की गणना है जो उसका उपभोग करते हैं। पहला कर्त्ता और दूसरा ग्राहक भी कहा जाता है।

व्युत्पत्तिवादी दृष्टि—प्रायः साहित्य के सभी आचार्यों ने 'आनन्द' के साथ अन्य प्रयोजनों की चर्चा की है। उदाहरण के लिए यहाँ कुछ लक्षणों का उल्लेख किया जा रहा है। आचार्य भामह ने साधु काव्य के सेवन से अधोलिखित प्रयोजनों की सिद्धि बताई है। "धर्मार्थ काममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्य निषेवणम्।" उत्तम काव्य का सेवन करने से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं विभिन्न कलाओं का तलस्पर्शी

मर्म तो समझ में आता है, है, उससे यश तथा आनन्द की भी प्राप्ति होती है। इस आचार्य की प्रस्तुत कारिका में दो बातें ध्यान देने की हैं—पहली तो यह कि इसमें काव्य सामान्य का नहीं, बल्कि 'साधुकाव्य'-उत्तम काव्य—का प्रयोजन बताया गया है। दूसरी—बात यह कि इसमें जिन प्रयोजनों का विचार किया गया है वे ग्राहक की ही दृष्टि से किये गये हैं। कारण स्पष्ट है। साधु काव्य का सेवन ग्राहक ही तो करेगा और फिर सेवन करने वाले को ही ये फल-उपलब्ध होगे। यहाँ ग्राहक को आनद के साथ-साथ अन्य फलों के लाभ की भी बात कही गई है।

मनोरंजनवादी दृष्टि—हमारे पूर्वजो का यह भी कहना है—"काव्यालापांश्च वर्जयेत्'—काव्यीय कलालाप हेय हैं अत: उसमें प्रवृत्ति सामाजिक दृष्टि से अनुचित है। ऐसी स्थिति में उक्त प्रयोजन कहां तक सर्वसम्मत है-यह भी एक ध्यान देने की बात है। उचित भी यही जान पड़ता है कि काव्यीय कलालापों का पठन-पाठन सामाजिक दृष्टि से अवश्य हेय है।

काव्यों में विभिन्न प्रकार की वासनाओ को उत्तेजित करनेवाली सामग्री भरी रहती है। प्रतिशत नब्बे काव्यों में शृङ्गार रस की चर्चा किसी न किसी प्रकार अवश्य होती है। साधु समाज आज भी साहित्यशास्त्र के अध्ययन को गर्हित दृष्टि से देखता है। छोटे बच्चो को इसकी शिक्षा से दूर रखा जाता है।

किसी हद तक उक्त शिकायत ठीक जान पड़ती है। आजकल प्रकृतिवाद, यथार्थवाद, फ्रायडवाद आदि की मान्यताओं को स्वीकार करके जो साहित्य रचा जा रहा है, उसके प्रति न केवल साधुओं को क्षोभ है, बल्कि परिष्कृत साहित्यिकों में भी पर्याप्त उपेक्षा है। गोष्ठियों में प्रायः ऐसे साहित्य की उपादेयता पर संघर्ष होता रहता है। एक दल, जो ऐसे साहित्य का समर्थक है, दलील देता है कि साहित्य एक प्रकार की कला है और कला कला के लिये है। सामाजिक दृष्टि से उसकी उपादेयता (बाई-प्रॉडक्ट) अनिवार्य एव आनुषगिक उपज है। काव्य में देखने एवं सराहने की बात यह है कि जो चीज है, उसका अकन कितना उत्कृष्ट है। साहित्य धर्मशास्त्र तो है नहीं कि यहाँ नैतिकता और आध्यात्मिकता की दृष्टि से उपादेय बाते की जॉय।

जीवनवादी दृष्टि—यह बात गाँठ बाँध लेने की है कि काव्य के विषय में उक्त मत भारतीय साहित्य शास्त्रियों का प्रतिनिधि मत नहीं है। वे लोग इसके बिलकुल विपरीत हैं। विद्यानाथ ने "काव्यालापांश्च वर्जयेत्" का समुचित उत्तर देते हुए 'मनोरञ्जनवादी' दृष्टि का खंडन किया है। उन्होने कहा है—"यत्र पुनरुत्तमपुरुषचरितं न निबद्धयते, तत्काव्यं

परित्याज्यमेव । तद्विषया च स्मृतिः–"काव्यालापांश्च वर्जयेत्" आगे चलकर उन्होंने काव्य की अनुपादेयता अथवा हेयता का कारण केवल विषय की, वर्ण्य की–अपकृष्टता को ही नहीं, बल्कि 'प्रतिभा-दौर्बल्य तथा 'कुलवैकल्य को भी बताया है। इसीलिए दंडी ने भी कहा है—"तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन"–काव्य में दोष-युक्त थोड़ा भी अंश हो तो उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। यह 'दोष' मै समझता हूँ कि 'अनौचित्य' का पर्याय ही हैं। व्यक्ति-विवेककार ने स्पष्ट ही दोष निरूपण के प्रकरण में कहा है–"इह खलु द्विविध-मनौचित्यमुक्तम्–अर्थविषयं शव्दविषयञ्चेति।" इसे अंतरंग और बहिरंग अनौचित्य भी कह सकते है। औचित्य और अनौचित्य का निर्धारण समाज ही करता है। रसगंगाधरकार पंडितराज ने औचित्य का मर्म बताते हुए कहा है–औचिती योग्यता (पृ० १६६) × × युक्तमिदमिति लौकिकव्यवहारगोचरता" (पृ० ५९६) लोक व्यवहार जिसे युक्त कहता हो, वही उचित है, उसी में औचित्य है। सारांश यह कि भारतीय आचार्य काव्य में अनौचित्य को काव्य का सबसे बड़ा दोष मानते है और अनौचित्य रहित काव्य में जब सामाजिक दृष्टि से कोई हेयता नहीं, तो फिर ऐसे निर्दुष्ट काव्यों के विषय में "काव्यालापांश्च वर्जयेत्"–यह उक्ति कैसे चरितार्थ होगी? निश्चय यह उक्ति गन्दे काव्यों के लिए ही है। भारतीय दृष्टि कलावादी नहीं, जीवन-वादी है। दण्डी ने दोषों को काव्य के रमणीय वपु में एक प्रकार का कुष्ठ माना है–"स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।" काव्य की उत्कृष्टता यहाँ वर्ण्य की उत्कृष्टता पर निर्भर है। भामह ने यही तो कहा है–"उपश्लोकस्य-माहात्म्यादुज्ज्वलाः काव्यसम्पदः।" उपश्लोक्य अथवा स्तुत्य के सम्पर्क से काव्य सम्पत्ति भी उज्ज्वल हो जाती है। उद्भट तो यह कहते हैं–"गुणालंकार-चारुत्वयुक्तमप्यधिकोज्ज्वलम्। काव्यमाश्रयसम्पत्त्या मेरुणेवामरद्रुमः।" गुण, अलंकार आदि से युक्त होने पर भी यदि काव्य को प्रशस्त आश्रय मिल जाय तो उसकी वही महत्ता और शोभा होती है, जो मेरु पर स्थिति कल्पद्रुम की। भोज ने तो स्पष्ट ही कह दिया–"कवेरल्पापि वाग्वृत्तिर्विद्वत्कर्णावतंसति। नायको यदि वर्ण्येत लोकोत्तरगुणोत्तमः"–यदि काव्य का नायक उत्तम हो, तो इसको आश्रय बनाकर चलनेवाली कवि की वाग्वृत्ति श्रोताओं के कर्णकुहर को अलंकृत कर देती है। सारांश यह कि भारतीय आलंकारिक काव्य को सामाजिक दृष्टि से ही महत्त्व देते हैं। पश्चिमी साहित्यशास्त्र के आचार्य प्लेटो ने भी काव्य की महत्ता विषय की ही दृष्टि से स्वीकार की है। कुछ लोगों ने तो कवि की महत्तापर भी काव्य की महत्ता स्थिर मानी है। यद्यपि वह मत ब्राह्मणवादी

माना जायगा और आज के मानवतावादी संसार में स्वय पक्षपातपूर्ण कहा जायगा, तौ भी प्रसंगात् उद्धृत कर दिया जाता है–

"शुनीदुग्धमिव त्याज्यं पद्यं शूद्रकृतं बुधैः ः
गवामिव पयो ग्राह्यं काव्यं विप्रेण निर्मितम् ॥"

'काव्यानन्द' के कुछ उपासको को यह अत्यधिक जीवनवादी दृष्टि अखरी और उन्होने इसके विरोध में शास्त्र से काव्य का व्यतिरेक बताते हुए कहा, कि जीवनीपयोगी तथ्यों का निरूपण शास्त्र का कार्य है। यदि काव्य भी वही करने लग जायेगा तो फिर शास्त्र का महत्त्व ही क्या रह जाएगा? अथवा शास्त्र और काव्य का फिर पृथक् पृथक् क्या प्रयोजन होगा? इस स्थिति में कुछ आलंकारिको ने काव्य से उपदेश मात्र ग्रहीताओं पर आक्षेप करते हुए कहा—

आनंदनिःष्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय ॥दशरूपक ॥

इतिहास, पुराण आदि की भाँति जो लोग रूपक काव्यो से व्युत्पत्तिमात्र फल मानते हैं, वे साधु हैं, उन्हें काव्यानन्द कभी मिला ही नहीं।

अतः ऐसे लोगो को दूर ही से नमस्कार है। वस्तुतः रूपक काव्य लोकोत्तर आनन्द के एकमात्र स्रोत हैं, और वही उनका परम प्रतिपाद्य है। इस मत में काव्य के एक भाग-दृश्य-के लिए ही केवल रस को लक्ष्य बताया गया है। ध्वन्यालोककार और उनकी परम्परा में आने वाले आचार्यों ने तो दृश्य की भाँति श्रव्य को भी रस का ही स्रोत माना है। एक बचन इस मत का भी उपस्थापक मिलता है–"नीरसो हि निबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः। स तेनाकविरेव स्यादन्येनाऽस्मृतलक्षणः[१]"। कवि के लिए नीरस शब्द ही अपशब्द है। ध्वन्यालोककार ने रस को काव्य का शतशः प्रतिपाद्य बताया है। 'रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्' रस-निष्पादन के ही विषय में कवि को सर्वथा यत्नशील रहना चाहिये, ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में आनन्द ने यही कहा है।

मनोरञ्जनवादी आचार्यों का रसवादी मत पर यह आक्षेप हो सकता है कि रस और कुछ नहीं, बल्कि उभड़ी और उमड़ी हुई वासना का ही आस्वाद है। फिर वासना को उत्तेजित करने वाला काव्य ही यदि रसमय होने के कारण काव्य है, तब तो ऐसे काव्य की सामाजिक दृष्टि से क्या उपादेयता है? इस प्रकार जैसे मनोरञ्जनवादी दृष्टि अनुपादेय है उसी प्रकार रसवादी दृष्टि को भी अनुपादेय मानना चाहिये।

वृत्ति परिष्कारवादी मत—रसवादी इस प्रश्न का समाधान यों देते हैं। लौकिक सामग्री से भी वासना उत्तेजित होती है और काव्यीय सामग्री से भी। इस प्रकार न तो लौकिक एवं काव्यीय सामग्री में कोई अन्तर है और न उन सामग्रियों से उभाड़ी जाने वाली वासना (रति आदि) आदि में कोई भेद। फिर लौकिक दृष्टि से जिस प्रकार उत्तेजित वासना सामाजिक दृष्टि से हानिकर है उसी प्रकार अलौकिक दृष्टि से भी मानना चाहिये। इस प्रकार यद्यपि रसवादियों पर ये सब प्रहार किये जा सकते हैं, तब भी रसवादी कहता है कि लौकिक सामग्री एवं काव्यीय सामग्री विचार करने से भिन्न भिन्न कोटि की वस्तुयें जान पड़ेंगी और सामग्री के भिन्न होने से उनका उत्तेजनात्मक कार्य भी कुछ विलक्षण प्रभावोत्पादक होगा। भावो को उत्तेजित करने वाले लौकिक कारण-कलाप काव्यीय विभावादि से कई कारणो से भिन्न है—(१) पहली बात यह है कि लौकिक-कारण किसी व्यक्तिविशेष, देश-विशेष एवं कालविशेष से सम्बद्ध होकर किसी व्यक्तिमात्र को ही सुख, दुःख पहुँचा सकते है। अपने युग की शकुन्तला यदि किसी को सुख दे सकी, तो केवल दुष्यन्त को ही, पर वही शकुन्तला जब विभाव का रूप धारण करती है, तब अनेक अवसरों पर अनेक स्थान में एक साथ अनेक व्यक्तियों—सामाजिकों को—परमास्वाद अनुभूत कराती है। लोक का कारण, कार्य, सहकारी काव्य में विभाव, अनुभाव एवं सचारी कह जाता है और उस पद्धति से तीनो सामग्री का लौकिक सामग्री से सर्वथा पार्थक्य है। इसी प्रकार उत्तेजित वासना की भी स्थिति भिन्न है। लौकिक वासना सुख एवं दुःख दोनों रूपों की होती है, काव्य में वही द्विविध वासना केवल सुखात्मा प्रतीत होती है। अन्यथा सभी स्थायी भावो की परिपुष्टावस्था रस कही ही क्यों जाती? रस काव्यानंद का ही पर्याय है। इस प्रकार लौकिक सामग्री का काव्य में परिष्कार होता है और परिष्कृत सामग्री से परिष्कृत रूप में वासना का आस्वाद मिलता है। एक अन्तर लौकिक सामग्री से यह भी है कि लौकिक अनुभूति वैयक्तिक होती है, अतः समाज से छिपाकर भी की जाती है और छिपाने की भावना के मूल में अवश्य असामाजिकता है—सामाजिक दृष्टि से अनुचित कार्य है। न भी अनुचित हो, तो उस रूप में समाज के सामने लाना तो अनुचित है ही। काव्यीय अनुभूति सर्वदा सामाजिक होती है, उसमें उतनी ही सामग्री का आनयन संभव है, जिसमें सामाजिक अनौचित्य की गध न मिले। इसलिए तो रसवादियों ने काव्य की आत्मा रस और रस की परा उपनिषद् औचित्य माना है और अनौचित्य

से बढ़कर रस का भञ्जक कोई हो नहीं सकता यह उनकी उद्घोषणा है। सारांश यह कि रसवादी अनौचित्य का प्रवेश सर्वथा निषिद्ध मानते हैं। यही कारण है लौकिक दृष्टि से जो भाव, जो सामग्रियाँ हेय हैं, उन्हीं का प्रयोग काव्य में होने पर उसे देखने सुनने सभ्य नागरिक भी जाते हैं। सभ्य नागरिकों का जाना और सुनना यह सिद्ध करता है कि जिन तत्त्वो के सम्पर्क से वह भाव हेय-कोटि में परिगणित था, वे तत्त्व यहाँ से हटा दिये गये हैं। इस प्रकार यहीं शृङ्गार की भी चर्चा हो, तो उसमें सामाजिक दृष्टि से कोई अनुपादेयता नहीं है। रही बात मनोरञ्जन मात्र वादियो से रसवादी के अंतर की, सो उसे भी यों सुनें। मनोरञ्जनवादी के अनुसार यदि मनोरञ्जन ही काव्य का उद्देश्य होता, तो काव्य में हँसने-हसाने की बात कुछ कह दी जाती। परन्तु विपरीत इसके कि हँसने कि बात कही जाय, यहाँ तो रोने की बात भी कही जाती है। सुख एवं दुःख दोनो श्रेणियो के भावों का विधान काव्य में अंकित किया जाता है। हाँ यह काव्य की विशेषता है कि वे लौकिक सुख दुःखात्मक भाव यहाँ आनन्दमय ही प्रतीत होते हैं। यह आनन्दमयता शुद्ध मनोरञ्जन ही नही, बल्कि उससे बहुत बढ़ी हुई वस्तु है। लोक में मन उन्हीं सुख दुःखात्मक भावों में रमता है पर एकत्र आनन्द एवं अन्यत्र क्षोभ होता है। काव्य में ऐसी क्या विशेषता आ जाती है कि यहाँ दोनों सुखद ही अनुभूत होते हैं? बात यो है, लौकिक मन एवं काव्यीय मन में ही अंतर है। काव्य की साधारणीकरण वाली प्रक्रिया इस अंतर का आधायक है। लौकिक सामग्रियों में मनुष्य के मन का राग-द्वेष-नियंत्रित सम्बन्ध होता है अतः मनकी बद्धावस्था होती है और काव्य की साधारणीकरण प्रक्रिया वस्तुओं को देशकाल के आवरण से मुक्त कर देती है। न केवल वस्तु का ही देशकाल से आवरण हट जाता है, बल्कि आत्मा की भी परिच्छिन्नता विगलित हो जाती है स्वयं भोक्ता आत्मा भी रसानुभव-वेला में अपने सकोचक विशेषणो को भूल जाता है। मन भी असकुचित, वस्तुएँ भी असंकुचित और आत्मा भी संकोचक विशेषणों से मुक्त हो जाता है। राग-द्वेष से बद्ध होने के ही कारण संसार एवं उससे उत्तेजित वासना दुःखमय एवं उद्वेजक प्रतीत होती है, पर राग-द्वेष से मुक्त स्व-पर भाव से रहित मुक्त हृदय सारा संसार एवं सारी वासना को आनदमय रूप में देखता है। प्रसाद जी ने इसी आनदवादी दृष्टि से कहा है—

> "कौन कहता है जगत् है दुःखमय,
> यह सरस संसार सुख का सिंधु है।"

हमारे तमाम आस्तिक-दर्शन इसी संकीर्णता से मुक्त होने में आनन्द का मार्ग बताते हैं। काव्य की इस राग-द्वेष-मोचिनी प्रक्रिया से मानव का हृदय उत्तरोत्तर विशाल होता है, वृत्तियो का परिष्कार होता है और इसी परिष्कृत वृत्ति में मानवता का अनावरण है। काव्य का नैतिक-प्रयोजन साधारणी करण वाली क्रिया से आचार्यों ने छिपे-छिपे व्यक्त किया है। इस लक्ष्य तक पहुँचने में शृङ्गार आदि माध्यम का कार्य करते है। शृङ्गार रस की नब्बे प्रतिशत कार्यों में जो स्थिति है, उसका कारण यह कि मानव-मन सर्वाधिक शृङ्गार की ही अनुभूति करता है अतः यह रास्ता उसका मँजा-मजाया रास्ता है। इस रास्ते मन को उक्त लक्ष्य तक सरकने में आसानी होती है। इसके अतिरिक्त अन्य भावों की भी चर्चा रहती ही है। शृङ्गार का भी काव्यीय आदर्श लोक से महनीय होता है। हमारे सस्कृत के कवियो में शृङ्गार के उच्चतम स्थापक-कालीदास हैं और कालीदास ने वासना पूरक प्रेम का शकुंतला में पतन दिखाया है और तपः पूत वासना का उत्कर्ष एवं स्थायित्व कुमार संभव में स्थिर किया है। शकुन्तला में भी वाद का दाम्पत्य सम्बन्ध तपः पूत ही किया गया है, अस्तु।

संस्कृत साहित्य शास्त्रियो में अधिकांश ऐसे है जो काव्य का प्रयोजन काव्यानंद के अतिरिक्त इतर दृष्टि एवं अदृष्ट फल भी बताते हैं। हाँ यह अवश्य है कि वहाँ कभी-कभी केवल ग्राहक की दृष्टि से विचार होता है और कभी-कभी ग्राहक तथा कर्त्ता दोनो की दृष्टि से। भामह की चर्चा तो पहले की ही जा चुकी है।

भरत-नाट्यशास्त्र में काव्य के प्रयोजन का विचार बड़े ही विस्तार से किया गया है। प्रथम अध्याय के १०५–११३ तक नौ श्लोको में नाटय प्रयोजनों की विस्तार से चर्चा है। वहाँ कहा है कि यह नाट्यधर्म-प्रवृत्तो के लिए धर्म, कामोपसेवियो के लिए काम रूप तथा दुर्विनीतो के लिए निग्रह कारक, क्लीवो में धृष्टता का जनक, शूरो तथा मानियों के लिए उत्साहवर्द्धक, मूर्खों के लिए ज्ञानप्रद, बुद्धिमानों के लिए वैदुष्यदायी है और भी बहुत से प्रयोजनों के साथ-साथ यह भी बताया है कि सभी लोगों के लिए हितोपदेश कारक है।

प्रसिद्ध आलंकारिक दण्डी ने अपने काव्यादर्श में वाङ्मय सामान्य के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए एक-आध बातें ऐसी भी कहीं है जिसका संबंध काव्य से है उदाहरणार्थ—"आदिराज यशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम्। तेषामसन्निधानेऽपि न स्वयं परिणश्यति।" १॥ ५॥—के मध्यमा

से लेखक ने काव्य का प्रयोजन बताते हुये कहा है कि यह काव्य वह विलक्षण दर्पण है, उसमें असन्निहित राजाओ की भी प्रतिच्छाया उपलब्ध होती है और वह भी स्थायी होती है। यहाँ काव्य के कर्त्ता और ग्राहक की दृष्टि से विचार नहीं है, बल्कि काव्य के कारयिता का महत्त्व-प्रतिपादित किया गया है।

इस प्रकार अब तक जो कुछ कहा गया उसका सारांश यह हुआ कि नाट्यशास्त्र में काव्य के प्रयोजन से संबद्ध जो लम्बा चौड़ा व्योरा है उसमें भावी अलंकार साहियगत चर्चित सभी प्रयोजनो का उल्लेख हो गया है। बाद में जो हमें एकाएक भामह का ग्रंथ मिलता है, तो उसको देखकर यह निश्चय होता है कि उस समय तक धीरे-धीरे लोग काव्य को प्रीति-प्रद होने के साथ-साथ एक व्युत्पत्ति के आधार का स्रोत भी समझने लगे थे। इसके विपरीत यत्र तत्र साहित्य का मर्म न समझने वाले अथवा असत्कोटि के साहित्य को देखकर 'साहित्य' मात्र के विषय मे भ्रांत धारणा रखने वाले आचार्यों का 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' भी सुनाई पड़ने लगा। अलकार शास्त्र के आचार्यों ने जो मर्यादा एव सदाचार को भी महत्त्व देते थे, उक्त के विरोधी-वचन का परिहार करने में दत्तचित्त होकर काव्य मे मनोरञ्जन-वादी अनुपादेय-पक्ष का विरोध करते हुए जीवनवादी दृष्टि का उन्मेष किया। जीवनवादी दृष्टि की बढ़ती कुछ सहृदयो को असह्य हुई और उन लोगो ने 'रसवादी' दृष्टि को पुनः हस्तावलम्ब प्रदान किया। इस वाद पर भी जब आक्षेप हुआ तो साधारणीकरण के गर्भ से यह अशरीरिणी वाक् प्रकट हुई कि रस से वृत्तियो का परिष्कार होता है—सहानुभूति-वृत्ति का उन्मेष होता है—मानवता देवी अपना हाथ पॉव फैलाती है। यद्यपि अलकार ग्रथो में प्रयोजन निरूपिका-प्रवृत्ति की प्रक्रिया में दूसरी प्रवृत्ति का सक्रम इतिहास प्रस्तुत करना जरा कठिन है, फिर भी जिन बचनो के आधार पर उक्त मतो की उपस्थापना की गई है, उससे स्पष्ट है कि ये सब प्रवृत्तियॉ एक दूसरी की प्रतिक्रिया में सभवतः पनपती रही है। अस्तु, जो भी हो उक्त दृष्टियो की कल्पना निराधार नही है।

एक दृष्टि से काव्यीय प्रयोजनो का वर्गीकरण और किया जा सकता है। इस दृष्टि से (i) कुछ आलंकारिक तो ऐसे है जो यह कहते है कि काव्य से सब कुछ मिल सकता है। (ii) दूसरे वे है जो कुछे परिगणित प्रयोजन का नाम लेते हैं। (iii) तीसरे वे है जो उपदेश लाभ को ही प्रधान मानते है। (iv) और चौथे वे हैं जो विभिन्न प्रयोजनों के बीच 'रस' को ही

प्रामुख्य देते हैं। (v) कुछ आचार्य ऐसे भी हैं जिनमें अंशतः इन सभी विधाओं का मिश्रण है।

प्रथमदलः—इस दल में एकावलीकार विद्यानाथ का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने स्पष्ट कहा है—"तत्किञ्चिन्न विलोक्यते न किल यत्काव्यात्समुन्मीलति"—ऐसा कुछ भी नहीं देखा जाता, जो काव्य से उन्मीलित न होता हो। वैसे तो नाट्यशास्त्र में इतने प्रयोजन गिनाये गये हैं कि उसको भी इसी कोटि में कहा जा सकता है। प्रयोजन का इतना लम्बा चौड़ा विवरण और कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ एक यही श्लोक लीजिए—

"दुःखार्तानां श्रमार्त्तानां शोकर्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ॥१।१।१२

सभी लोगों को विश्राम सभी कुछ देकर ही प्राप्त कराया जा सकता है। वैसे चतुवर्ग फल प्राप्ति की बात तो बहुतों ने की है। काव्य से चतुर्वर्ग फल प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है—इसकी सयुक्तिक व्याख्या दर्पणकार ने की है।

"चतुवर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पाधियामपि।
काव्यादिव ...."

यह दर्पणकारकार का उद्घोष है। ये ही नहीं, बहुत पहले दण्डी ने भी कहा—'चतुवर्ग फलं प्राप्तम्। काव्यं सद्दृष्टदृष्टार्थं कीर्तिप्रीतिहेतुत्वात्' कहने वाले वामन भी काव्य का फल दृष्ट एवं अदृष्ट सभी मानते हैं। यद्यपि 'तस्मात्कीर्तिमुपादातुमकीर्ति च व्यपोहितुम्। काव्यलंकारशास्त्रार्थः प्रसादः कविपुङ्गवैः ॥' के द्वारा कीर्तिलाभ एवं अकीर्ति नाश पर भी बल देते हैं और बहुत बाद तक केशव मिश्र भी कहते रहे—'हिताय सुकविः कुर्यात्'। श्रीपादने 'हित' पद की व्याख्या करते हुए कहा—'लाभः पूजा ख्यातिधर्मः कामश्च मोक्षश्च। इष्टानिष्टप्राप्तित्यागौ ज्ञानं फलानि काव्यस्य' इस प्रकार यह काव्यस्तावक वर्ग भरत से लेकर बराबर बना रहा। पण्डितराज ने भी कहा—'तत्र कीर्तिपरमाह्लाद-गुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य।' अर्थात् उन्होंने काव्य के दो-चार प्रयाजनों का नामोल्लेख करते-करते 'अनेक प्रयोजनकस्य' कहकर प्राण छुड़ाया।

सम्प्रति, उक्त मत के समर्थन में कुछ उपपत्तियों का भी उल्लेख आवश्यक है। दर्पणकार ने ऐसा कहा है काव्य भी शिक्षक की भाँति उपदेष्टा का ही कार्य करता है, पर इतना अंतर अवश्य है कि शिक्षक साक्षात् उपदेश देता है और काव्य परम्परया। परम्परया का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार

पाठशालामें शिक्षक गुणी व्यक्ति को पुरस्कार प्रदान कर और दुष्ट को दण्ड देकर दूसरो के सामने यह आदर्श उपस्थित करता है, मौन उपदेश ही करता है कि जो श्रेयस्कर कार्य करेगा, वह इसी प्रकार पुरस्काराई होगा और जो अश्रेयस्कर कार्य करेगा, वह दण्डार्ह। उसी प्रकार नायक एवं प्रतिनायक को प्रशस्त एवं गर्हित फल प्रदान कर ग्राहक को प्रशस्त-फल दान करने में क्षम नायक के जैसे सत्कृत्यो में प्रवृत्त करता है और गर्हित-फल प्रदायक प्रतिनायक के जैसे अकरणीय कार्यो से निवृत्त करता है। इस प्रकार काव्य सत्कार्यों में प्रवृत्त और असत्कार्यों से निवृत्त करता है। धर्म से अर्थ प्राप्ति, अर्थ से काम प्राप्ति, और धर्मजनित फल में अनासक्त रहने से मुक्तिलाभ होता है।

हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि इतनी लम्बी परम्परा जोड़कर यदि काव्य को चतुवर्ग-प्राप्ति का कारण मान लिया जाय, तब तो किसी भी रूप से सम्बद्ध किसी भी वस्तु को किसी कार्य का कारण कहा जा सकता है। किसी वृत्ति के फल का कारण उस वृक्ष के वपन कर्त्ता को अथवा वपन कर्त्ता ने जिस घड़े से उस वृक्ष का सेक किया उस घड़े को भी परम्परया कारण मानना क्या कभी ठीक कहा जा सकता है? नहीं। इसी प्रकार काव्य का और चतुवर्ग फल का यह बादरायण सम्बन्ध भी स्वीकार्य नहीं है।

यह दल फिर पूर्वोक्त-उपदेश से प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से धर्म और धर्म से अन्य पुरुषार्थ का परित्याग कर दूसरा रास्ता ग्रहण करता है और तर्क यह देता है कि स्तोत्रात्मक काव्यो से भगवन्नाम स्मरण साक्षात् धर्म ही तो है। काव्य निर्माण से साक्षात् अर्थोपलब्धि आज के युग में किससे छिपी है? अर्थ कामप्रद है ही और भगवन्नाम से होने वाले धर्म के फल में यदि कर्त्ता या ग्राहक लिप्सा न रखे, तो मुक्ति भी है। इस प्रकार काव्य साक्षात् चतुवर्ग का दाता हुआ। हाँ काम के सम्बन्ध में आप कह सकते हैं कि वह काव्य का साक्षात् फल नहीं है, बल्कि अर्थ द्वारा फल है। तथापि इतने एकाध वस्तु के व्यवधान से कार्य कारण भाव भंग नहीं होता। दण्ड साक्षात् घडा नहीं बनाता, चक्र में भ्रमी पैदा करके ही घड़ा बनाता है, पर क्या इतने व्यवधान के कारण दण्ड को घड़ा का कारण लोक में नहीं कहा जाता? श्रुतियाँ याग को स्वर्ग का कारण कहती हैं, कहाँ याग साक्षात् स्वर्ग का कारण है? अदृष्ट का व्यवधान रहता ही है। याग अदृष्ट पैदा करता है और अदृष्ट से स्वर्ग है। इसी प्रकार यदि काव्य अर्थ द्वारा काम पैदा करता है तो इतने मात्र से काम के प्रति अर्थ को कारण न कहा जाय—यह युक्ति संगत नहीं।

हाँ यह अवश्य कह सकते हैं कि जो काव्य स्तोत्रात्मक नहीं है या जिन

काव्यों में भगवत्-चर्चा नहीं है, जो अमरुशतक और मेघदूत की भाँति शुद्ध शृङ्गारिक हैं उनसे क्या फल होगा ? उनमें भगवन्नाम संकीर्त्तन आदि से फल नहीं हो सकता ? तो यह न समझें कि यह दल आपके तर्क से मौन हो गया। वह 'एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग् ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति' इस वेद वाक्य के ढाल पर आपका वार रोक लेता है और कहता है कि जिस कवि ने एक भी सन्तोषकर शब्द का काव्य में निवेश कर दिया अथवा जिसने इस सुप्रयुक्त शब्द के मर्म को ठीक-ठीक जान लिया वह कवि और वह ग्राहक दोनों स्वर्लोक तथा मर्त्यलोक उभयत्र अभीष्ट-प्राप्ति कर सकते हैं ऐसे लोगों को शब्द के सुप्रयोग एव ज्ञान से अवश्य धर्म लाभ होता है। फिर वेद वाक्य जब कहता है तब स्पष्ट है कि मेघदूत एवं अकरुश तक जैसे काव्यों के मर्मज्ञ प्रणेता और ग्राहक भी धर्म लाभ से वंचित नही हो सकते और प्रयोजन तो उक्त पद्धति से सिद्ध ही है। इस दल वालों के पथ में कुछ रोड़े और है।

रोड़ा अटकाने वालों का कहना है कि धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति तो काव्य से सिद्ध है, पर मुक्ति कैसे काव्य से मिलेगी—यह बात समझ में नहीं आती। श्रुति कहती है "तमेवविदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'—उस परम-तत्त्व के ज्ञान से ही मुक्ति हो सकती है, दूसरा कोई रास्ता नही है। 'ऋते ज्ञानान्न-मुक्तिः' यह भी सुना जाता है। इस स्थिति में तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का नियत कारण कहा जाता है, काव्य और मोक्ष का क्या सम्बन्ध है ? इस दल वाले इसका उत्तर सम्हल कर यह देते है कि जिन वेदात वाक्यों से तत्त्व ज्ञान होता है उनका अर्थ समझने की व्युत्पत्ति काव्य-प्रदान करता है। काव्य सरस ढगसे नाना प्रकार के शब्दों एवं अर्थों का ज्ञान करता है और इन शब्दार्थों के ज्ञान से मोक्षोपयोगी वेदान्त वाक्यो के ज्ञान में सहायता मिलती है। इस प्रकार काव्यो का मोक्ष में भी किसी ने किसी रूप में उपयोग है ही।

यद्यपि पुरुषार्थ की सिद्धि वेद शास्त्र वाक्यो के अध्ययन मनन से भी हो सकती है और कुछ लोग तो 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य.' आदि विधियों को देखकर यह कहा करते हैं कि वस्तुतः वेदशास्त्र वाक्यो से ही चतुवर्ग की प्राप्ति माननी चाहिये काव्य से नहीं। ठीक है संसार में सब की प्रकृति एक-सी नहीं होती। कुछ लोग सुकुमार मत के होते हैं और कुछ लोग कर्कश, कुछ लोग रसमय वाङ्मय के उपासक होते हैं और कुछ तर्क-कर्कश सरस्वती के भक्त। इस प्रकार वेदशास्त्र आदि नीरस वाङ्मय में जिन सुकुमार मतिवालो का प्रवेश संभव नहीं है, उनके लिए तो काव्य के ही सरस मार्ग द्वारा सब साध्य है और जब सुकुमार मतिवालो का वह साधन बन सकता है तो फिर कठोर बुद्धि वालो के लिए तो

और भी सुकुमार मार्ग होगा। इस प्रकार इस मार्ग से बड़ी सरलता के साथ चतुर्वर्ग की प्राप्ति सभव है।

अग्नि पुराण में भी कहा गया है—"त्रिवर्ग साधनं नाट्यम्"—नाट्य से धर्म अर्थ एव काम की प्राप्ति सभव है। विष्णु पुराण में तो यहाँ तक कहा गया है—

"काव्यालापांश्च ये केचिद्गीतकान्यखिलानि च।
शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः" ॥

ऐसा लगता है जैसे "काव्यालापांश्च वर्जयेत्" का उत्तर यहाँ दिया गया हो। मतलब यह कि जिस प्रकार राम आदि विष्णु के अवतार है उसी प्रकार शब्द मूर्ति काव्य भी विष्णु का अवतार ही है। अवतार तो फिर सभी कुछ दे सकता है। इस प्रकार इस दल के मन्तव्य की सोपपत्तिक सिद्ध की गई।

द्वितीय दलः—कुछ अलंकार शास्त्री ऐसे भी हैं, जिन्होने परिगणित प्रयोजन ही स्वीकार किये है। ये प्रयोजन भी कवि एवं सहृदय दोनो की दृष्टि से हैं। कुछ दिनो तक "कीर्ति और प्रीति" काव्य के प्रयोजन के रूप में चर्चित होते रहे। ऐसे लोगों में भामह (१।२) दण्डी (१।१०५) वामन (१।१।५) रुद्रट (१।२१।२२) और भोज (।१।२) का नाम लिया जा सकता है। बाद में चलकर प्रकाशकार ने छह प्रयोजनो की चर्चा की है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

यश, अर्थ प्राप्ति, व्यवहार पाटव, अशिव निवृत्ति, परानन्द एवं उपदेश। हेमचन्द्रने इन्हें तीन ही प्रयोजनों में लपेट लिया है–आनन्द,यश और उपदेश।

"काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्यतयोपदेशाय च"

इनका कहना है कि शेष प्रयोजनों की सिद्धि और माध्यमों द्वारा भी हो सकती है। प्रकाशकार द्वारा उक्त छह प्रयोजनो में से यश, अर्थ एव अनर्थ निवृत्ति कवि मात्र के लिए है। सहृदय को तो छहो की प्राप्ति संभव है। कवि की दृष्टि से काव्य-निर्माण द्वारा यश का मिलना प्रसिद्ध ही है। वाल्मीकि एवं व्यास तो लोकोत्तर पुरुष हैं, उन्हें यश मिलना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु कालिदास को यश न तो आनुवशिक ख्याति से और न तो निजी काव्येतर कर्म से ही मिली। उन्हें यदि यश मिला, तो केवल अपनी कृतियों के कारण। यद्यपि यश अन्य लौकिक उपायो से भी प्राप्त हो सकता जैसे, कर्ण, हरिश्चन्द्र, शिव एवं दधीचि आदि को मिला। लौकिक उपायो से यश प्राप्त करने में

इन लोगों का धैर्य देखें और कालिदास का पथ निहारें—दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जायगा।

इसका यशः काय ऐसा होता है, जिसे जरा मरण का भय नहीं। अर्थ प्राप्ति के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं। आज के युग में इस सरल पथ की व्याख्या करने की अपेक्षा नहीं है। प्रसिद्धि है कि मयूर नामक कवि को कुष्ठ हो गया था, सो उसने सूर्य शतक का निर्माण कर उसका नाश कर डाला। इस प्रकार अनर्थ-निवृत्ति स्वरूप का साक्षी इतिहास है ही। कवि के अतिरिक्त सहृदय को ये सभी प्रयोजन उपलब्ध होते हैं। पण्डित काव्य के सदभ्यास से यशः प्राप्ति एवं अर्थ प्राप्ति तो करता ही है, स्तोत्र पाठ से अनर्थ निवृत्ति भी कर लेता है। काव्य के अभ्यास से श्रोता को राजा आदि के उचित आचार व्यवहार का शीघ्र ज्ञान हो जाता है। कहाँ किससे किस ढंग से वाक्प्रयोग करे इसकी शिक्षा जैसी काव्य से मिलती है वैसी और साधन से नहीं। आनन्द की प्राप्ति शास्त्रीय परम्परा के अनुसार यज्ञ यागादि से भी होती है और वेदांत-वेद्य साधनो से भी। पर पहले साधन से मृत्यु के पश्चात् ही स्वर्गोपलब्धि और आनन्दानुभूति हो सकती है, जबकि दूसरे साधन द्वारा यद्यपि जीवन काल में भी हो जाती है, परन्तु इतना अवश्य है कि वह काफी विलम्ब से मिलती है काव्य-मनन से सद्यः परा विश्रान्ति मिल जाती है, चित् का शीघ्र ही विस्फार हो जाता है। रहा, उपदेश सो यद्यपि नीति शास्त्र एवं इतर-शास्त्रों से भी मिलता है, परन्तु उन ग्रन्थो में कर्कश-बुद्धि वाले की ही प्रवृत्ति होती है और जिनकी प्रवृत्ति होती भी है उन पर ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता कि वे तुरन्त उसको कार्यान्वित करने में प्रवृत्त हो जायें। काव्य के विषय में यह बात नहीं है, पहली बात तो यह है कि इसमें सुकुमार मति और कर्कश मति सबका प्रवेश होता है। दूसरी बात यह है कि प्रवेश भी रंजक ढंग से हो जाता है। तीसरी बात यह है कि काव्य का प्रभाव अत्यन्त शीघ्र एवं प्रभावकर रूप से पड़ता है और दर्शक या श्रोता शीघ्र ही सत्कार्य में प्रवृत्ति तथा असत्कार्य से निवृत्त हो जाता है। अतः काव्यीय उपदेश का शास्त्रीय उपदेश से व्यतिरेक स्पष्ट है। इस प्रकार परिगणित प्रयोजनो की भी चर्चा सदा लक्षण ग्रन्थों में होती रहती है।

यत्र-तत्र लक्षण ग्रन्थों में देखने से यह स्पष्ट झलकता है कि इन परिगणित प्रयोजनों में सहृदय की दृष्टि से कभी-कभी 'उपदेश और प्रायः अधिक स्थलों "प्रीति" या "आनन्द" की ही प्रधानता दिखाई देती है। उपदेश की चर्चा

तो बहुतों ने की है, पर प्राधान्य देने वाले कुछ एक-ही है। ऐसे व्युत्पत्ति-वादियों की चर्चा पहले भी की जा चुकी है। उदाहरण के लिये, महिम भट्ट को ही लीजिए—इन्होंने व्यक्ति विवेक प्रथम विमर्श (पृ० ६६) में कहा है कि—"कविव्यापारो हि विभावादिसयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी काव्यमुच्यते। तच्चाभिनेयाभिनेयार्थत्वेन द्विविधम् सामान्येनोभयमपि च तच्छास्त्रीयद्विधि-निषेधव्युत्पत्ति फलम्। केवलं व्युत्पाद्यजनजाड्याजाड्यतारतम्यापेक्षया काव्य नाट्यशास्त्ररूपोऽयमुपायमात्रभेदो न फलभेदः"—अर्थात् काव्य कवि का व्यापार है। यह व्यापार विभावादि की सम्यक् योजना ही है, जिसका इससे अव्यभि-चरित संबध है। यह काव्य अभिनेय एव अनभिनेय अर्थ की दृष्टि से दो प्रकार का होता है। सामान्यतः काव्य अपने इन दोनो रूपो में शास्त्र की भाँति कृत्य की विधि और अकृत्य का निषेध करता है करणीय और अकरणीय की व्युत्पत्ति प्रदान करता है। काम दोनो का एक ही है, फल दोनो का अभिन्न ही है। अतर केवल यह है कि शास्त्र का व्युत्पाद्य पुरुष जड़ नहीं होता और काव्य का जड़ भी हो सकता है। साराश यह है कि उपाय मात्र का अतर है फल का नहीं।

इन लोगो का अपने पक्ष में यह भी कहना है कि कवि अपने ग्रथ की यदि सफलता चाहता है, अपने काव्य द्वारा व्युत्पाद्य को व्युत्पन्न बनाना चाहता है, तो इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए काव्य को सरस करना ही पड़ेगा। यदि काव्य में सरसता न होगी तो स्त्री-नृत्य, आतोद्य आदि सुकुमार एवं वासना-तर्पक क्रिया-कलापों में व्यासक्त लक्ष्मी पुत्रों की प्रवृत्ति ही नहीं होगी, और अप्रवृत्त को व्युत्पत्ति लाभ कहाँ से?—कहा है—"अन्यथा प्रवृत्तिरेव सा न स्यात् किमुतव्युत्पत्तिः" काव्यारम्भस्य साफल्यमिच्छता तत्प्रवृत्तिनिबन्धनं विनास्य रसात्मकत्वमवश्यमभ्युपगन्तव्यम् [पृ० ६७]। इससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये काव्य का प्रधान प्रयोजन 'व्युत्पत्ति' बताते हैं और सरसता को उसका साधक।

राजशेखर ने काव्य की इस उपदेशवादी धारा के कुछ विरोधी मतों का उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है—"असत्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्' [छठाँ अध्याय ६१] काव्य में तमाम असत्य बातें भरी रहती है, अतः उसमें उपदेश करने की योग्यता कहाँ? उन्होंने इस प्रसङ्ग में एक उदाहरण दिया है—

स्तेमः स्तोकोऽपि नाङ्गे श्वसितमविकलं चक्षुषां सैववृत्तिर्मध्ये क्षीराब्धिमग्नाः स्फुटमथ च वयं कोऽयमीदृक्प्रकारः। इत्थं दिग्भित्तिरोधःक्षतविसरतया मांसलैस्त्वद्यशोभिः स्तोकावस्था द्दधुत्थैस्त्रिजगति धवले विस्मयन्ते मृगाक्ष्यः ॥

कोई कवि किसी राजा के यश का वर्णन कर रहा है—किसी राजा का यश बढ़ने लगा, सो बढ़ते-बढ़ते जब सारे ससार में फैल गया और उससे भी आगे जाना चाहा, तब दिग्भित्तियो की टकराहट हुई और आगे के अवसर न मिलने से फिर वह यहीं सान्द्र होकर स्थानाभाव वश क्लेश पूर्वक तीनो जगत् में फैला रहा और सारा जगत् उस यशस्तति से एक दम स्वच्छ निर्मल धवल। सो, जब मृगाक्षियो ने इसे देखा, तो उन्हें ऐसा लगा कि हम सब क्षीर सागर मे मग्न है। पर जल मग्न होने पर भी आश्चर्य यह है कि न तो शरीर में किञ्चित् आर्द्रता की अनुभूति होती है, न तो श्वासावरोध होता है और न तो चक्षुस्तेज का तिरोधान। जलमग्न होने का यह कौन सा प्रकार है? हाँ, तो कहने का अभिप्राय यह हुआ कि साहित्य या काव्य ऐसे ही मिथ्या वागाडम्बर से भरा रहता है, फिर उससे क्या व्युत्पत्ति होगी?"

इस आक्षेप पर राजशेखर का कहना है—'नेति यायावरीयः' क्योंकि—

नासत्य नाम किञ्चन काव्ये वस्तु स्तुत्येष्वर्थवादः।
स न परं कवि कर्मणि श्रुतौ च शास्त्रे च लोके च॥ [पृ० ६२]

अर्थात् यायावरीय राजशेखर इस आक्षेप से सहमत नही है। उसका तर्क यह है कि काव्य में सब ऐसा ही नहीं रहता और जितना रहता है, उतना तो श्रुतियां, शास्त्रो एव लोक प्रयोगो में भी देखा जाता है। श्रौत उदाहरण लीजिये—

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरा मा फलेग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः॥

गमनशील पुरुष की जाँघे पुष्पवती, आत्मा वर्धिष्णु एव-फल-प्रापक होते है। ऐसे पुरुष के सभी पाप श्रम के कारण पथ में नष्ट होकर सो जाते हैं। इसी प्रकार प्रशस्त वस्तु का वर्णन चाहे श्रुति हो, चाहे शास्त्र हो और चाहे लोक व्यवहार हो, सर्वत्र अर्थवादमय, अतिशयोक्तिमय मिलता ही है।

तो सभी वाङ्मय फिर अशक्त है और उतना होने पर भी यदि पूर्ण वाङ्मय शक्त है, तो काव्य भी शक्त है।

इसी प्रकार एक और विरोधी मत की चर्चा राजशेखर ने की है—"असदुपदेशकत्वात्तर्हि नोपदेष्टव्यं काव्यम्—इत्यपरे' [पृ० ६६] अर्थात् काव्य यदि असत् मार्ग का उपदेश करते है, तो उन्हें उपदेश दान की क्षमता कहाँ? यह भी कुछ लोगों की धारणा है उदाहरण के लिए देखे—

वयं बाल्ये डिम्भास्तरुणमनि यूनः परिणता—
वपीच्छामो वृद्धान् परिणयविधेस्तु स्थितिरियम्।

त्वयारब्ध जन्म क्षपयितुममार्गेण किमिदं,
न ते गोत्रे पुत्रि ! क्वचिदपि सतीलाञ्छनमभूत ॥

पातिव्रत्यपूर्वक जीवन-यापन की कामना करने वाली पुत्री के प्रति किसी वेश्या की उक्ति है—"हे पुत्री ! यह तुम क्या कह रही हो, भला कहीं ऐसा अमार्ग भी ग्रहण करना चाहिए जैसा कि तुम चाहती हो ? आज तक यह पातिव्रत्य का लाञ्छन हमारे कुल में किसी को लगा ही नहीं; फिर तुम क्यो ऐसा दाग लगाने की बात सोचती हो ? देखो हमलोग ऐसे है कि यहाँ शैशव में शिशुओं से तारुण्यकाल में तरुणो से और बुढ़ौती मे बुढ़वो से भी परिणय की स्थिति रहा करती है। अरे ! राम ! राम ! यह तुमने क्या प्रतिज्ञा कर ली ?' सारांश यह कि भला इस प्रकार की निर्मर्याद पूर्ण शिक्षायें देने वाला काव्य क्योकर उपादेय माना जाय ?

इस आक्षेप का उत्तर राजशेखर के ही मुँह से सुनेः—

"अस्त्ययमुपदेशः किन्तु निषेध्यत्वेन, न विधेयत्वेन ।"
—इति यायावरीयः ।

य एवं विधा विधयः परस्त्रीषु पुंसां सम्भवन्ति तानवबुध्येतेति कवीना भावः । किञ्च कविवचनायत्ता लोकयात्रा, "सा च निःश्रेयसमूलमिति" महर्षयः । यदाहु :—

काव्यमय्यो गिरः यावच्चरन्ति विशदा भुवि ।
तावत्सारस्वतं स्थानं कविरासाद्य मोदते ॥ पृ० ६६॥

अर्थात्—ऊपर जो उक्ति है वह भी उपदेश ही है, पर उपदेश विधि रूप में नहीं, निषेध रूप में । अर्थात् काव्य इस श्लोक द्वारा यह उपदेश देता है, कि ऐसे कार्यो को नहीं कराना चाहिये । ऐसी जो बातें परकीय स्त्री के सम्बन्ध में हो उन सबका परित्याग करना चाहिए । दूसरी बात यह भी है कि लोकयात्रा कवियो के ही वाक्यप्रदीप से चलती रहती है । मानव के लिए कवियो के व्यापार अत्यन्त कल्याणकारी रूप में अवतीर्ण होते हैं और—

इस भूलोक में जब तक शुभ्र काव्यमयी वाणी का प्रचार रहेगा तब तक कवि सारस्वत लोक में मोद प्राप्त करता रहेगा । और जिस सारस्वत मार्ग का प्रवर्तन महर्षि वाल्मीकि व्यास जैसे पुण्यात्माओं ने किया, भला वह मार्ग कभी दूषित हो सकता है ?

विरोध में एक तीसरे मत का भी उल्लेख आचार्य ने किया है—
"असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्" इति च केचित् ।

अर्थात् काव्य इसलिये उपदेश प्रद नहीं है कि वह असभ्य अर्थों से भरा रहता है। हास्यार्णव प्रहसन एक रूपक है, उससे उदाहरण लें—

वेदी सज्जघनञ्च तत्परिसरे कुण्ड वराङ्ग फलं,
नैवेद्याय कुचद्वयं मृगदृशः कामानलः प्रोज्ज्वलः।
होताऽहं खलु शुक्रहव्यनिवहः शेफः स्रुवो वर्त्तते,
नित्य पञ्चशराध्वरं त्यजति कः सद्यः सुख यत्फलम् ॥२।१६

लेखनी इसका अर्थ लिखने से पराभव मान गई है। भला, ऐसे भ्रष्ट अर्थों से भरा काव्य क्योंकर उपदेष्टव्य होगा ?

इसके उत्तर में आचार्य ने ऐसे ही अर्थों से भरा श्रौत उदाहरण भी देकर श्रुति और शास्त्र की कोटि में ही काव्य को भी बिठाया है। देखिए, एक श्रौत उदाहरण—"योनिरुदुलूखलं शिश्नं मुसलं मिथुनमेतत्प्रजननं क्रियते।" देखें कि इस होड़ा होड़ी में विजय श्री किसके हाथ है ? तो मतलब यह कि ऐसे प्रसग अवसर-अवसर पर सर्वत्र आ ही जाते हैं, तो इससे होता ही क्या है ?

ऐसे ही स्थलों में थोड़े न वाङ्मय भरा है ? निष्कर्ष यह कि काव्य की उपदेशमयता में कोई क्षति नही है।

इस प्रकार महिम भट्ट या इस धारा के अनुयायियो का मत ठीक ही है। उसमें कोई त्रुटि नहीं। कहने को तो बहुत से आचार्य हैं, जो काव्य को उपदेशप्रद कहते हैं। रुद्रट को ही देखें—

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥

सुकुमार मतिवाले नीरसशास्त्र से सदा भीत होते रहते हैं, अतः उन लोगों को शास्त्र साध्य वस्तुकी प्राप्ति काव्यसे ही होती है। हेमचन्द्र ने स्वाभिमत काव्य प्रयोजनो में से एक 'कान्ता तुल्योपदेशाय च' कहा ही है। इन लोगों के अतिरिक्त साहित्य चूडामणि में भी लिखा है—

"स्वादु-काव्य-रसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुज्यते।
प्रथमालीढमधवः पिवन्ति कटुभैषजम् ॥

काव्य के माध्यम से उपदेश का गले से नीचे उतरना वैसा ही है जैसा मधु-संपुटित कड़वी दवा का। इसी प्रकार एक आचार्य ने और भी कहा है—

"कीर्तिश्च कान्तातुल्यत्वेनोपदेशश्च तत्फलम्"

आचार्य मम्मट ने भी स्वीकार किया है कि—"कान्तेव सरसतापादनेन-नाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं, न रावणादिवदित्युपदेशं······करोति"—जिस प्रकार कान्ता अपनी सरस वाणी से अपनी ओर आकृष्टकर उपदेश देती

हैं, उसी प्रकार भारती भी। लेकिन एक बात ध्यान देने की सदा है कि ये आचार्य उपदेश की चर्चा करते हैं, पर उसको प्रमुख नहीं मानते, वस्तुतः इस कोटि में **महिम भट्ट** के बाद प्रतापरुद्रीयकार का मत आता है। उन्होने कहा है—"यथावेदशास्त्रपुराणादपिहितप्राप्तिरहित निवृत्तिश्च तथा सदाश्रयात्काव्यादपि। इयान् विशेषः। काव्यात् कर्त्तव्यताधीः सरसा अन्यत्र न तथा"। वेद शास्त्र एवं काव्य एकही कार्य हित प्राप्ति एवंअहित निवृत्ति(उपदेश) करते हैं पर अन्तर यह है कि काव्य से वही वस्तु सरस ढंग से मिलती है। शास्त्र से वही वस्तु नीरस ढंग से प्राप्त होती है। काव्य की उपदेश वाली प्रकृति से वक्रोक्ति जीवितकार भी सहमत है—उनका कहना है—

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमार क्रमोदितः।
काव्यबंधोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥१।४

काव्यबध धर्मादि पुरुषार्थों का साधन है, सरस उक्तियों का सागर है और हृदय को आह्लाद देनेवाला है।

दूसरा दल ऐसा है, जो विभिन्न प्रयोजनों में 'आनंद' को प्रामुख्य देता है। महिमभट्ट एवं प्रतापरुद्रीयकार के मत का समुचित समाधान पहले ही लोचनकार ने दे दिया है। उनका कहना है—"तत्र कवेस्तावत्कीर्त्याऽपि प्रीतिरेव सम्पाद्या। यदाह—कीर्त्तिं स्वर्गफलामाहुः श्रोतृणाञ्च यद्यपि व्युत्पत्तिप्रीतिस्तः ·····तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्, अन्यथा प्रभुसंमितेभ्यः वेदादिभ्यो मित्रसमतेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यंरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासंमितत्वलक्षणो विशेष······चतुवर्ग व्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्य फलम्।" लोचनकार ने उन सभी मतवालो के, चाहे वे चतुवर्ग फलवादी हों, चाहे व्युत्पत्तिवादी हो, चाहे उपदेशवादी हों-मत की समीक्षा करते हुए कहा है कि जो लोग कीर्ति और प्रीति को काव्य का प्रयोजन मानते हैं, उन्हें कीर्ति से भी अन्त में प्रीति ही प्राप्य ठहरती है। जो लोग श्रोताओं के व्युत्पत्ति एवं प्रीति लाभ की बातें करते हैं, उन दोनो में भी 'प्रीति' की ही प्रमुखता मान्य है। यदि व्युत्पत्ति ही शास्त्र एवं काव्य दोनों का लक्ष्य हो' तो केवल काव्य की जाया-सम-उक्तिवाली विशेषता नगण्य है। असल में काव्य का साध्य रस ही है।

रस प्रदीपिका में प्रभाकर भट्ट ने लिखा है—"इह तावत्काव्यस्यानेकप्रयोजनकत्वेऽपि रस सवेदनजन्यसुखमेव मुख्यं प्रयोजनम्" अर्थात् काव्य के अनेक प्रयोजनो में रस-संवेदन-जन्य सुख ही प्रमुख प्रयोजन है। ध्वन्यलोककार आनंदवर्द्धन को तो इस पक्ष का महान् आग्रह है। वे आनन्द के प्रामुख्य

को कथमपि गौण नहीं करना चाहते। आनन्द ने कहा है—

नीरसो हि निबधो यः सोऽपशब्दो महाकवेः।
स तेनाकविरेवस्यादन्येनास्मृतलक्षणः॥

ये नीरस शब्द को कवि का अपशब्द मानते हैं। प्रकाशकार ने भी "सकल प्रयोजन मौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तर-मानन्दम्' —अर्थात् आनन्द को ही काव्य के विभिन्न फलो में प्रधान माना है।

निष्कर्षः—इस प्रकार काव्य का साध्य सब कुछ है अथवा कुछ परिमित प्रयोजन है—ये दोनो मतवादी सहृदय एवं कवि दोनो के पक्ष से विचार करनेवाले हैं। बाद में केवल सहृदय की दृष्टि से काव्य प्रयोजन का विचार करने वालों में कुछ लोग 'उपदेश' को और कुछ लोग 'आनन्द' को ही प्रधानता देते हैं। इन चारों प्रकार के विचारको में कुछ लोग ऐसे हैं, जिनमें सभी प्रकार के मतो की सगत चर्चा मिलती है। उदाहरण के लिए साहित्य दर्पणकार को लिया जा सकता है, जिनकी पहले की जा चुकी है।

ध्वान्यालोक तृतीय उद्योत में लोचनकार ने भी कुछ ऐसा विचार उपस्थित किया है, जिसमें उपर्युक्त सभी मतो की विवेचना उपलब्ध होती है, सभी का उपस्थापन दृष्टिगोचर होता है। असल में वह चर्चा अभिनव गुप्त के उपाध्याय के विचारों का साराश है। यह अंश अत्यन्त उपादेय एवं सतर्क होने के कारण ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया जाता है—"इह प्रभु समितेभ्यः श्रुति-स्मृति-प्रभृतिभ्यः कर्त्तव्यमिदमित्याज्ञामात्रपरमार्थेभ्यः शास्त्रेभ्यः ये न व्युत्पन्नाः, न चाप्यस्येदं वृत्तममुष्मात्कर्मण इत्येवं युक्तियुक्तकर्मफल संबध-प्रकटनकारिभ्यो मित्रसंमितेभ्य इतिहासशास्त्रेभ्यो लब्धव्युत्पत्तयः, अथ चावश्य व्युत्पाद्याः प्रजार्थसंपादनयोग्यताक्रान्ताः राजपुत्रप्रायास्तेषा हृदयानुप्रवेशमुखेन चतुर्वर्गोपाय-व्युत्पत्तिराधेया। हृदयानुप्रवेशश्च रसास्वादमय एव। स च रसश् चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तिनान्तरीयकविभावादिसंयोगप्रसादोपनतइत्येव रसोचित-विभावाद्युपनिबन्धे रसास्वादवैवश्यमेव स्वरसभाविन्यां व्युत्पत्तौ प्रयोजकमिति प्रीतिरेव व्युत्पत्तेः प्रयोजिका। प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यं, नाट्यमेव वेद इत्यस्मदुपाध्यायः। न चैते प्रीतिव्युत्पत्ती भिन्नरूपे एव, द्वयोरप्येकविषयत्वात् विभावाद्यौचित्यमेव हि सत्यतः प्रीतेर्निदानमित्यसकृदवोचाम्। विभावादीनां तद्रसोचितानां यथास्वरूपवेदनं फल पर्यन्तीभूततया व्युत्पतिरित्युच्यते[1]।........

उपर्युक्त उद्धरण का भावार्थ यों समझें—वाङ्मय-मात्र को उपदेश की पद्धति की दृष्टि से तीन भागो में बाँटा जा सकता है—(क) श्रुति एवं स्मृति

१—ध्वन्यालोक,—तृतीय उद्योत लोचन पृ० स० ३३६–३३७

जैसा वाङ्मयः—इसमें राजा या गुरु की भाँति कर्त्तव्य कर्मों के विधान की आज्ञा दी जाती है और जो उसका सम्पादन नहीं करता, वह दण्ड या पाप का भागी होता है। (ख) इतिहास पुराण जैसा वाङ्मयः—इसमें मित्र की भाँति विभिन्न कथाओ और दृष्टान्तो द्वारा कर्त्तव्याकर्त्तव्य की ओर इङ्गित किया जाता है। विनेय पुरुष उसके करने न करने में स्वतन्त्र हैं। इससे उसे पाप, पुण्य का भय नहीं है। (ग) काव्य जैसा वाङ्मयः—यह कांता के मधुर एव रसमय व्याहार के समान है, जिसको सुनने के लिए लोग लालायित रहा करते हैं। ऐसे रसमय वाक्य भी उपदेशमय हो सकते है, पर उन वाक्यो को सुनने में जो प्रवृत्ति होती है, वह उसकी रसमयता के कारण, उपदेश तो वाई प्रॉडक्ट है--आनुषंगिक फल है।

वाङ्मय की उक्त तीनो विधाओ का उपयोग उपदेशार्थ किया जा सकता है। ससार में उपदेश के पात्र सभी लोग है। बात यह है कि जीवन यात्रा तो सभी को करनी है और सोद्देश्य करनी है। पुरुषार्थ ही उद्देश्य है। पुरुषार्थ चतुवर्ग धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष है। सो इस उद्देश्य की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब प्रापक को उस विषय की व्युत्पत्ति उक्त-त्रिविध वाङ्मय से उपलब्ध हो। उपदेश के पात्र भी कुछ कर्कश मति के होते हैं और कुछ सुकुमार। कर्कश मति वालो का प्रवेश तो सर्वत्र हो सकता है, पर उन सुकुमार मतिवालो को जो विषय भोग के समुद्र में निमग्न आनदोपासना में ही विभोर रहा करते है, कर्कश बुद्धि साध्य-श्रुति-स्मृति एवं इतिहास पुराण में कैसे प्रविष्ट हो सकते हैं? एक ओर यह स्थिति है और दूसरी ओर उन्हें उपदेश अवश्य देना है, अन्यथा अपना विशाल-व्यवसाय गृह-प्रबन्ध जीवन यात्रा को निबाहेंगे कैसे? तो इस स्थिति में इन लोगो के लिए यही रास्ता है कि अत्यन्त 'प्रीति' मय कथा बंध एवं काव्य-बध से इन लोगो के हृदय को आकृष्ट कर ले। काव्य में ऐसे सरस विभावादि मय इतिवृत्त की योजना की जाय, जिससे चतुर्वर्ग उपाय की व्युत्पत्ति भी प्रसङ्गतः हो जाय। निष्कर्ष यह कि 'व्युत्पत्ति' के लिए 'प्रीति' की नितात आवश्यकता है, विभावादि के स्वरूप सवेदन से व्युत्पत्ति एवं प्रीति दोनो प्राप्त हो जाते हैं। दोनो के लिए एक ही साधन है। हितोपदेश में विष्णु शर्मा ने भी राजपुत्रो को व्युत्पन्न बनाने का बीड़ा उठाया है और वहाँ भी यही क्रम है। इस विवेचना में लोचनकार ने चतुर्वर्ग के उपाय में व्युत्पत्ति लाभ को काव्य में नान्तरीयक कहा है—अनायास प्राप्त होना कहा है। असल में 'प्रीति' ही परमकाव्य प्रयोजन है।

इस प्रकार हम देखते है कि इन दो आचार्यो अभिनवगुप्त एव विश्वनाथ महापात्र ने 'प्रीति' एवं 'व्युत्पत्ति' 'उपदेश' एव 'आनन्द' तथा चतुवर्ग की चर्चा को परस्पर जोडकर बडा ही सुदर उपस्थापन किया है।

काव्य-प्रभेद
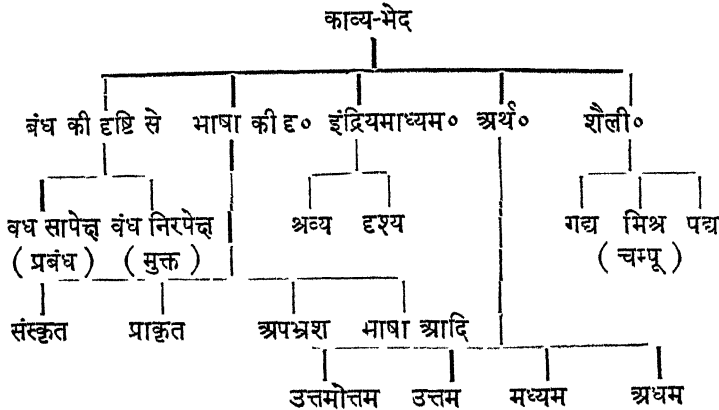
आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'भाषा की दृष्टि' से काव्य-प्रभेद का उल्लेख अपने वाङ्मय-विमर्श मे कदाचित् इसलिये नहीं किया है कि वह आधार कोई बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। वैसे भामह ने जहाँ काव्य-प्रभेदो का उल्लेख किया है वहाँ भाषा की दृष्टि से भी काव्यभेदो का विचार किया है। पर स्वयं भामह की इस निर्दिष्ट से परम्परा का परवर्ती काव्याचार्यों ने समादर नहीं किया।

इन्द्रिय-माध्यस्थ्य की दृष्टि से किया जाने वाला श्रव्य एवं दृश्य (प्रधानतः श्रोत्रेद्रियग्राह्य तथा चक्षुरिन्द्रियग्राह्य) जैसा विभाग काफी प्राचीन विभाग है। काव्य के अर्थ में 'काव्य' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। स्वयं अभिनव गुप्त ने जहाँ कहा है—'काव्ये नाट्ये च' वहाँ श्रव्य के ही पर्याय रूप में 'काव्य' शब्द का प्रयोग किया है। 'दृश्य' के पर्याय के रूप में नाट्य, रूप एवं रूपक-संज्ञाओ का उल्लेख मिलता है।

बंध की दृष्टि से जो विभाग किये गये हैं—वे प्रायः एवं प्रमुखरूप से 'श्रव्य' के ही अन्तन्तर भेद हैं। जिस तरह बध की दृष्टि से किया गया विभाग प्रधानतः श्रव्य' के अन्तर्गत आता है—उसी प्रकार शैली की दृष्टि से किया विभाग भी।

इनमें से अर्थ की दृष्टि से किया गया विभाग ऐतिहासिक क्रम में सबसे परवर्ती है।

काव्य-शास्त्र में काव्य का विभाजन कई दृष्टियों से किया हुआ उपलब्ध होता है। अर्थ, बन्ध, शैली तथा इन्द्रियमाध्यस्थ्य की दृष्टि से काव्य के विभाजन की चर्चा तो प्रसिद्ध ही है, भाषा की दृष्टि से भी काव्य-प्रभेद पर विचार किया गया है। भामह ने भाषा की दृष्टि से संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश तीन एवं वाग्भट्ट ने भूतभाषा को लेकर चार प्रकार बताये हैं। बन्ध, शैली एवं इन्द्रियमाध्यस्थ्य की दृष्टि से किया गया विभाजन बहुत पुराना है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से विभाजन का क्रम नवीन है। इस दृष्टि से सर्व प्रथम आनन्द-वर्द्धनाचार्य ने चर्चा प्रारम्भ की थी। उसका कारण था। वास्तव में, अर्थ की दृष्टि से विभाजन का आधार है अर्थगत चमत्कार का तारतमिक अवस्थान।

अर्थ में चमत्कार का आधान करनेवाला तत्त्व ध्वनि सम्प्रदाय के लोगों ने ही आविष्कृत किया। यही कारण था कि इस सम्प्रदाय के आविर्भाव से पूर्व इस दृष्टि से विभाजन नहीं हुआ। अर्थ को सहृदय की श्लाघा तब मिलती है जब वह 'प्रतीयमान' से संबलित होता है और इस तत्त्व से संबलित होने पर ही वह चमत्कारकारी होता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने रस गंगाधर के आरंभ में ही बताया है—'न तादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्योऽर्थो यो मनागनामृष्ट प्रतीयमान एव स्वतो रमणीयतामाधातुं प्रभवति'—ऐसा कोई भी वाच्यार्थ नहीं है, जो प्रतीयमान से अछूता रहकर चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ हो सके। अब, यह बात भली प्रकार समझी जा सकती है कि जिस अर्थ के संपर्श से दूसरे चमत्कारी हो जाते हैं, वह स्वय कितना चमत्कारी हो सकता है।[1] निष्कर्ष यह कि 'प्रतीयमान' अर्थ का काव्य में जो स्थान होगा, अर्थ की दृष्टि से वह काव्य उस कोटि का माना जायगा। आनन्दवर्द्धन ने प्रतीयमान की स्थिति काव्य के भीतर तीन रूपों में मानी है यही कारण है कि उनके मत से काव्य के तीन प्रभेद होते है—

१—आनन्दवर्द्धन तथा उनके अनुयायी और काव्य-भेद—ध्वनि के रूप में काव्य के आत्मा 'प्रतीयमान' अर्थ को माननेवाले लोग 'आनन्द' के अनुयायी कहे जाते है। सिद्धांत रूप में ये लोग भी वस्तुतः 'रस' को ही काव्य का आत्मा मानते है। ध्वन्यालोक में "काव्यस्यात्मा स एवार्थः" से यही तो कहा गया है। औचित्य की दृष्टि से प्रतीयमान की स्थिति पहले तो दो रूपों में संभव है—(१) स्फुट रूप में (२) तथा अस्फुटतर रूप में। प्रथम स्थिति का भी प्रतीयमान कभी प्रधान रूप से प्रतीत हो सकता है और कभी अप्रधान। इस प्रकार सब

मिलाकर तीन स्थितियाँ हुईं—(१) स्फुट रूप में प्रधान स्थिति (२) स्फुट रूप में अप्रधान स्थिति (३) अस्फुटतर रूप में स्थिति। अर्थ—प्रतीयमान अर्थ—की प्रथम स्थिति रहने पर 'उत्तम काव्य', द्वितीय स्थिति रहने पर 'मध्यम' तथा तृतीय स्थिति रहने पर 'अधम' काव्य माना गया है। उत्तम काव्य को 'ध्वनि काव्य', मध्यम काव्य को 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' तथा अधम काव्य को 'चित्र काव्य' कहते हैं। चित्र काव्य का अर्थ है चित्र की भाँति निष्प्राण काव्य। प्राण या आत्मा प्रतीयमान अर्थ है और उसकी स्थिति चित्र काव्य में इस प्रकार होती है जैसे वह हो ही नहीं, इसीलिये उसे निष्प्राण होने के कारण चित्र काव्य कहते हैं। आनन्दवर्द्धन की भाँति प्रकाशकार मम्मट एवं विद्यानाथ आदि ने इसी विभाजन-पद्धति को स्वीकार किया है। अभिनव गुप्त ने चित्र काव्य नाम के तीन कारण बताये हैं—काव्यानुकारित्वात्, आलेखमात्रात्, कलामात्राद्वा।

२—व्यक्तिविवेककार महिम तथा काव्य प्रभेद—भट्ट जी काव्य शास्त्र में काव्यानुमितिवाद' के उपस्थापक हैं। ये 'प्रतीयमान' नाम का कोई अर्थ ही स्वीकार नहीं करते। ये शब्द से दो ही प्रकार के अर्थों की प्रतीति मानते हैं—वाच्य तथा अनुमेय। इन्होंने यह बताया है कि लौकिक अर्थ ही जब काव्यीय व्यापार से प्रतीत होते हैं, तो काव्य की ऐसी महिमा है कि वे सुन्दर जान पड़ने लगते हैं और यदि काव्यीय अनुमान से मिले तब क्या पूछना। वास्तव में जिसे और लोग 'प्रतीयमान' कहते हैं, उसे ये 'अनुमेय' सिद्ध करते है और काव्य में उसकी एक ही प्रकार की स्थिति मानते है। बात यह है कि जब काव्य में दो ही अर्थ है—वाच्य तथा अनुमेय, तब वाच्यार्थ सदैव ही अनुमेय की प्राप्ति में साधन होगा और अनुमेय साध्य। साध्य सर्वथा प्रधान ही होगा। अतः अनुमेय (रस) अर्थ सर्वदा प्रधान की स्थिति में ही रहने से काव्य एक ही प्रकार का हो सकेगा।

३—विश्वनाथ महापात्र और काव्य के प्रभेद—विश्वनाथ ने 'प्रतीयमान' अर्थ का खंडन नहीं, अपितु समर्थन ही किया है, परन्तु इन्होंने विभाजन में इस अर्थ की स्थिति का सहारा न लेकर अपने काव्य-लक्षण का सहारा लिया है। उनका काव्य लक्षण है-वाक्य रसात्मक काव्यम्-[रसमय वाक्य ही काव्य है।] रसमयता की स्थिति स्फुट रूप ही में होगी, अस्फुटतर रूप में नहीं और हो भी अस्फुटतर रूप में तो वह इन्हें मान्य नहीं। अस्फुटतर रूप में रस का संस्पर्श वाक्य में काव्यत्व का आधान नहीं कर सकता। सारांश यह कि स्फुट रूप में ही रसमयता से सम्पन्न वाक्य काव्य कहा जा सकता है। स्फुट रूप में रसमयता की दो ही स्थितियाँ हो सकती हैं—प्रधान तथा अप्रधान। अतः, काव्य के

दो ही भेद होंगे—ध्वनि काव्य तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य। इन्हें उत्तम एवं मध्यम काव्य भी क्रमशः कहा जा सकता है।

(४) पण्डितराज जगन्नाथ तथा काव्य प्रभेदः—महापात्र विश्वनाथ की भाँति पडितराज ने भी अपने काव्य लक्षण में काव्यत्व के प्रयोजक तत्त्व का ही आधार लिया है और उसी दृष्टि से प्रभेदो की चर्चा की है। जिस प्रकार विश्नाथ ने काव्यत्व की सत्ता 'रसमयता' पर मानी है उसी प्रकार पंडितराज ने 'रमणीयता' पर। पण्डितराज का काव्यलक्षण है—'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्—' रमणीयता से भरे अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है। विश्वनाथ की 'रसमयता' से पण्डितराज की 'रमणीयता' व्यापक है। 'रमणीयता केवल अलंकार-प्रधान काव्यो में से भी मिल सकती है पर 'रसमयता' नही। 'रसमयता' के लिए तो पुष्कल रूप में विभावादि का संयोग अपेक्षित है। अस्तु। 'रमणीयता' प्रतीयमान के संस्पर्श से ही आती है, यह ऊपर कहा जा चुका है। रमणीयता वह तत्त्व है जो लोकोत्तर अह्लाद उत्पन्न करने वाले में समाया है। अर्थात् रमणीयता समन्वित वस्तु ही लोकोतर चमत्कार उत्पन्न कर सकती है। अच्छा, तो यह रमणीयता प्रतीयमान की प्रधान स्थिति में उत्तमोत्तम, अप्रधान पर स्फुट स्थिति में 'उत्तम', अस्फुटतर स्थिति में मध्यम तथा अधम कोटि की है। अर्थ-चित्र तथा शब्द-चित्र दोनों स्थानो में अस्फुटतर स्थिति रहती है, परन्तु शब्द-चित्र की अपेक्षा अर्थचित्र में रमणीयता की मात्रा अधिक होती है। इस प्रकार आनन्द के 'चित्र काव्य' के भी ये दो भेद स्थिर कर लेते है मध्यम तथा अधम। इस प्रकार इनके मत से काव्य के अर्थ की दृष्टि से चार प्रभेद हुए १—उत्तमोत्तम काव्य २—उत्तम काव्य ३—मध्यम काव्य ४—अधम काव्य।

इस प्रकार यह स्पष्ट है अर्थ की दृष्टि से महिम भट्ट एक, विश्वनाथ महापात्र दो, आनन्द या मम्मट तीन तथा पण्डितराज चार प्रकार के काव्य मानते है।

काव्यरूपो या काव्य प्रभेदो का विभाजन पर का जो चित्र पहले प्रस्तुत किया गया है उसकी व्याख्या में बताया गया है कि शैली की दृष्टि से किया गया विभाजन भी मुख्यत: श्रव्य काव्य के अवान्तर भेदों में ही उपयोगी है। गद्यशैली में लिखे गये श्रव्य-काव्य के प्रभेदों पर विचार करते हुए भामह ने ने दो भेदो का मुख्यत उल्लेख किया है–कथा एवं आख्यायिका और प्रत्येक की भेदक विशेषताओ का उल्लेख करते हुये यह कहा है कि आख्यायिका एक काव्य रूप है (क) जो निर्मल, श्रव्य एवं विषयानुरूप मधुर पदावली में लिखी जाती है। (ख) इसमें वक्त्र एवं अपवक्त्र जैसे छंदो का इसलिये प्रयोग किया जाता है कि वे एक अवसर विशेष पर भावी घटना की सूचना दें। कहा ही है–"कालेभाव्यर्थशंसि च"। पर 'हर्षचरित' में टीकाकार शंकर ने उद्धृत किया है–"काव्ये काव्यार्थशसि च"। अस्तु, जो भी हो–पर वक्त्र एवं अपवक्त्र छंदों का प्रयोग एक विशेष भेदक है। (ग) इसका अर्थ उदात्त होता है। (घ) इसका कथानक साभिप्राय होता है–जिसमें कयाहरण, सग्राम, विप्रलम्भ, तथा नायक का उदय वर्णित रहता है। (ङ) इसके खडों की सज्ञा 'उच्छ्वास' दी गई है। (च) इसकी कथा स्वयं नायक द्वारा उपस्थित होती है। विपरीत इसके कथा काव्य में (क) वक्त्र एव अपवक्त्र जैसे छदों का प्रयोग नहीं होता। (ख) इसके खडों की भी संज्ञा 'उच्छ्वास' नहीं दी गई रहती। (ग) इसकी भाषा सस्कृत या अपभ्र श कुछ भी हो सकती है। (घ) यहाँ की कथा नायकेतर द्वारा प्रस्तुत की जाती है।

भामह के अनंतर आनेवाले दण्डी ने भामह का खण्डन करते हुए कहा है कि कथा और आख्यायिका में कोई खास अंतर नहीं है–जो भी ऊपर भेदक तत्त्व निर्दिष्ट किये गये हैं–वे सर्वथा औपचारिक हैं, तात्त्विक नहीं। यह कहना कि कथा का नायक स्वयं अपना वर्णन कथा में नहीं करता, क्योंकि कोई भी उदात्त नायक अपने मुँह से अपना गुण वर्णन नहीं करता–ठीक नहीं। नायक भी अपने विषय में यदि सही-सही ऐतिहासिक इतिवृत्त को प्रस्तुत करता है—तो इसमें दोष क्या है? कथा का प्रस्तोता नायक हो नायकेतर–यह कोई सुदृढ़ विभाजक तत्त्व नहीं है। तीसरे इस विषय में शिथिलता भी देखी जाती है। तरुण वाचस्पति ने हर्ष चरित की टीका में इस अनियम को दिखाया है कि उस आख्यायिका में कथा नायकेतर व्यक्ति

से कही जा रही है। यह कहना कि आख्यायिका में वक्त्र-अपवक्त्र का प्रयोग रहता है और कथा में नहीं–यह कोई भेदक तत्त्व नहीं है। न वक्त्र-अपवक्त्र का प्रयोग हुआ—उसी तरह का यदि आर्या जैसे अन्य छंद ही कथा में प्रयुक्त हो गये—तो उससे क्या बन बिगड जायेगा। 'उच्छ्वास'—जैसा खंड शीर्षक भी भेदक नहीं—वह तो केवल एक ही श्वास में सारी कथा न कही जाकर बीच-बीच में उच्छ्वास की भाँति ठहराव का सूचक है। ठहराव के लिए खंड का नाम कुछ भी रखा जा सकता है—इससे ऐसा क्या मौलिक अंतर आ जायेगा? संग्राम, विप्रलम्भ, हरण, विजय—का प्रयोग आख्यायिका का असाधारण तत्त्व नहीं है—वह इतर-काव्य-रूपो में भी पाया जा सकता है। इसी प्रकार यह अन्तर भी कोई अन्तर नहीं है कि आख्यायिका संस्कृत और अपभ्रंश आदि में भी लिखी जा सकती है, परन्तु कथा केवल संस्कृत में ही—कारण, स्वयं कादम्बरी की मूलकथा पैशाची प्राकृत में है। इसलिए भामह के भेदक तत्त्वो के विपक्ष में दण्डी का कहना है कि सब भेदक नगण्य है। अतः थोड़ा बहुत भेद औपचारिक रूप से भले हो मिले—पर उन्हे एक ही आख्यान की विभिन्न जाति कहा जा सकता है–स्वतंत्र विजातीय भेद नहीं। कथा और आख्यायिका एक ही आख्यानक जाति की चीज है। लक्षण से हटकर कथा और आख्यायिका शीर्षक जो काव्य प्रसिद्ध है–उनको भी ध्यान में रखकर सम्प्रति उनका भेद देख लेना चाहिए। भामह और दण्डी ने जो अपने-अपने मत प्रस्तुत किए है–वे परस्पर विरोध के लिए ही केवल हो–ऐसा कम संभव है। ज्यादा संभव यह है कि अपने-अपने समय के काव्य प्रयोगों को देखकर इन लोगो ने अपनी-अपनी कथा एव आख्यायिका विषयक धारणा प्रस्तुत की हो।

वाण ने स्वयं अपने 'हर्ष चरित' को 'आख्यायिका' कहा है और कादम्बरी को 'कथा'। देखना यह है कि भामह एवं दण्डी की व्याख्याये इन पर कहाँ तक ठीक उतरती है? 'हर्ष-चरित' एक सुप्रसिद्ध आख्यायिका है–पर उसमें भामह के निर्देशानुसार केवल वक्त्र एव अपवक्त्र का प्रयोग नही है–बल्कि और भी कई प्रकार के छंद है। छंद के अतिरिक्त भामह का निर्देश भी हर्षचरित में शिथिल है और वह इस प्रकार कि वहाँ का नायक स्वयं ही अपना ऐतिह्य विवरण प्रस्तुत करता है। यहाँ हर्ष स्वयं अपने मुँह से अपनी कथा नहीं कहता। जहाँ तक इसकी कथा को उदात्तार्थक होने की बात है—वह तो ठीक-ठीक उतरती है। इसमें कन्याहरण, संग्राम जैसी चीज भी नहीं है।

निष्कर्ष यह कि भामह ने आख्यायिका के जो लक्षण दिये हैं—वे हर्षचरित पर ठीक-ठीक नहीं उतरते। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के समक्ष कोई दूसरी आख्यायिका थी। दण्डी से फिर भी भामह का मतभेद देखकर यह निर्णय लेना पड़ता है कि दण्डी के सामने काव्य के ये रूप प्रयोग-गत थे—और अपने प्रायोगिक रूप में विभिन्न छोटी मोटी विशेषताओं के साथ प्रयुक्त हो रहे थे—जिनको सामने रखकर स्थिर भेदक विशेषताओ का निर्णय नहीं हो पाता था। कदाचित् इसीलिए वामन इनकी भेदक विशेषताओं के चक्कर में नहीं पड़े।

पर रुद्रट एव अग्निपुराणकार ने फिर आख्यायिका और कथा जैसे भेद स्वीकार कर लिए है और बहुत कुछ उनके भेदक तत्वो का निर्देश 'हर्ष-चरित' और 'कादम्बरी' पर ही आधारित है। अग्निपुराण में जब हम आख्यायिका का लक्षण देखते है या कथा की परिभाषा पर दृष्टिपात करते हैं तो स्पष्ट देखते हैं कि इन लक्षणकारो के मस्तिष्क पर बाण की दोनो कृतियाँ छाई हुई हैं—फिर भी गद्य काव्य की विभिन्न विशेषताओ से सम्पन्न जो प्रयोग सामने आते है—उनके अनुरूप वे परिभाषाओ में परिवर्तन भी करते जाते है। अग्निपुराण के अनुसार आख्यायिका में हम निम्नलिखित भेदक विशेषताओं का उल्लेख पाते हैं—(क) कर्तृवंश की गद्यबद्ध प्रशंसा (ख) कन्या का हठपूर्वक अपहरण, संग्राम, विप्रलम्भ एवं अन्यविध विपत्तियो से भरी कथावस्तु (ग) उच्छ्वासो में विभाजन (घ) चूर्णक जैसे गद्य तथा वक्त्र एवं अपवक्त्र जैसे छंद (ङ) रीति एवं वृत्ति से विभूषित ललित गद्य। इसके विपरीत कथा काव्य में (क) पद्यबद्ध कविवंश प्रशस्ति (ख) आधिकारिक या मुख्य कथा के अवतार के लिए अवान्तर कथा का प्रयोग (ग) कथा खंड के विरामों के लिए परिच्छेद एवं लम्भक जैसे शीर्षको का प्रयोग होता है (घ) प्रत्येक गर्भ में चतुष्पदी छंद का प्रयोग। यहाँ और बातें तो परम्परागत ही हैं—केवल दो तत्त्व विशेष कहे गये हैं—पहला है—कर्तृवंश प्रशंसा और दूसरा अवान्तर कथा का प्रयोग। पूर्ववर्ती लक्षणकारों ने इन विशेषताओ की उपेक्षा की है। रुद्रट ने अलबत्त इन दोनों की सूक्ष्मता पूर्वक चर्चा की है। ये दोनों विशेषतायें काव्य की आख्यायिका 'हर्षचरित में विद्यमान हैं।

कथा और आख्यायिका की भेदक विशेषताओं के संबंध में पूर्ववर्ती लक्षणकारों से रुद्रट के निर्देश विशेष ध्यान देने के है। उन्होने बाण की ही उक्त दोनों कृतियो को ध्यान में रखकर उन्हीं की विशेषताओं को

व्यापक रूप दिया है और उन्हें सामान्य कथा और आख्यायिका पर लागू किया है। इनके अनुसार कथा में निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—(क) आरम्भिक मंगलाचरण, जिसमें देव एवं गुरु की वंदना हो, कवि का वंश परिचय तथा कृति निर्माण का प्रयोजन (ख) संस्कृत गद्य का हल्का आनुप्रासिक रूप (यदि अन्य भाषा हो तो पद्यबद्ध भी हो सकता है) साथ ही कथानक में 'पुरा वर्णना' हो। (ग) मुख्य कथा से संबद्ध अवान्तर कथा (घ) मूल कथा में कन्या-लाभ ही प्रमुख हो। इसी को केन्द्र में रखकर रति स्थायीभाव का आद्योपांत पोष हो। दूसरी ओर जहाँ तक आख्यायिका का संबंध है उसकी निम्नलिखित विशेषतायें है—

(१) देव एवं गुरु को पद्यबद्ध नमस्कार, पुरातन कवियों को नमस्कार, कवि द्वारा अपनी वर्णनोचित योग्यता का अभाव स्वीकार करना और बाद में कृति का प्रयोजन स्पष्ट करना, वर्ण्य नायक विषयणी रति जैसी अन्यान्य बातों का कारण के रूप में उल्लेख (२) कहानी 'कथावत्' ही निबद्ध हो (३) 'उच्छ्वास' संज्ञा में विभाजन हो तथा प्रथम उच्छ्वास को छोड़कर शेष अन्य उच्छ्वासो में दो 'आर्या' छंदों का आरम्भ में प्रयोग हो। इनके अतिरिक्त और भी अन्यान्य बातें कही गई हैं।

रुद्रट द्वारा उक्त ये सारी विशेषतायें वाण की दोनो कृतियों पर स्पष्ट लागू होती है। वैसे इन्होंने इस बात पर बल नहीं दिया है कि 'कथा' की वस्तु उत्पाद्य होती है और आख्वायिका की ऐतिहासिक—पर इस बात पर अवश्य बल दिया है कि 'कथा एक 'प्रेम कहानी' है—जिसमें अन्य पूर्ववर्ती लक्षणकारों की भाँति 'कन्याहरण' नहीं, बल्कि 'कन्यालाभ' की बात कही गई है। आनंदवर्द्धन ने भी संघटना-निरूपण के प्रसंग में इस तत्त्व को उल्लिखित किया है—परन्तु उन्होने केवल संघटना की दृष्टि से ही विचार प्रस्तुत किया है। उन्होने बताया है कि आख्यायिका में मध्यम समासा एवं दीर्घ समासा संघटना का विधान होना आवश्यक है—कारण यह है कि यह गद्य काव्य है और गद्य काव्य में काव्योचित कांति विकट बंध से ही संभव है। जहाँ तक कथा का संबध है—वहाँ भी विकट वंध की यद्यपि प्रचुरता होती है—तथापि यहाँ का गद्य रसवंध के अनुरूप उचित संघटना का सहारा लेता चलता है। अभिनव गुप्त ने कथा और आख्यायिका का स्वरूप बताते हुए उन्हीं परम्परागत विशेषताओ का उल्लेख किया है। उन्होंने वे ही पुरानी बाते दुहराई हैं कि आख्यायिका उच्छ्वास, वक्त्र एवं अपरवक्त्र से युक्त होती है और कथा उनसे शून्य। हेमचन्द्र भी प्रायः उसी परम्परागत धारणा को स्वीकार करते है

अर्थात् उनके अनुसार नायक वर्णित वृत्त एवं भावी अर्थ के शंसक वक्त्र आदि, उच्छ्वास युक्त, संस्कृतमयी एवं गद्य वद्ध आख्यायिका होती है। रुद्रट भी छंद सहित इस बात पर सहमत हैं कि कथा पद्यवद्ध भी हो सकती है और पद्य में 'लीलावती' जैसी किसी कृति का उल्लेख भी किया है। विद्याधर इस विषय की चर्चा ही नहीं करते और विद्यानाथ को कथा की कथा ही अज्ञात है। विद्यानाथ ने गद्य एवं पद्य काव्य की चर्चा की है—कादम्बरी एवं रघुवंश को उदात्हृत भी किया है—पर परिभाषा आख्यायिका की ही प्रस्तुत की है। विश्वनाथ महापात्र ने रुद्रट द्वारा उक्त विशेषताओ को ही एक व्यवस्थित ढंग से विन्यस्त किया है। उन्होंने कहा है कि कथा में सरस वस्तु होनी चाहिए। उसे गद्यवद्ध होना चाहिए। यहाँ कहीं-कहीं आर्या और कहीं-कहीं वक्त्र एवं अपवक्त्र जैसे छंदों का प्रयोग होना चाहिए। आदि में कतिपय पद्यों से मंगलाचरण का विधान होना चाहिए और उसी संदर्भ में खल की निन्दा, सज्जन की प्रशंसा—जैसी बातों का उल्लेख भी होना चाहिए। आख्यायिका कथा की ही तरह होती है—अंतर इतना ही है कि इसमें अन्य कवियों का वृत्त और पद्य भी कहीं-कहीं उद्धृत रहता है। कथांश—व्यवच्छेद के लिए 'आश्वास' संज्ञा का प्रयोग होता है। आश्वास के आरम्भ में अन्यापदेश से भावार्थ का सूचन रहता है। वे आख्यायिका एवं कथा की वस्तु की ऐतिहासिकता और उत्पाद्यरूपता पर मौन हैं।

इस प्रकार कथा और आख्यायिका के स्वरूप-गत विकास के दो या तीन स्तर दिखाई पड़ते हैं। पहले स्तर पर दोनों की विशेषतायें इस प्रकार निरूपित हैं—

आख्यायिका—(१) इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक होती है (२) यहाँ की कहानी नायक द्वारा वर्णित रहती है (३) इसकी कथा उच्छ्वासों में विभक्त रहती है और वक्त्र तथा अपवक्त्र के प्रयोग द्वारा सूचना होती है। (४) कवि कल्पना को कुछ छूटें रहती हैं। इसकी कथा वस्तु में कन्याहरण, विप्रलंभ, संग्राम एवं अंततः विजय का संनिवेश रहता है। (५) यह संस्कृत में लिखी गई रहती है।

कथा—(१) इसकी कथावस्तु प्रायः कल्पित या उत्पाद्य होती है। (२) इसकी कथावस्तु नायक से भिन्न पात्र द्वारा वर्णित रहती है। (३) यहाँ 'उच्छ्वास' जैसा विभाग नहीं होता और न वक्त्र एवं अपवक्त्र का प्रयोग होता है। (४) यह संस्कृत और अपभ्रंश में लिखी गई रहती है।

ये विशेषतायें वाण की दोनों कृतियों पर पूरी तरह से लागू नहीं होतीं पर बाद के

लक्षणकारों को बाण की दोनो कृतियों ने थोड़ा प्रभावित करना आरंभ कर दिया है। दंडी से ही इस प्रथम स्तरीय परिभाषा की कड़ी समीक्षा आरम्भ हो जाती है।

द्वितीय स्तर—रुद्रट से आरम्भ होता है। इनके द्वारा जिन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है वे पूर्णतः बाण की दोनो कृतियों को ध्यान में रखकर निरूपित की गई हैं और वे इस प्रकार हैं--

आख्यायिका—(१) इसकी कथावस्तु में अनुभूत तथ्यो का कथात्मक विवरण रहता है (२) कथोपस्थापक नियमत नायक ही नहीं होता (३) इसका उच्छ्वासो में विभाजन होता है, जिनमें से पहले को छोड़कर शेष सबका आरंभ अधिकतर आर्या से होता है और उसके द्वारा प्रत्येक उच्छ्वास का कथांश इंगित कर दिया जाता है। (४) इसका आरम्भ काव्योचित पद्धति से छंदोवद्ध रूप में होता है।

कथाः— इसकी कथा वस्तु प्रायः प्रेम कथा होती है — जो प्रायः कवि कल्पित होती है। (२) कथा का वक्ता नायकेतर व्यक्ति होता है जो स्वत. कभी-कभी कथा के एक पात्र के रूप में अवतीर्ण हो जाता है। (६) इसमें अध्यायो का विभाजन नही होता। (४) यहाँ भी एक काव्योचित कथा की भूमिका छंदो बद्ध होती है।

साहित्यदर्पणकार ने ऐतिहासिक और उत्पाद्य वस्तुपक्ष से कथा और आखयायिका की विशेषताओं पर विचार नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन परम्परागत विवेचनाओं से ये दो भेद इस प्रकार सुदृढ़ हो गये कि परवर्ती लक्षणग्रंथकारों ने इस पक्ष से विचार को विस्तार देना ही बंद सा कर दिया*।

डॉ० डे ने कथा और अख्यायिका के स्वरूप पर लक्षण ग्रंथकारों ने क्या कहा—इस पक्ष से तो पुष्कल विचार प्रस्तुत किया है, परंतु स्वयं उन गद्यकाव्य प्रणेताओं की कथा और आख्यायिका के स्वरूप के सम्बन्ध में क्या धारणा है—इस पर विचार नहीं किया है। महाकवि बाण ने 'कथा' काव्य की विशेषताएँ इस प्रकार स्पष्ट की हैं—

स्फुरत्कलालापः विलास कोमला करोति रागं हृदि कौतुकधिकम्।
रसेन शय्याम् स्वयमभ्युपागता कथा जनस्याभिनवा वधूरिव[1]। इस

* गद्यकाव्य के अन्य प्रभेदो के संबंध में विस्तार देखिए—भारतीय साहित्य-दर्शन में।

१—कादम्बरी, श्लोक सं० ८।

श्लोक में स्वय वाण ने कतिपय आंतर कथा तत्वो का उल्लेख किया है— जो इसप्रकार हैं–(क) कलालाप या कथोपकथन (ख) राग (ग) कौतुक (घ) राग एवं कौतुक से 'वर्णन' एव घटनाओं का सद्भाव भी सिद्ध है। (ङ) रसमयी शय्यारुचिर पदावली।

आखगायिका (हर्षचरित) में भी वाण ने कुछ श्लोक ऐसे लिखे है जिनसे उसकी विशेषता ध्वनित होती है—जैसे,

नवोऽर्थोजातिरग्राम्या श्लोषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरवंधश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभः[1] ॥

अर्थात् अयोनिच्छाय अर्थ, अग्राम्य स्वभावोक्ति, अक्लिष्टश्लेष, स्फुटरस एवं विकटाक्षर बंध एक जगह (कदाचित् आख्यायिका में) दुर्लभ होते है। अर्थात् आख्यायिका में यदि ये तत्त्व हों तो उसे अन्तरंग दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझना चाहिये। तभी वाण ने यह भी कहा है कि 'उच्छ्वास' के अन्त में भी यदि आख्यायिकाकार की वाणी अखिन्न हो–तो समझिये कि वह आख्यायिकाकार बंद्य[2] है। इसी सदर्भ में उन्होंने यह भी कहा है कि निरायास बोध-गम्य रचना, शोभनाक्षर घटित शब्दो से युक्त-आख्यायिका मनोहर होती[3] है। इस प्रकार यदि लक्षण ग्रंथकारों ने बाह्य ढाँचा का विस्तार दिया है तो स्वयं रचनाकार वाण ने महत्त्वपूर्ण आन्तर तत्त्वों का।

मुक्तक-काव्यरूप

काव्य के भेदों का निरुपण भारतीय साहित्य शास्त्रियो ने कुल पाँच दृष्टियों से किया है—वंध, शैली, अर्थ, इंद्रियमाध्यस्थ्य एवं भाषा। वंध या संबंध की दृष्टि से काव्य के दो भेद सामान्यतः किये गये हैं—मुक्तक और प्रबंध। पहले में पूर्वापर पद परस्पर संबंध हीन होते है और दूसरे में परस्पर सापेक्ष।

'मुक्तक' शब्द का प्रयोग यों तो गद्य के एक विशेष रूप के लिए भी किया गया है। समासरहित गद्यात्मक प्रयोग को 'मुक्तक' कहते ही हैं—निर्वन्ध

१–हर्षचरित श्लोक स० ८।
२–श्लोक सं० १०। ३–वही २०

पद्य को भी 'मुक्तक' कहते है। यहाँ पद्यवद्ध काव्य रूप की दृष्टि से मुक्तक का स्वरूप-विश्लेषण प्रस्तुत किया जायगा ।

भामह ने 'मुक्तक' शब्द की जगह 'अनिबद्ध' संज्ञा का प्रयोग किया है। उन्होंने प्रबंध के लिए 'सर्गबद्ध' शब्द का प्रयोग किया है और मुक्तक के लिये 'अनिबद्ध'। दण्डी ने 'मुक्तक' शब्द का उल्लेख काव्यरूपो के प्रसंग में अवश्य प्रस्तुत किया, परन्तु सर्गबंध या प्रबध के अग रूप में — स्वतंत्र काव्यरूप के अर्थ में नहीं। उन्होंने मुक्तक, कुलक, कोष एव सधान आदि का प्रबधांग — रूप में नामोल्लेख मात्र करते हुये यह बताया है कि 'मुक्तक के विषय में अधिक इसलिये कहना अनावश्यक है कि वह प्रबध या सर्गबध का अग ही है । 'सर्गबंध' का स्वरूप — निरूपण विस्तार से किया ही है — अतः उसके अग रूप में स्थित 'मुक्तक' के सविशेष निरूपण की कोई आवश्यकता नहीं। यह 'मुक्तक' समापिका क्रिया — प्रयोग की दृष्टि से पद्यान्तर — निर्मुक्त होता है। दण्डी के इस मुक्तक को भामह के अनिबद्ध' से एक नहीं किया जा सकता—कारण, वह सर्गबंध से भिन्न काव्य का एक स्वतत्र रूप है, जब कि दण्डी का 'मुक्तक' 'सर्गबंधाग' है । बामन ने भामह के ही विभाग को पुनः दुहराया और कहा कि काव्य का 'निबद्ध' के अतिरिक्त 'अनिबद्ध' रूप भी होता है — पर इस 'अनिबद्ध' का महत्त्व अस्वीकार किया। कारण दो बताये हैं — पहला यह कि अनिबद्ध – पद्य अग्नि — कण की भाँति प्रकाशित नहीं होते, दूसरा यह कि 'सर्गबंध' या 'निबद्ध' की सिद्धि का एक सोपान है। 'निबद्ध' निर्माण की तैयारी का अभ्यास 'अनिबद्ध' से ही आरंभ किया जाता है । अर्थात् 'अनिबद्ध' — अपक्वावस्था की रचना है। रूद्रट ने भी नगण्य रूप में ही इसका उल्लेख किया। इस प्रकार अनिबद्ध या मुक्तक की चर्चा चाहे इन आचार्यों ने सर्गबंध के अंग रुप में किया हो या स्वतंत्र — मान्यता अंततः सबकी यही है कि यह प्रबंधांग है और इस रूप में इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

आनदवर्द्धन सभवतः पहले आचार्य है कि जिन्होंने 'मुक्तक' के **महत्त्व** का स्पष्टतः उद्घोष किया — साथ ही जो दूसरी बात कही वह यह कि प्रबध से **स्वतंत्र रूप** में भी 'मुक्तक' का अस्तित्व है । उनकी इन दोनो स्थापनाओं का आधार उन्हीं की ये पंक्तियां है —

> प्रबधे मुक्तके वापि रसादीन् वद्धुमिच्छता।
>
> × × ×
>
> अमरुककवेरेकैकं पद्य प्रबन्धशतायते ॥

आनंद ने काव्य का महत्त्व उसके रसात्मक उत्कर्ष में माना और रसात्मकता की निष्पत्ति के संबंध में स्पष्ट बताया कि वह प्रबंध में ही नहीं, (स्वतंत्र काव्य रूप) 'मुक्तक' में भी हो सकती है। आगे बढ़कर तो उन्होंने यह भी कहा है कि समर्थ मुक्तककार अमरुक कवि के एक-एक मुक्तक-पद से सैकड़ों प्रबन्धों की रस-धारा उन्द्वेल होकर प्रवाहित हो रही है।

पता नहीं, क्या बात थी कि हाल की गाथा सप्तशती आदि मुक्तक रचनाओं के अस्तित्व के बावजूद भी प्रागानन्दवर्द्धन आलंकारिक आचार्यों ने मुक्तक के महत्त्व को क्यों नहीं समझा ?

अभिनव गुप्त ने ऐतिहासिक क्रम से उल्लिखित मुक्तक के दोनों रूपों की चर्चा की और बताया कि उसका **स्वतन्त्र काव्यरूप** की दृष्टि से तो सत्ता है ही **प्रबंधांतवर्ती** स्थिति भी संभव है। इन दोनों ही रूपों में 'मुक्तक' वही कहा जा सकता है--जिसमें पूर्वापर निरपेक्ष काव्यास्वाद-जनन की क्षमता हो। मुक्तक का अर्थ ही किया--'मुक्तक' मन्येनानालिगितं–तस्य सज्ञायां कन्''– 'मुक्त' शब्द से उसके संज्ञा रूप का बोध कराने के लिए 'कन्' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है और 'मुक्त' का अर्थ है–अन्य से अनालिंगित या असंबद्ध (पूर्वापर निरपेक्ष)। प्रबंधांतवर्ती 'मुक्तक' एक तो इसलिए भी मुक्तक कहा जा सकता है कि एक तो वह 'समापि' या 'तिङन्त–क्रिया' की दृष्टि से भी परवर्ती पद्य से असंबद्ध हो–दूसरे उसमें प्रबंध की धारा से पृथक् कर दिये जाने पर भी रसास्वाद कराने की पूर्ण क्षमता विद्यमान हो। इस प्रकार अभिनव गुप्त ने पूर्वागत तीनों दृष्टियों से 'मुक्तक' का विवेचन 'लोचन' के अंतर्गत किया है। एक बात का उल्लेख उन्होंने नहीं किया कि 'अनिबद्ध और 'मुक्तक'–एक है या अनेक ? इस अभाव की पूर्ति **हेमचन्द्र** ने की। उन्होंने बताया कि 'अनिबद्ध' मुक्तकादि का पर्याय है। **अग्निपुराण** में भी आनंदवर्द्धन के अनुरूप ही विचार मिलते हैं–उन्होंने कहा है–

मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।

× × ×

वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ॥

यदि एक ही श्लोक स्वतंत्र रूप से सज्जनों के लिए चमत्कारक्षम है–तो वह मुक्तक है–काव्यमात्र की भाँति यहाँ भी यद्यपि वाग्वैदग्ध्य की प्रधानता रहनी चाहिए तथापि कवि को यह ध्यान तो रखना ही चाहिए कि काव्य का वास्तविक जीवन 'रस' ही है।

इन्हीं लोगों के आसपास रहने वाले राजशेखर ने अन्य दृष्टियों से 'मुक्तक' पर

परिनिष्ठित विचार देखकर दूसरी दृष्टि से विचार किया। उन्होंने 'मुक्तक' के प्रभेदों पर वर्ण्य-विषय की दृष्टि से विचार किया और कहा कि इस दृष्टि से मुक्तक कुल पाँच प्रकार के होते हैं–शुद्ध, चित्र, कथोत्थ, संविधानक एवं आख्यानकवान्। इतिवृत्त या इतिहास से रहित विषय का मुक्तक 'शुद्ध' कहा जाता है। 'शुद्ध' की ही भाँति 'चित्र' भी होता है–पर 'शुद्ध' में सीधे-सादे और संक्षिप्त ढंग से जो मूल-भाव व्यक्त किया जाता है–'चित्र' में उसीका व्यौरेवार चित्रण होता है। इसके विपरीत 'कथा' से जो अपना उत्थान प्राप्त करे–वह 'कथोत्थ' माना जाता है और जिस मुक्तक में एक रञ्जक सयिधान या घटना अंकित कर दी गई हो–वह संविधानक माना जाता है। आख्यानकवान् में भी किसी ऐतिहासिक आख्यान की ही चर्चा रहती है–पर वहाँ कल्पना की रंगीनी मात्रा में अधिक होती है।

स्वरूप-विवेचन के संबंध में आनन्दवर्द्धन एवं अभिनव गुप्त के अनंतर कुछ अवशिष्ट न रह जाने के कारण परवर्ती आलंकारिको ने विशेषतः इसके भेद पर ही विचार अधिक किया। जहाँ एक ओर राजशेखर असंकलित रूप में 'मुक्तक' के वर्गीकरण पर बोल चुके थे—वहीं दूसरी ओर साहित्य दर्पणकार-विश्वनाथ ने उसके संकलित रूप के वैविध्य पर भी विचार किया। हेमचंद्र ने भी इस पक्ष से विचार करते हुये यह कहा था कि 'स्वपरकृतसूक्तिसमुच्चय' को 'कोष' काव्य कहना चाहिए। साहित्यदर्पणकार ने भी 'कोष' को परस्पर निरपेक्ष मुक्तक पद्यों का संकलनात्मक रूप ही माना है–पर यह अधिक बताया कि यदि उसमें सकलन किसी विशेष रूप से किया गया हो–तो अच्छा है। विशेष क्रम-कई हो सकते हैं–छंदःक्रम, विषयक्रम तथा अकारादिक्रम।

इस प्रकार संस्कृत के आचार्यों ने मुक्तक तथा अनिवद्ध को पर्याय मानकर उसकी स्वतंत्र एवं प्रबंधांतर्गत–दो रूपो में चर्चा की है। प्रबंधांतर्गत मुक्तक की भी दो स्थितियाँ हैं–(१) एक की, समापिका क्रिया की दृष्टि से परवर्ती पद्य निरपेक्ष रहना तथा दूसरे की इस विशेषता के साथ पूर्वापर कथात्मक संबंध निरपेक्ष रहकर भी काव्यास्वादजनन की क्षमता का होना। इन रूपों में स्वतत्र या असंकलित मुक्तक के तथा संकलित मुक्तक के प्रभेदों की चर्चा भी की गई। इसके साथ-साथ जहाँ प्रागानंदवर्द्धन आचार्य मुक्तक का प्रबंध की तुलना में न तो स्वतंत्र अस्तित्व मानते थे और न तो स्वतंत्र मानने पर भी उसका कोई विशेष महत्त्व ही। पर आनंदवर्द्धन ने साथ ही साथ आगे बढ़कर 'मुक्तक' का भी प्रबंध-कल्प महत्त्व स्थापित किया।

(ख)

हिंदी के मनीषियों मे कुछ मौलिक चिंतन की शुरूआत आचार्य रामचंद्र शुक्ल से होती है। आचार्य शुक्ल जी ने 'मुक्तक' की चर्चा तीन दृष्टियो से की है। पहला—आपेक्षिक महत्त्व की दृष्टि से, दूसरा प्रभेद की दृष्टि से, और तीसरा—मुक्तकगत विशेषताओं की दृष्टि से।

प्रबंध और मुक्तक में—आपेक्षिक महत्त्व की दृष्टि से विचार करते हुए शुक्ल जी ने यह कहा है कि–'मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती, जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें (मुक्तक में) तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं कि जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत बनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है" (इतिहास)। निश्चय ही इन पंक्तियों द्वारा 'रसात्मकता' की दृष्टि से शुक्ल जी ने मुक्तक को प्रबंध की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण काव्यरूप कहा है—उनके मत से प्रबंध में रस की धारा प्रवाहित होती है तो मुक्तक में रस के छींटे पड़ते हैं–एक में पाठक अपने को भूल जाता है तो दूसरे में उसकी हृदय कलिका क्षण भर के लिए खिल उठती है। शुक्ल जी अभिव्यक्तिवादी आचार्य हैं–वे मानते हैं कि जगत् 'सत्य' की अभिव्यक्ति है और काव्य जगत् की मनोरम अभिव्यक्ति। इस प्रकार सिद्धांततः कवि एवं उसकी कृति के बीच जगत् और जीवन की अनिवार्य स्थिति मानने वाले आचार्य जी ने जायसी की भूमिका में यह कहा है—"यदि कोई इसके विचार का आग्रह करे कि प्रबंध और मुक्तक–इन दो क्षेत्रो में कौन क्षेत्र अधिक महत्त्व का है–किस क्षेत्र में कवि की सहृदयता और भावुकता की पूरी परख हो सकती है तो हम बार-बार वही बात कहेंगे जो गोस्वामी जी की आलोचना में कह आये हैं अर्थात् प्रबंध के भीतर आई हुई मानव जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं के साथ जो अपने हृदय का पूर्ण सामञ्जस्य दिखा सके–वही सच्चा कवि है"—इससे स्पष्ट है कि वे जीवन और जगत् का सरस व्यौरा प्रस्तुत करने वाले प्रबंध को मुक्तक की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ मानते हैं। प्रबंधों में भी शुक्ल जी उस प्रबन्ध को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं–जो जीवन गाथा प्रस्तुत करें।

शुक्ल जी मुक्तक एवं प्रगीत–दोनों ही में यह स्वीकार करते हैं कि यदि वे रसात्मक हुए–तो भी उनका लक्ष्य केवल भाव की व्यंजना करना ही है,

(अर्थात् रस-व्यजना तो हो ही नहीं सकती)–अतः निश्चय ही प्रबंध की अपेक्षा मुक्तक अप्रमुख काव्य रूप है।

लोकमंगल का विधान शक्ति, शील और सौन्दर्य के आदर्श रूप के विधान पर संभव है–-शुक्ल जी की दृष्टि से यह कार्य 'प्रबध' ही–जीवनगाथा को चित्रित करने वाला प्रबध ही प्र तुत कर सकता है–मुक्तक नहीं–अतः मुक्तक हीनतर काव्यरूप है–अस्तु, इस आधार पर यदि शुक्ल जी ऐसा कहते हैं–तो कह सकते है–उनका यह अपना दृष्टिकोण है। पर रस की दृष्टि से मुक्तक कभी रस की धारा ही नहीं प्रवाहित कर सकता–इसका क्या अर्थ है ? आनंदवर्द्धन ने बहुत ही स्पष्ट तौर पर कहा है कि मुक्तक तो ऐसे भी हो सकते हैं कि सैकड़ो प्रबंध की तुलना में (रसात्मक दृष्टि से) समकक्ष ठहरें– क्या आनद वर्द्धन का यह वाक्य 'अमरुन्द्रकवेरेकैक पद्यं प्रबंधशतायते' — अर्थ वाद है ? भूतवाद नहीं है ? प्रबध कुछ दीर्घकाल तक रसानुभूति में मग्न कर सकता है और मुक्तक आपेक्षिक दृष्टि से अल्पकाल तक— पर मात्रात्मक भेद को छोड़कर साहित्यिक दृष्टि से गुणात्मक भेद –– घनीभूतता अपनी सीमा में दोनों का महत्वपूर्ण है –– अतः रसा मक दृष्टि से —जो वास्तविक रूप से साहित्यिक दृष्टि है —प्रबध की अपेक्षा मुक्तक को सिद्धांतत छोटा कहना बहुत दूर तक युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता ।

हिंदी के विद्वानो मे सस्कृत के आचार्यों से भिन्न मुक्तक के सदर्भ में एक और नई चीज आ गई है–वह है 'मुक्तक' के अन्तर्गत 'प्रगीत' का विचार। अनेक हिंदी के मनीषियो ने मुक्तक के वर्गीकरण और विभाजन के संदर्भ में 'प्रगीत' को भी रखा है–जिस पर आगे देखा जायेगा। जहाँ तक शुक्ल जी का संबध है–गोस्वामी तुलसीदास में उन्होने यह कहा है कि "काव्य के स्वरूप हमें देखने में आते है–(Imitative cr Realistic) अनुकृत या प्रकृत तथा अतिरजित या प्रगीत (Fxaggerative or Lyrical) । × × फिर उन्होने यह भी कहा है कि "अतिरंजित या प्रगीत जैसा काव्य का दूसरा स्वरूप वस्तु वर्णन और भाव-व्यंजना—दोनों में पाया जाता है" × × भाव व्यंजना के क्षेत्र में काव्य का अतिरंजित या प्रगीत स्वरूप अधिकतर मुक्तक पद्यों—विशेषतः शृंगार या प्रेम सम्बन्धी में– पाया जाता है"—शुक्ल जी के इस विस्तृत उद्धरण से यह स्पष्ट है कि वे 'प्रगीत एवं मुक्तक' को काव्य का प्रबंध–भिन्न दूसरा स्वरूप मानते हैं—इस प्रकार वे मुक्तक के प्रसग में प्रगीत की या प्रगीत के प्रसंग में मुक्तक की चर्चा करते हुए कभी दोनों को समानार्थक मान लेते है—अथवा मुक्तक के परम्परागत

सीमित रूप को और भी व्यापक कर लेते हैं। इस प्रकार मुक्तक और प्रगीत के इस प्रसग में तो स्पष्ट ही उनका अप्रशसात्मक स्वर है। पर यहाँ शुक्ल जी उस निर्णायक की भाँति है—जो पूर्वग्रह ग्रस्त होता है। सभी मुक्तक के विषय में यह कह देना कि सबके सब अतिरजित और वैयक्तिक भूमिका के ही होते हैं—अतः अनुत्कृष्ट हैं—रसात्मक दृष्टि से सफल नहीं है—बहुत संतुलित निर्णय नहीं है।

आचार्य शुक्ल ने मुक्तक के प्रभेद पर भी ('रीति-काल' की रचनाओं को ध्यान) में रखकर विचार किया है और कहा है कि ये मुक्तक रचनायें तीन प्रकार की हो सकती हैं–(१) रसात्मक (२) वैदग्ध्य या चमत्कार प्रधान और (३) शुद्ध पद्य। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी ने 'मुक्तक' की जगह 'निर्बंध' शब्द का प्रयोग करना ज्यादा व्यापक और सगत समझा है। इन्हें आचार्य शुक्ल की भाँति मुक्तककार की अपेक्षा प्रबन्धकार का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक अभिमत है–पर आनंदवर्द्धन की उक्ति को ध्यान में रखने के कारण–कुछ संशोधन के साथ। मिश्र जी मानते है कि रस की दृष्टि से एक ही रचना द्वारा रस की अच्छी अनुभूति उत्पन्न की जा सकती है, बशर्ते कि उसमें जीवन का मार्मिक दृश्य खंड संबद्ध हो। मिश्र जी मानते है कि यह मुक्तक चाहे रस की धारा न बहा सके—पर सरोवर की गम्भीरता का आनन्द अवश्य दे सकता है। यहीं मिश्र जी ने शुक्ल जी को ही ध्यान में रखकर यह कहा है कि ऐसे कवि 'रसकार' कहे जाते हैं। फिर उन्होंने दो और प्रकार के कवियों का उल्लेख किया है—दूसरे वे हैं जो उक्ति-वैचित्र्य को ही काव्य समझते है और तीसरे वे हैं जो उक्ति वैचित्र्य से भी हटकर केवल लोकनीति को ही पद्यवद्ध कर देते हैं।"—मिश्र जी तथा और भी जयचंद राय आदि लोगो ने इन तीनों को काव्य का भेद माना है डा० रामलाल सिंह जी ने भी रस को ध्यान में रखकर इस विभाजन को शुक्ल जी का मौलिक काव्य-विभाजन माना है—। ये तीन प्रकार काव्य के भी हो सकते हैं—पर प्रबंध काव्य का इन तीन भागों में आत्यंतिक रूप से विभाजन नहीं किया जा सकता—इसीलिए मिश्र जी ने आगे यह भी कहा है—"इन तीनों प्रकार के (रसात्मक, सूक्ति एवं पद्य) मुक्तककारों का भेद समझने के लिए कुछ उदाहरण देने की "आवश्यकता है" अतः एक और सामान्यतः काव्य के ये तीन रूप माने जाकर 'मुक्तक' के भी ये तीन वर्ग किये जा सकते हैं। मिश्र जी ने भी दोनों पक्षों का उल्लेख किया है। इस प्रकार शुक्ल जी की मुक्तक-वर्गीकरण की धारणा स्पष्ट कर दी गई है।

मुक्तक और प्रगीत के सम्बन्ध में भी मिश्र जी शुक्ल जी से भिन्न विचार रखते हैं—उन्होंने काव्य को (पद्यात्मक काव्य को) त्रिधा विभक्त किया है—प्रबंध, निबंध तथा निर्बंध। निर्बंध के अन्तर्गत तीन भेद किये हैं—पाठ्य, गीत तथा प्रगीत। पाठ्य को ही वे 'मुक्तक' कहना चाहते हैं—और प्रबंध से विपरीत गीत एव प्रगीत से भिन्न पूर्वापर निरपेक्ष समस्त छंदोबद्ध पद-रचना को वे 'मुक्तक' कहना चाहते हैं। अर्थात् गीत एवं प्रगीत को वे पृथक् रखते हैं। दूसरी ओर वे संस्कृत आचार्यों के पारिभाषिक अर्थ से पृथक् होकर स्वतंत्र रूप से 'युग्मक' 'सदानितक' 'कुलक' तथा 'कलापक' को भी 'मुक्तक' ही मानते हैं—क्योंकि वे भी पूर्वापर निरपेक्ष होते हैं। वे इन्हीं निर्बंध प्रकारों को 'मुक्तक' नहीं मानते, प्रत्युत उन्हें भी 'मुक्तक' मानते हैं—जो किसी कथा के सहारे प्रकीर्ण रूप में रखी गई हो। इस प्रकार की व्याख्या करके जो उन्होने अंत में यह कह दिया है कि 'ऊपर निर्बंध रचना के जो तीन प्रकार बताये गये है—उनमें से 'मुक्तक' नाम पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त नहीं है"। वह विचारों के क्षेत्र में उनकी सजगता का ही परिणाम है अन्यथा संस्कृत के आचार्यों ने युग्मक, कलापक आदि को कहीं 'मुक्तक' नही कहा है।

शुक्ल जी का मुक्तक के संबंध में अन्य प्रकार का उल्लेखनीय विचार है—मुक्तक रचनाओ का गुण सम्बन्धी विचार। 'बिहारी' की समीक्षा में उन्होने कहा है कि मुक्तक रचनाओ की दो विशेषतायें हैं—कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास शक्ति। 'कल्पना' की समाहार शक्ति का तात्पर्य है—बड़े से बड़े वक्तव्य को संक्षेप में बाँधकर प्रस्तुत कर देने की क्षमता और यह कार्य कल्पना भाषा के ही सहारे व्यक्त कर सकती है। भाषा द्वारा यह कार्य तभी संभव है जब उसमें 'समास' शक्ति हो—चुने हुए थोड़े से समर्थ शब्द हों। 'समास शक्ति' के दो अर्थ हैं—सामासिक सामर्थ्य तथा संक्षेप में बहुत अर्थ को बाँध लेने की सामर्थ्य। परवर्ती विवेचकों ने इन्हीं गुणों को आधार मानकर उसकी व्याख्या में और अनेक गुणों का उल्लेख किया है, जिसे आगे देखा जायेगा।

आचार्य वाजपेयी ने अपनी प्रायोगिक एवं सैद्धांतिक समीक्षाओं में शुक्ल जी की पहली स्थापना अर्थात् प्रबंध मुक्तक या प्रगीत की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण काव्यरूप है—पर बहुत ही तात्त्विक और युक्ति-संगत विचार प्रस्तुत किया है। तात्त्विक दृष्टि से विचार करते हुए उन्होंने यह माना है कि काव्य मात्र 'अनुभूति' का साकार रूप है—अनुभूति मूलतः एक और अखण्ड है—अतः मूल में किसी प्रकार का तारतमिक भेद न होने से उसके बाह्य-

रूपों में भी भेद करना युक्ति सगत नहीं है। व्यवहार सिद्धि के लिए नाम भेद तक की बात तो किसी प्रकार ठीक भी हो सकती है—पर नाम-रूप भिन्न व्यष्टि काव्य रूप की सीमाओं और क्षमताओं को देखते हुए भी उनमें तारतम्य बनाना असाहित्यिक वक्तव्य है। अतः अपनी-अपनी जगह सबका महत्त्व समान है। फिर भी अन्यत्र व्यावहारिक दृष्टि से बदलती हुई सामयिकता के अनुरूप उन्होंने प्रबध एव प्रगीत का अतर भी बताया है—कहा है कि यदि प्रबंध वह फल है जिसमें रेशे और छिलके निकाल कर रस लाभ किया जाता है तो प्रगीत वह रूप है जिससे बिना किसी छिलके रेशे के घूँट-घूँट निष्प्रतिबन्ध रस-पान किया जा सकता है। ठीक ही है सिद्धात भी ऐसा क्या जो युग का गला घोंट दे—पर इसके साथ यह भी सत्य है कि सिद्धांत ही शाश्वत सत्य है-यद्यपि सामयिक परिवर्तनों को आँख-ओट नहीं किया जा सकता।

इसी पक्ष से डा० नगेन्द्र ने भी तात्त्विक तो नहीं, पर व्यावहारिक पक्ष से अपनी काव्यालकार सूत्र वृत्ति की भूमिका में विचार किया है। उनका भी संतुलित विचार यही है कि यदि प्रबध का महत्त्व अपनी व्यापकता और विशालता में है—रस की लम्बी धारा प्रवाहित करने में है तो प्रगीत या मुक्तक का महत्त्व अपनी सक्षिप्त ही सही—पर तीव्र एवं घनीभूत केन्द्रीय भावानुभूति उत्पन्न करने में है—दोनों ही काव्य रूपो का अपना स्वतंत्र महत्त्व है-दो-चार उत्कृष्ट एवं निकृष्ट उदाहरणो को ध्यान में रखकर किसी के पक्ष या विपक्ष में सिद्धांततः तारतम्य का निर्णय देना बहुत समीचीन भूमिका का उत्तर नहीं है।

वर्गीकरण एवं मुक्तक-गुण की दृष्टि से अन्य लोगों ने भी अपने विचार किये है। जैसे, मुक्तक के ही भीतर छदोबद्ध, रागरागिनीबद्ध गीत एवं पश्चिमी ढग के प्रगीत का समाहार—जैसा प्रयास यदि वर्गीकरण की दृष्टि से है—तो गणपति चंद्रगुप्त का मुक्तक गुणों को सात प्रकार का बताने में है। यद्यपि उन सातो प्रकारो का विश्लेषण करने पर भी शुक्ल जी के द्वारा बताये हुए उपर्युक्त दो गुणों से अतिरिक्त प्रकृति के वे नहीं हो पाते।

जहाँ तक 'खड-काव्य'—इस संज्ञा का सम्बन्ध है—साहित्य दर्पणकार से पूर्व इसका प्रयोग कहीं दिखाई नहीं देता। इनसे पूर्व रुद्रट ने 'लघुकाव्य' की चर्चा अवश्य की है। इनसे भी पूर्व दण्डी ने 'संघातकाव्य'–शब्द का प्रयोग किया है और उसके उदाहरण रूप में 'मेघदूत' को प्रस्तुत किया है। प्रश्न है कि यह कालिदास-प्रणीत मेघदूत ही है या और कुछ? यदि कालिदास प्रणीत मेघदूत ही है—तब तो रुद्रट से पूर्व इस काव्य रूप के लिए 'संघात' शब्द ही शायद चलता रहा हो। पर यहाँ इस तरह के निर्णय या निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व कई बातो पर पुनः विचार कर लेना आवश्यक है। पहला यह कि 'मेघदूत' कालिदास से भिन्न कविकी तो प्रणीत कृति नहीं है? ऐसा प्रश्न इसलिए उठता है कि 'संघात'–शब्द में 'एकाधिक मुक्तक पद्यों का समुदाय' जैसा अर्थ आभासित होता है और परवर्ती लक्षणकारो ने 'सघात' शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग भी किया है। 'संघात' शब्द के मूल अर्थ को देखकर ही 'मेघदूत' के सम्बन्ध में यह संदेश खड़ा होता है कि वह कालिदास का बंध-सापेक्ष काव्य है या किसी अन्य का बंध-निरपेक्ष काव्य है। यदि वह कालीदास का ही है–तब तो 'खड-काव्य'–के लिए पहले 'लघुकाव्य' और उससे भी पूर्व 'संघात-काव्य'–जैसी अभिधा चलती रही होगी, अन्यथा कोई निश्चित नही कहा जा सकता। वैसे 'खंड-काव्य' शब्द जिस काव्य रूप के लिए चलता है–उसके उदाहरण तो पहले से विद्यमान ही थे–इसलिए कोई न कोई संज्ञा अवश्य होनी चाहिये। निश्चायक प्रमाणों के अभाव में यह ठीक तरह से कह पाना कि सबसे पहले इस काव्य-रूप के लिए कौन सी सज्ञा .चलित थी–कठिन है। अथवा आचार्य वाजपेयी का यह संदेह कि ऐसा तो नही है कि पहले लोग इसे मुक्तक प्रगीतात्मक रचनाओ का संघात समझते रहे हो–ध्यान देने योग्य है। आज भी खड काव्य को लोग प्रगीतात्मक और भावात्मक भूमिका की वस्तु समझा करते हैं। रत्नाकर जी के उद्धव शतक को भी लोग संघात काव्य ही कहना ज्यादा उपयुक्त समझते हैं।

'खड-काव्य'–के लिए 'भामह' में कोई सज्ञा या विशेष विवेचन उपलब्ध नहीं होता। दंडी के यहाँ 'संघात' शब्द का प्रयोग है—पर कुछ निश्चय नहीं कहा जा सकता कि वह खं[illegible] काव्य का पर्याय ही था—या नहीं? वामन

ने पद्यबद्ध काव्य को निबद्ध या अनिबद्ध—द्विधा विभक्त करके 'निबद्ध' को प्रबंधात्मक महाकाव्य के रूप में ही विवेचित और विश्लेषित किया। रुद्रट ने अवश्य प्रबंध के 'महान्' एवं लघु—जैसे भेदो की चर्चा की है। हेमचंन्द्र इस विषय में मौन हैं। उन्होने 'श्रव्य' के 'महाकाव्य, आख्यायिका, कथा, चम्पू तथा अनिबद्ध'—जैसे भेदो का नाम तो लिया—परन्तु 'खडकाव्य' या उसके पर्यायवाची किसी संज्ञा की चर्चा प्रस्तुत नहीं की' सभवतः यह साहित्य दर्पणकार ही हैं—जिन्होंने सर्व प्रथम 'खड काव्य' शब्द और उसके स्वरूप का उल्लेख किया। उन्होने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

'खंडकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारिच"

खड काव्य 'काव्य' के एक देश का अनुसर्ता होना है। यहाँ सबसे बड़ी समस्या यह है कि जिस 'काव्य' नामक काव्य-प्रभेद के एक देश का अनुसर्ता 'खंड-काव्य' होता है–उस 'काव्य' का स्वरूप क्या है? महापात्र विश्वनाथ ने 'काव्य' का स्वरूप बताते हुए कहा है—

भाषा विभाषा नियमात् काव्यं सर्गसमुज्झितम्
एकार्थप्रवणैः पद्यैः संधिसामग्र्यवर्जितम् ॥

इसमें कुल चार तत्त्व बताये जा रहे है—

(१) नियमतः उसे या तो आद्योपांत 'भाषा' ही में या 'विभाषा' ही में निर्मित होना चाहिये। ऐसा नहीं कि आधा 'भाषा' में हो और आधा 'विभाषा' में।

(२) उसे 'सर्ग-हीन' होना चाहिए। 'सर्ग समुज्झितम्' की जगह कहीं-कहीं 'सर्ग-समुत्थितम्' पाठ मिलता है। इस स्थिति में कौन सा पाठ स्वीकरणीय है–इसका पता उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की गई कृति से मिल सकता है। उदाहरण के रूप में दो कृतियाँ प्रस्तुत की गई हैं—'भिक्षाटन' तथा 'आर्या-विलास'। 'भिक्षाटन' नामक 'काव्य' का प्रकाशन निर्णयसागर से प्रकाशित होने वाले 'काव्यमाला' के द्वादश गुच्छ के अन्तर्गत हो चुका है। इसके निर्माता का नाम है—उत्प्रेक्षावल्लभ या शिवभक्त दास। उन्होंने 'प्रथम पद्धति' के अन्त में लिखा है—

वृत्तं वसंत तिलकं विषयः शिवस्य भिक्षाटनं कविरसौ शिवभक्तदासः।
श्रृंगार एव हिरसस्तदिह प्रबंधे श्रद्धा न कस्य यदि सूक्ति विनोदशीलः॥

और इस वृत्त से यह स्पष्ट है कि 'काव्य' नामक काव्य-प्रभेद प्रबन्ध काव्य था। इस ग्रंथ की पुस्तिका में भी 'काव्ये' (भिक्षाटन काव्ये) लिखा है। इसमें शंकर का भिक्षाटन और उसी सदर्भ में मुग्ध अंगनाओं का श्रृङ्गार

धारा वाहिक वर्णित है–शृङ्गार की धारा क्षीण कथा सूत्र को ग्रहण करती है। इस 'काव्य' में ४० पद्धतियाँ हैं–जो दो या तीन-तीन पृष्ठों की हैं।

अगली दो विशेषतायें (३) पद्यों की एकार्थ प्रवणता—एक ही विषय से सम्बद्ध होना (४) तथा समग्र सन्धि का अभाव-अर्थात् कतिपय संधियों का ही होना—ऐसी हैं–जिनसे यह स्पष्ट है कि यह काव्य रूप प्रबंध काव्य का ही एक भेद है और महाकाव्य तथा खण्ड-काव्य के बीच की वस्तु है। अतः 'सर्ग समुत्थित' पाठ भी अनादरणीय नहीं है–हो सकता है–उसमें कई खंड हो। हाँ, महाकाव्य की अपेक्षा कम हो सकते है। 'भाषा विभाषा नियमात्' की भाँति 'सर्गसमुत्थितम्'—न हो महाकाव्य से 'काव्य'—का व्यावर्त्तक तत्त्व पर, 'एकार्थप्रवणता' और संधि सामग्रय का अभाव' तो है ही भेदक। 'एकार्थ प्रवणता' को महाकाव्य से भेदक तत्त्व के रूप में मै इसलिए ले रहा हूँ कि महाकाव्य में इधर उधर के अर्थों के वर्णनात्मक विस्तार से संभव है—मूल प्रयोजनोन्मुखी कथा का बहाव कुछ शिथिल ढंग का हो—पर 'काव्य' में यह बात संभव नहीं है। 'काव्य' का कथाबंध बहुत इधर-उधर के महाकाव्योचित वर्णनाओं से व्यवहित नहीं होता चलता। यही दोनों का अन्तर है। इसका अंतर यह भी है कि महाकाव्य में जहाँ समग्र सन्धियाँ होती हैं—वहाँ 'काव्य' में नहीं।

'खंड-काव्य' का जो स्वरूप दर्पणकार ने प्रस्तुत किया है—उसके सम्बन्ध में की गई परवर्ती व्याख्याओ द्वारा यह बताया गया है—'खड काव्य'—महाकाब्य का एक देशानुसारी है। देखिए—

"अत्र चकारोपादानात् काव्यस्य पूर्वनिरुक्तस्य महाकाव्यस्येत्यर्थः एकदेशानुसारि एकांशानुरूपं काव्यं खंड काव्यं भवेत्'—

इस प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'खंडकाव्य' की परिभाषा में 'काव्य' का अर्थ महाकाव्य ही है। इस प्रकार खंड-काव्य महाकाव्य का ही एक देश है।

इस प्रकार खंड-काव्य की परिभाषा के विषय में दो मत दृष्टिगोचर हो रहे हैं—एक उसे 'काव्य' का और दूसरा 'महाकाव्य' का एक देश मानता है। इतना तो स्पष्ट ही है कि 'खंड-काव्य' काव्य और महाकाव्य की अपेक्षा लघु काव्य रूप या लघु प्रबंध है—'काव्य' में 'महाकाव्य' की अपेक्षा मूल कथा इधर-उधर के वर्णनों में अधिक न उलझती हुई सीधे प्रयोजन की ओर तीव्र गति से बढ़ती है—पर संधियों में विभक्त समग्रता लिए हुई एक कथा दोनो में रहती है–अतः महाकाव्य की भाँति यदि उसे 'काव्य' का भी

एक देशानुसारी कहा जाय तो कोई क्षति नहीं दिखाई पड़ती। जब कोई क्षति दृष्टिगोचर नहीं होती—तो 'महाकाव्य' और 'काव्य' के बाद लक्षण-लक्षित किया जाने वाला खंड-काव्य 'काव्य' का ही एक देशानुसारी क्यो न मान लिया जाय ? स्वयं साहित्य दर्पणकार जब उसे 'काव्य स्यैकदेशानुसारी' कह रहे हैं, तो उसकी अन्यथा व्याख्या क्यो की जाय। कोई क्लिष्ट कल्पना तब की जानी चाहिए—जब स्वाभाविक रास्ता अवरुद्ध हो। यहाँ ऐसी कोई बात है नहीं। फिर जब 'महाकाव्य' का ही एक देशानुसारी—कहना अभीष्ट होता—तो लक्षण में पूर्वोक्त (महाकाव्य) संज्ञा का परामर्शक 'तस्य' ('काव्यस्य' के बदले) पड़ा होता। इस परामर्शक सर्वनाम का प्रयोग न कर 'काव्यस्य' का प्रयोग कदाचित् स्पष्टता के लिए ही दर्पणकार ने किया—पर वादियों ने उसमें भी संदेह डाल ही दिया। 'खंड काव्य' की भी कथा 'काव्य' के समीप इसलिए अधिक होती है—कि वह भी प्रयोजन की ओर इधर-उधर के व्यवधायक विवरणो एव वर्णनो में न फँसती हुई तीव्रगामी होती है। अतः मै तो यही मानता हूँ कि खड काव्य 'काव्य' का ही एक देशानुसारी होता है और पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र ने विश्वनाथ का संशोधन करते हुए 'काव्य' को 'एकार्थ काव्य कहा वह भी बहुत ही सगत सशोधन है और मुझे मान्य है। 'काव्य'—पर ध्यान न देने का यह भी परिणाम हुआ कि महाकाव्य और खड-काव्य के बीच का काव्यरूप (एकार्थ काव्य) भी गायब हो गया। दुष्परिणाम यह हुआ कि महाकाव्य की गरिमा से हीन काव्य भी खंड-काव्य की शर्तों को पूर्ण न करने से महाकाव्य कह दिये गये।

'काव्य' या 'एकार्थकाव्य' को ऑख-ओट करने के ही कारण 'खड-काव्य' पर विचार करने वाले सीधे 'प्रबध' के 'महाकाव्य' से ही उसका भेद निरूपित करते हैं। कारण यह है कि उनकी दृष्टि में प्रबध के दो ही भेद हैं—महाकाव्य और खंड काव्य। इसीलिए इन लोगो ने महकाव्य से खडकाव्य का अन्तर बताते हुए यह कहा है कि महाकाव्य से खंडकाव्य का गुणात्कक भेद ही है—मात्रात्मक भेद नहीं। महाकाव्य में जीवन के विभिन्न पक्षों की झाँकी होगी और खंडकाव्य में एक पक्ष की। महाकाव्य का सम्बन्ध व्यक्ति से होगा—पर वह जातीय प्रतिनिधि होगा, जब कि खड काव्य का व्यक्ति, व्यक्ति ही हो सकता है। महाकाव्य का सम्बन्ध काल के एक बिंदु से होगा। महाकाव्य कई खडों या सर्गों में विभक्त होगा, पर खड काव्य के लिए यह अनिवार्य न होगा। महाकाव्य की कथा का संधियों में विभाजन, सर्ग-गत छंदों की एक रूपता, अंत में छंद परिवर्तन और भावी कथा की सूचना, लम्बे-लम्बे वर्णन, नायक

का इतिहास प्रसिद्ध होना, महत् प्रभाव, प्रयोजन एवं संदेश तथा शैली आवश्यक है—खंड काव्य में ये बातें अनिवार्य नहीं हैं।

उपर्युक्त भेदक तत्त्वो में से अनेक विचारणीय भी हैं। उदाहरणार्थ, यह कहना कि दोनों में मात्रात्मक भेद ही है गुणात्मक नहीं—ठीक नहीं। दोनों ही प्रकार का भेद है—आकारगत लघुता तो होती ही है, 'गरिमा' का वह महाकाव्योचित 'गुण' भी नहीं होता। इस प्रसंग में डा० रामअवध द्विवेदी जी का मत हमें समीचीन जान पड़ता है जहाँ महाकाव्य से भेद करते हुए उन्होने यह कहा है कि इस प्रकार (महाकाव्य से खंड-काव्य के) दो भेदक लक्षण हुए—आकार की लघुता तथा महाकाव्य की तुलना में उत्कर्ष की कमी। उनका यह कहना भी ठीक ही जान पड़ता है कि खण्ड-काव्य में महाकाव्य की अपेक्षा जातीय जीवन की कमी होती है और उसमें भावात्मक तथा प्रगीतात्मक तत्त्वों के संनिवेश की गुंजाइश है। शकुतला दुबे का यह कहना है कि खड-काव्य में 'खड' शब्द अनुभूति की मूल खंड रूपता की ओर संकेत है—सर्वथा असाहित्यिक है। इस वक्तव्य से काव्य का सैद्धांतिक विरोध है। यो तो सभी अनुभूतियाँ महत्तम और समष्टि अनुभूति के खड हैं—पर अपने-अपने में सभी पूर्ण हैं। 'खण्ड-काव्य' में 'खण्ड' शब्द के पर्याय रूप में 'एकदेश' का प्रयोग हुआ है। यह 'खण्ड' या 'एकदेश'—कथा का ही खण्ड या एकदेश हो सकता है। कहा जा सकता है कि कथा की खडता तो महाकाव्य नामधारी कृतियों में भी मिलती है। 'शिशुपालबध' किरातार्जुनीय' 'नैषध' की कथा कितनी है? इस स्थिति में यदि 'खड' का अर्थ 'आकारगत लघुता' ली जाय—जैसा कि और लोगो का भी मत है—तो ली जा सकती है। इस प्रकार 'खड-काव्य' का अर्थ आकारगत लघु-काव्य'—किया जा सकता है। अर्थात् फिर तो रुद्रट की संज्ञा 'लघु-काव्य'—ज्यादा संगत है।

इस प्रकार 'खंड काव्य'—वह आकारगत लघु-काव्य है जो 'एकार्थकाव्य' का एकदेशानुसारी है। वह महाकाव्य की भाँति अपनी कथा को महाकाव्योचित वर्णनों एवं विवरणों की ओर न मोड़कर 'एकार्थकाव्य' की भाँति मूल प्रयोजन की ओर शीघ्र गति से बढ़ता है। भावत्मकता या प्रगीतात्मकता का संनिवेश, कथा और पात्र की परिस्थितियों और व्यक्तित्व पर निर्भर है।

आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र का इस सदर्भ में मंतव्य अधोलिखित है—

मेरे विचार से खड-काव्य, काव्य और महाकाव्य में कथांश के उत्तरोत्तर आधिक्य का ही तारतम्य है। कथा का विस्तार महाकाव्य में उसके बड़े रूप

का मुख्य तत्त्व है। इसी विस्तार को प्रकट करने के लिये पंचसंधि की पूर्ण योजना उसके लिये अपेक्षित है। जहाँ कथा कुछ कम होगी वहाँ उसकी कमी का कारण कोई विशेष अर्थ-ग्राह्यता होगी। कामायनी और साकेत में यह स्थिति स्पष्ट है। तीन प्रकार के उक्त रूप नपे-तुले तो हो नहीं सकते। एकार्थ काव्य कुछ महाकाव्य की ओर बढता भी हो सकता है। पर कमी रहने से वह महाकाव्य न कहा जायगा। खंडकाव्य भी काव्य की ओर बढ़ता हो सकता है। पर कमी से उसे खंड-काव्य की ही अभिधा मिलेगी। खंडकाव्य को 'काव्य' का 'एकदेशानुसारी' कहें या महाकाव्य का यह भी इसी से स्पष्ट है। मानदंड महाकाव्य ही है, काव्य नहीं। काव्य नाम से भ्रम होता है कि वही मध्य बिंदु है। पर ऐसा लगता है कि प्रबंध की कल्पना में मूल भेदों का मूल महाकाव्य ही है। इसलिए मुझे तो साहित्य दर्पण का ही मत ठीक लगता है। अन्यत्र इस विषय में कोई और विस्तृत विवेचन मिले तो प्राचीन आचार्यों की इस कल्पना की छानबीन में विशेष सहायता मिल सकती है। एक अनुसंधायक ने खंडकाव्य को 'काव्य' से ही जोडा है। पर मुझे वह जँचा नहीं। साहित्य दर्पणकार का मत ऐसा नहीं जान पड़ता। उनके कथन को ही तोड मरोड़ कर नई कल्पना की गई है। 'काव्य' स्वयम् 'एकार्थप्रवण' होता है। फिर उसी का एकदेशानुसारी 'खंडकाव्य'। यह अवश्य कहा जा सकता है कि 'एक अंश' पर दोनों की दृष्टि रहती है, 'एकदेश' तो किसी पूर्ण का ही होगा। अपूर्ण का 'एकदेश' एकार्थ का एक देश कदाचित् ठीक नहीं। दर्पणकार ने 'काव्य' शब्द वहाँ 'महाकाव्य' के लिये ही रखा है, मुझे ऐसा ही प्रतीत होता है। आप जैसा समझे या साहित्य दर्पण के टीकाकारों ने जैसा माना हो। यदि 'काव्य' एकार्थ काव्य से ही उसे जोड़ना है तो फिर उसके रूप को विस्तार से स्पष्ट करना पड़ेगा और बताना होगा कि एकार्थ काव्य में एकदेश से क्या तात्पर्य है, आदि-आदि।

महाकाव्य के सम्बन्ध में आज के जिज्ञासुओं के समक्ष कई प्रश्न हैं—जैसे, महाकाव्य, सम्बन्धी पूर्वी और पश्चिमी धारणायें क्या हैं—उनमें दृष्टिगत मौलिक भेद क्या है ? महाकाव्य सम्बन्धी प्राचीन प्रतिमान और नवीन चिंतन के आलोक में लिखे गये क्रांतिकारी परिवर्तनों से भरे हुए बृहत्काय पद्य-बद्ध काव्योचित आवरण में प्रस्तुत कृतियाँ, दोनों के अध्ययन से जब यह स्पष्ट है कि इन नव प्रयासों पर वे प्राचीन प्रतिमान लागू नहीं होते—तो दूसरा प्रश्न यह खड़ा होता है कि इन्हें 'महाकाव्य' संज्ञा देना बंद कर दिया जाय ? अथवा लक्ष्यानुरूप लक्षण का निर्माण किया जाय ? सांस्कृतिक आदर्शों के बिखराव से, यथार्थ की ओर झुकाव से, दैनंदिन जीवन की व्याघ्र-मुखी समस्याओ के चित्रण के आग्रह से बढ़ती हुई बृहत्काय उपन्यासों की स्थिति को देखकर तीसरा प्रश्न यह खड़ा होता है कि क्या महाकाव्यों का स्थान अब उपन्यास लेते जा रहे है ? क्या महाकाव्यो का स्थान उपन्यास ले सकते हैं—यह भी उसी के साथ लगा हुआ एक चौथा प्रश्न है। आज जो खण्ड काव्य नहीं है पर क्या वे सभी पद्यवद्ध रचनाये 'महाकाव्य' की श्रेणी में जो रख दी जा रही हैं-वह ठीक है—आदि-आदि अनेक प्रश्न हमारे सामने खड़े हैं।

इनमें से सबसे पहले हमारे समक्ष प्रश्न यह है कि पौरस्त्य एवं प्राश्चात्य महाकाव्यों के प्राचीन प्रतिमान क्या है ? क्या वे स्थिर हैं या ऐतिहासिक क्रम से गतिशील हैं ? [प्राचीनता की सीमा इस प्रसंग में हम रीतिकाल का अंत मानते हैं और आधुनिक महाकाव्यों की सृष्टि का आरंभ 'द्विवेदी युग'। हरिश्चन्द्र युग में कोई महाकाव्य प्रायः लिखा ही नहीं गया।]

पौरस्त्य-प्रतिमान—भारतीय आचार्यों में सबसे पहले भामह का काव्य-लक्षण उपलब्ध होता है—जहाँ महाकाव्य की निम्नलिखित विशेषतायें बताई गई हैं—

(१) सर्ग बंध (२) महान् का संबंध (३) स्वयं महान् हो (४) अग्राम्य शब्द एवं अर्थ (५) सदाश्रय (६) मन्त्र दूत प्रयाण आदि (७) नायकाभ्युदय (८) पंचसंधिसमन्वितत्व (९) नाति व्याख्येय या सरल (१०) समृद्ध (११) सकल रस समन्वित[१]।

भामह की इन विशेषताओं में दण्डी ने कुछ और तत्त्व जोड़े--(१) त्रिविध

१—काव्यालंकार, प्रथम० प० १९--२०--२१

मंगला-चरण (२) इतिहास कथोन्द्रत या इतर वस्तु (३) चतुर्वर्ग फल (४) चतुरोदात्तनायक (५) नगरार्णवादिवर्णन (६) विविध उत्सव (७) विप्रलंभ, विवाह, कुमारोदय (८) रसभाव निरतरता (६) अनतिविस्तीर्ण सर्ग (१०) भिन्न वृत्तान्तोपेतत्व[1]। निश्चय ही इन विशेषताओ द्वारा दण्डी ने भामह की अपेक्षा वस्तु, पात्र, उद्देश्य एवं अन्य बाह्य संघटक तत्वो का सविस्तार उल्लेख किया है, लेकिन कथा और आख्यायिका के लक्षण की भांति उनकी समीक्षा नहीं की।

'उद्भट' का भामह-विवरण अत्यन्त विशीर्णरूप में उपलब्ध अवश्य हुआ है। पर उससे इनकी महाकाव्य विषयक धारणा स्पष्ट नहीं होती। रुद्रट ने अवश्य विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। उन्होने कहा है कि प्रबन्ध दो प्रकार के होते हैं—उनमें से जहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है—वे दो प्रकार है-उत्पाद्य-कथा वाले और अनुत्पाद्य कथा वाले। आकारगत महत्ता एव लघुता की दृष्टि से भी प्रबंध के दो भेद हैं—महाकाव्य एव लघुकाव्य। उत्पाद्य वह है जिसका समस्त शरीर कवि-उत्पाद्य है। वहाँ नायक भी कल्पित हो सकता है, पर जहां कवि ने अखिल या उसके एक भागीय पञ्जर का इतिहास से ग्रहण किया हो वहाँ अनुत्पाद्य कथा वाला काव्य कहा जाता है। इनमें भी महाकाव्य वह है जो आकारगत महान् हो और जहाँ चतुर्वर्ग का अभिधान हो। वहाँ सभी रस और सभी काव्यस्थान हों। × × उत्पाद्य महाकाव्य में पहले नगरी वर्णन हो, फिर वहाँ नायक के वंश की प्रशसा वर्णित हो। नायक ऐसा हो कि वह धर्म, अर्थ एवं काम जैसे तीनो पुरुषार्थो में रत हो, तीनो प्रभुशक्तियो से समृद्ध हो, सर्वगुण सम्पन्न हो, समस्त राजप्रकृतियाँ उसमें अनुरक्त हो और स्वयं वह विजिगीषु हो। समस्त राज्य एवं राज्यकार्य का परिपालन करनेवाले नायक से सम्बद्ध करके ऋतु वर्णन आदि भी करना चाहिये। अपने या मित्र के लिये धर्मादि के अनुष्ठान करने में तत्पर नायक के प्रतिपक्षी का भी वर्णन होना चाहिए। अपने दूत या चर से शत्रु के कार्यों को सुनाकर सभा में क्रोधोदीपित वाणी बोलने वाले राजाओ को आविष्ट वर्णित करे। नायक में यह दिखाया जाना चाहिये कि वह सचिवों से मंत्रणा लेकर शत्रु को दण्ड देने का निर्णय करता है। फिर या तो स्वयं उस राजा को युद्धार्थ उद्यत करा दे या फिर मुखर दूत दरबार में भेजे। नागरिकों का संक्षोभ रास्ते में पड़नेवाले विभिन्न प्राकृतिक दृश्यो का वर्णन, विहार, सूर्यास्त, उदय, रात्रि, संगीत, पान, शृंगार,

१—काव्यादर्श, प्र० प० १४-१६

आदि का प्रसगात् वर्णन करे और इस प्रकार कथा को खूब बढ़ाये। इसी प्रकार प्रतिनायक में भी असहिष्णुता दिखावे–दुर्गरोध प्रदर्शित करे। प्रातः युद्ध करना है। अतः अपने वध की आशंका करनेवाले सुभटों को सदेश दिलावे। जमकर व्यूह का निर्माण कराये। फिर अन्त में दोनों का विस्मयाबद्ध युद्ध कराते हुये नायक को विजयी बनावे। सर्ग एवं सधियां तो हो ही[१]। साथ ही उनमें कोई ऐसी बात न वर्णित करे, जो विश्वसनीय न जान पड़े।

इस प्रकार दण्डी ने जिन अतिरिक्त मंगलाचरण आदि कतिपय तत्त्वों का निर्देश किया था उनका उल्लेख तो रुद्रट में नहीं हैं–पर भामह के समस्त निर्देशों का विशदीकरण यहाँ विद्यमान है। दण्डी एवं रुद्रट–दोनों ही ने महाकाव्य को कथा वस्तु की प्रख्यात एव उत्पाद्य कहा है। इससे ही दो बातों का अनुमान हो सकता है एक तो यह कि कुछ ऐसे भी महाकव्य इन लोगों के समक्ष थे–जिनकी कथा–वस्तु उत्पाद्य थी अथवा दूसरी यह कि 'कथा' जैसे काव्यरूप की कुछ छाया अब महाकाव्य में भी पड़ने लगी थी–जिसकी वस्तु कल्पित होती है। सकल रस की स्थिति भामह एवं रुद्रट–दोनों ने मानी है, दण्डी ने सकल रस समन्वित रहने की बात न कहकर के कहा यह है कि महाकाव्य में रस भाव का नैरन्तर्य बना रहना चाहिए। रुद्रट में 'संघर्ष' की महाकाव्यगत भावना का बड़ा ही उदग्र रूप वर्णित किया गया है। और बातें प्रायः तीनो में समान ही हैं।

आनंदवर्द्धन ने महाकाव्य की परिभाषा तो नहीं प्रस्तुत की है, परंतु यह अवश्य बताया है कि प्रबंध या महाकाव्य किन विशेषताओं से समन्वित रहें तो-रस व्यंजक हो सकता है–उन्होंने कहा है–

(१) कथा चाहे प्रसिद्ध हो या उत्पाद्य–पर होना चाहिए उसे विभावादि की उचित योजना से चारु। यदि परम्परागत कोई अंश रस विरोधी हो–तो वहाँ रसोचित कथा का उन्नयन करने में कवि को छूट है। यही इतिहास और काव्य का अतर है। इतिहास का लक्ष्य वास्तविक घटना का प्रतिपादन है, काव्य का लक्ष्य रसास्वाद कराना है। सधियो या उसके अगो का विधान हो–परंतु केवल इसलिये नहीं कि वे शास्त्रोक्त हैं-वरन् इसलिये कि वे रस व्यजक है। प्रकृत या अंगी रस का उद्दीपन या प्रशमन यथावसर होना चाहिए तथा अंगी रसका अनुसधान आद्योपान्त एक रस रहना चाहिए–बीच में भंग न

---

१ काव्यालंकार।

होना चाहिए। शक्ति संपन्न कवि भी अलंकारों की योजना रस का आनुरूप्य देखकर करे।

आनंदवर्द्धन ने यहाँ केवल रस की दृष्टि से ही विचार किया है—और पूर्वागत धारणा से इतना विशेष कहा है कि जहाँ भामह, दण्डी एव रुद्रट ने एक–अंगी रस की बात नहीं कही थी–वहाँ इन्होंने उसे स्पष्ट किया और रामायण तथा महाभारत जैसे प्रबंधों में क्रमशः करुण एवं शांत जैसे अंगी रस का अस्तित्व बताया।

हेमचद्र के समक्ष केवल संस्कृत के ही नहीं, प्राकृत एवं अपभ्रंश के भी महाकाव्य थे—अतः इन भाषाओं में लिखे गये महाकाव्यों का उल्लेख करते हुए उन्होने बताया है–(१) भिन्नान्त्यवृत्त (२) सर्ग, आश्वासादि (३) संधि (४) शब्दार्थ वैचित्र्य ये कतिपय विशेषताएँ महाकाव्यों में होती हैं। पता नहीं क्यो प्राकृत एवं अपभ्रंश के महाकाव्यो से परिचित और उनका मर्मज्ञ पण्डित होते हुये भी इन्होंने संस्कृत महाकाव्यों से उसकी अन्य उल्लेखनीय विशेषताओं का विवरण नहीं दिया।

साहित्यदर्पणकार ने बड़े ही विस्तार के साथ महाकाव्य की विशेषताएँ बताई हैं—(१) महाकाव्य को सर्गबंध भी कहते हैं। (२) इसमें एक नायक होता है–वह देवता हो सकता है अथवा धीरोदात्त के गुणों से युक्त सद्वंश क्षत्रिय हो सकता है अथवा एक वंश में उत्पन्न अनेक कुलीन राजागण भी हो सकते हैं। (३) इसमें शृंगार, वीर अथवा शान्त में से एक रस अगी हो सकता है, शेष सभी रस अंग रूप में हो सकते है। (४) समस्त नाट्य संधियाँ होती हैं। (५) कथा सज्जनाश्रित हो—चाहे वह इतिहास से ली गई हो या अन्य प्रकार की हो। (६) चतुर्वर्ग में कोई भी एक फल हो सकता है। (७) आरम्भ में मंगलाचरण हो, कहीं-कहीं खल निंदा और सज्जन प्रशंसा हो। (८) एक वृत्तमय पद्य की प्रचुरता हो—अन्त में छन्द बदले। (९) न बहुत बड़े और न बहुत छोटे ८ से अधिक सर्ग हों—कहीं-कहीं नाना वृत्तों का भी सर्ग देखा जाता है। (१०) सर्ग के अन्त में भावी सर्ग की कथा सूचित हो। (११) संध्या, सूर्य, रजनी आदि प्राकृतिक दृश्य खंड, संभोग, विप्रयोग, मुनि, स्वर्ग, पुर. अध्वर, रणप्रयाण, विवाह, मन्त्र, पुत्रोदय आदि यथायोग्य सांगोपांग वर्णित हों। (१२) कवि, कथा, नायक या तदितर के नाम पर महाकाव्य का नाम रखा जा सकता है। सर्ग का नाम तत्तत्सर्ग की उपादेय कथा के नाम पर रखा जा सकता है।

आर्ष महाकाव्यों (महाभारत) के सर्गों का नाम आख्यान संज्ञक होते

हैं। प्राकृत महाकाव्य के सर्ग आश्वाससंज्ञक, अपभ्रंशबद्ध महाकाव्यों के सर्ग कुडवकसंज्ञक होते हैं। छंद भी उनके अपने ढंग के भिन्नाभिन्न हो सकते हैं।

इस प्रकार संस्कृत के लक्षण ग्रन्थो में महाकाव्य की जो विशेषताएँ दी गई है—वे प्रायः संस्कृत भाषा में निबद्ध महाकाव्यों को ध्यान में रखकर। यह बात नहीं है कि प्राकृत एवं अपभ्रंश के महाकाव्यों का पता इन लक्षण ग्रन्थकारों को नहीं है–पर उनकी विशेषताओ का सविस्तार उल्लेख नही है। सांकेतिक उल्लेख अवश्य है। उदाहरणार्थ, कथा का उत्पाद्य होना, खल एवं सज्जन की निंदा प्रशंसा होना। कथा के उत्पाद्य होने की बात दण्डी से ही मिलने लगती है और प्रायः सभी ने उसका उल्लेख किया है। वैसे आनंद वर्द्धन ने उत्पाद्य की अपेक्षा प्रख्यात कथावृत्त के संबध में सबल तर्कों का प्रयोग किया है। बताया है कि कथा के प्रख्यात रहने में कवि का उत्तरदायित्व कम हो जाता है,अन्यथा उत्पाद्य कथा में पद-पद पर कवि की प्रतिभा को रसोचित सजगता बरतनी पड़ती है। रसोचित सजगता का ध्यान वैसे प्रख्यात इतिवृत्त में भी रखना पड़ता है, परन्तु उतना ज्यादा नहीं। (३) कथा को सरस बनाने पर जोर भी आरम्भ से ही दिया गया है—परन्तु उसके विषय में परिष्कार उत्तरोत्तर होता ही रहा। भामह एवं रुद्रट ने सकल रसों के अस्तित्व की बात कही है—पर उनमें क्या तारतम्य होना चाहिए—इस पर कोई विचार नहीं है। उसका कारण भी था। उस समय तक स्वयं काव्य में रस की सर्वातिशायी स्थिति भी उतनी स्पष्ट नहीं थी। दण्डी ने 'सकल रस' की बात तो नहीं कही थी, परन्तु 'रसभाव के नैरन्तर्य' की चर्चा अवश्य की थी। इस दिशा में सबसे पहले आनंदवर्द्धन ने श्लाघ्य प्रयास किया। एक तरफ उन्होंने काव्यमात्र के लिए—चाहे वह श्रव्य हो या दृश्य—रस की प्रतिपाद्यता स्वीकार की, दूसरी ओर रामायण एवं महाभारत जैसे प्रबंध काव्य में यह प्रतिपादित किया कि वहाँ 'करुण' एवं 'शांत' ही अंगीरस के रूप में हैं—शेष यदि हैं भी तो अंगरस के रूप में। कुन्तक ने भी प्रबंधवक्रता पर विचार करते हुए महाकाव्य की महत्ता उसके 'रसनिर्भर' होने में ही स्वीकार की है। विश्वनाथ महापात्र ने इस दिशा में इतना और स्पष्ट किया कि महाकाव्य मे शृङ्गार, वीर एवं शान्त—में से कोई एक ही रस अगी हो सकता है—शेष यदि हों तो उनका अग रूप में ही नियोजन युक्तिसंगत होगा। यहाँ एक प्रश्न यह खड़ा होता है कि आनंदवर्द्धन ने रामायण में करुण को अगी रस कहा है। विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन को इस वक्तव्य पर अपनी कोई प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त की। जिन तीन रसों के अंगी होने की योग्यता का उल्लेख

विश्वनाथ ने किया है—उनके बीज पूर्ववर्ती लक्षण ग्रंथों में मिलते हैं। 'शांतरस' के विषय में दशरूपककार ने यह स्पष्ट ही कहा है कि नाट्य में तो नहीं, पर श्रव्य काव्य मे उसकी वर्णना सभव है। रुद्रट ने अपने महाकाव्य लक्षण में सघर्ष का जो बृहत् रूप प्रस्तुत किया है—उससे पता चलता है कि वे 'वीररस' की प्रमुखता स्वीकार करते है। 'नैषध' जैसे महाकाव्य के प्रायोगिक रूप तथा विप्रलभ आदि रस भेदों का लक्षणो में उल्लेख देखकर 'शृङ्गार' की अगिता भी स्पष्ट ही है। पर बाल्मीकि रामायण में क्या विश्वनाथ ने 'अष्टाधिक सर्ग' नहीं देखा—कि उसमें अगीरूप से प्रतिपाद्य रस का उल्लेख नहीं किया ? या क्या बात है ? बाल्मीकि के एक-एक काण्ड में जाने कितने अध्याय है—८ की तो बात ही अलग है—अतः उक्त विकल्प संभव नहीं है। तब फिर यह हो सकता है कि वहाँ वे 'करुण' मानते ही नही, जैसे कुछ लोग 'महाभारत' में 'शांत' नही मानते—जो भी हो—इस विषय में विश्वनाथ के विचार कुछ स्पष्ट होकर सामने आये नहीं।

(४) महाकाव्य के सर्गबद्ध होने की बात सभी ने की है, पर विश्वनाथ ने उसे स्पष्ट अष्टाधिक' कहा है। सर्गों के विषय में यह भी कहा गया है कि वे न तो बहुत बड़े हो और न बहुत छोटे। पर इस आपेक्षिक बड़ाई या छोटाई व कोई सीमा स्पष्ट नहीं है। सर्गों के विषय में यह भी कहा गया है कि भिन्न वृत्तों से उनका अंत हो। दर्पणकार ने छंद के विषय में यह बताया है कि आद्योपांत छद एक हों–पर किसी–किसी काव्य में यह देखा जाता कि वहाँ के सर्ग नाना प्रकार के वृत्तो से समन्वित हो। दर्पणकार ने यह भी बताया है कि प्रबंध की धारा अत्यधिक सबद्ध हो–तदर्थ यह आवश्यक है कि प्रत्येक सर्ग के अत में भावी सर्ग की कथा का सूचन हो। अन्य लोगों ने भी कहा है कि 'प्रबध' को 'अनुज्झितार्थ संबन्ध' वाली होना चाहिए। (५) प्रबंध में जो इतिवृत्त ग्रहण किया गया हो, उसे पंचसंधि समन्वित होना चाहिये—इसका उल्लेख भामह से ही मिलने लगता है। निश्चय ही यह तत्त्व नाट्य का है। इससे वामन की यह स्थापना कि महाकाव्य, कथा एवं आख्यायिका-सबके सब दृश्य काव्य के ही विलसित हैं—बहुत कुछ ध्यान देने योग्य जान पड़ती है। इतिवृत्त के लिये इन आचार्यों ने यह भी कहा है कि उसे 'लोक स्वभाव से युक्त' होना चाहिये। भामह का यह कथन आनंदवर्द्धन के 'औचित्य चारुणः विधिः कथा शरीरस्य"—इस वक्तव्य का पूर्व रूप है। इस इतिवृत्त को चतुर्वर्गात्मक फल में से किसी एक की ओर पर्यवसन्न होना चाहिये। रस की भाँति होने को सभी फल हो सकते हैं—पर अंगी तो किसी

एक ही को होना चाहिए। (६) इतिवृत्त जिस नेता का निबद्ध हो—उसे कुलीन होना चाहिये और महान्। वह देव भी हो सकता है और सद्वंश जात क्षत्रिय भी। वह एक भी हो सकता है और अनेक भी। प्रवृति में उसे धीरोदात्त के गुणों से युक्त होना चाहिये। नायक का यह ढाँचा भी दृश्यकाव्य से ही लिया गया है। (७) भामह और रुद्रट आदि ने तो नहीं, पर दण्डी तथा दर्पणकार आदि आचार्यों ने मंगलाचरण को, खल एवं सज्जन की निंदा और प्रशंसा आदि को आवश्यक माना है।

इस प्रकार ये प्रतिमान है—जो प्राचीन महाकव्यों पर लागू होते हैं। 'महाकाव्य' पर पोथा प्रस्तुत करने वाले किसी अनुसंधायक का यह कहना है कि भारतीय आचार्यों की परिभाषायें यदि एक ओर अव्याप्त हैं तो दूसरी ओर अतिव्याप्त। अव्याप्त इसलिए कि वे रामायण एवं महाभारत पर नहीं लागू होती और अतिव्याप्त इसलिये कि नगण्य काव्यो पर भी वे लागू हो जाती है। लेकिन जब वे अनुसंधायक महोदय यह स्वयं मानते है कि महाकाव्य की परिभाषा विकासमान है—वे विभिन्न महाकाव्यों को ध्यान में रखकर निर्मित की गई है—तो उनमें 'अव्याप्ति' स्वतः है—पर जिसे ध्यान में रखकर वे परिभाषाएँ प्रस्तुत की गयी हैं—उनके लिये वे 'अव्याप्त' नहीं हैं। कहा जा सकता है कि सस्कृत आचार्यो की कोई भी परिभाषा 'रामायण' पर लागू नही होती–तो यह मानने की बात नहीं है। इसी प्रकार महाभारत की भी स्थिति है। आनंदवर्द्धन ने रामायण एवं महाभारत को प्रबंधकाव्य (महाकाव्य) कहा भी है। भामह की परिभाषा को वे महोदय रघुवंश के लिये इसलिये 'अव्याप्त, मानते हैं कि उसमें अनेक नायक हैं और भामह ने ऐसा कहा नहीं। नहीं, भामह ने कहा है और स्पष्ट कहा है– 'महतां च महच्च यत् महता का अर्थ–'महान लोगो ही तो है। इसका बहुवचन बहुत का ही द्योतक है। दूसरे उनका दर्पणकार पर भी इसलिए चिढ़ना कि उन्होंने 'अनेक नायक का ही नियम किया–ठीक नहीं है। दर्पणकार ने दोनों बातें कहीं हैं। तत्रै को नायकः ·········बहवोऽपिवा। आक्षेप करने से पहले आक्षेप्य का ज्ञान होना आवश्यक है। मेरे कहने का यह आशय नहीं समझना चाहिए कि जो कुछ संस्कृत के आचार्यो ने कहा है–वही मान्यतम है। मैंने प्रसंगात केवल अनाक्षेपार्ह तथ्यो की ओर इंगित किया है। महाकाव्य के प्रभेद पर वे आचार्य मौन है दर्पणकार ने केवल 'आर्ष' एवं 'अनार्ष'–जैसा प्रभेद अवश्य इंगित किया है। महाभारत को आर्ष महाकाव्य कहा गया है।

प्राकृत एवं अपभ्रंश के महाकाव्यों की सस्कृत महाकाव्यों से जो अतिरिक्त

विशेषतायें हैं—उनका विस्तारपूर्वक उल्लेख संस्कृत लक्षण ग्रन्थो में नहीं है–पर इगित अवश्य है—यह ऊपर साधार कहा जा चुका है। प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश काव्यों में पौराणिक सरणि, कथा एवं आख्यायिका के तत्त्व अधिक समाविष्ट हुए है—और इनका प्रभाव हिंदी के महाकाव्यो पर भी है। विद्वानों का कहना है कि हिंदी के प्राचीन महाकाव्य तीन सरणियो पर लिखे गये हैं—(१)संस्कृत महाकाव्य की सरणि(२)प्राकृत-अपभ्रंश काव्य की सरणि (३)विदेशी मसनवी शैली—पहले का उदाहरण—रामचन्द्रिका, दूसरे का रामचरित मानस एवं तीसरे का पद्मावत है। पदमावत मसनवी शैली का रोमांचक महाकाव्य है—इसका खंडन भी रामपूजन तिवारी ने किया है और उनकी स्थापना है कि पद्मावत की जिन विशेषताओ को मसनवी का अनुकरण माना जाता है—वे सब अपभ्रंश परम्परा से आई हुई हैं—तिवारी जी का विचार है कि ढाँचा उसका भारतीय ही है—भराव में कुछ अपने संकार और विश्वास चाहे आ गये हो।

निष्कर्ष यह कि समस्त प्राचीन महाकाव्यो (हिंदी के) का आदर्श अपनी भारतीय महाकाव्य परम्परा का ही है। अर्थात् महाकाव्यो की विकासमान परम्परा प्राचीन युग में अविच्छिन्न ढंग से चलती रही।

(ख)

प्राचीन पौरस्त्यप्रतिमान की चर्चा कर लेने के बाद महा काव्य के पाश्चात्य प्रतिमानों को भी देख लेना चाहिए। कारण, संभव है आधुनिक महाकाव्यों में उनका आंशिक उपयोग हो।

जिस प्रकार विभिन्न महाकाव्यो को ध्यान में रखकर भारतीय आचार्यों ने महाकाव्यो की विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की उसी प्रकार पश्चिम में भी महाकाव्य संबंधी धारणा विकासमान रही। यहाँ हम उसके बहुत अनावश्यक विस्तार में न जाकर पाश्चात्य महाकाव्य विषयक कतिपय तत्त्वों का निर्देश कर देना उपयुक्त समझते हैं।

१—महाकाव्य का नायक राष्ट्र एवं जाति का प्रतिनिधि होता है, जिसके द्वारा राष्ट्र एवं जाति की विजय प्रदर्शित की जाती है।

२—महाकाव्य का कार्य भी महान् होता है और पात्र भी।

३—समस्त काव्य उत्कर्ष पर्यवसायी होता है। विषय परम्परा प्रतिष्ठित, लोक-प्रचलित एवं राष्ट्रीय होती है।

४—घटनाओं का बाहुल्य होने के कारण नाटक की अपेक्षा महाकाव्य का कथानक शिथिल होता है। महाकाव्य में निबद्ध जीवन-खण्ड जितना ही

विस्तृत और मानवीय अनुभव जितना ही समृद्ध हो—सफलता की उतनी ही अधिक संभावना होती है ।

५—नाटक की तुलना में महाकाव्य में अनियन्त्रित असभव एवं अद्भुततत्त्व अधिक होते है ।

६—महाकाव्य एक बृहदाकार प्रकथन प्रधान काव्य है ।

७—इसकी शैली भी महती होती है ।

८—छंद प्रायः एक ही होता है ।

सामान्यतः जो आवश्यक तत्त्व ऊपर निर्दिष्ट किये गये हैं—उनसे भारतीय महाकाव्य के तत्त्वो की तुलना करने पर निम्नलिखित भेदक तत्त्व दिखाई पड़ते हैं —

(क) भारतीय महाकाव्यों के आदर्शनायक विजय की ओर ही उन्मुख होते है, पर पश्चिमी महाकाव्य के नायक पतन की ओर जाते हुए दिखाई पड़ते हैं । पश्चिम के महाकाव्यों में नायक के व्यक्तिगत रूप की अपेक्षा राष्ट्रीय एवं जातीय रूप सर्वाधिक मुखर रहता है । भारतीय महाकाव्यों में राष्ट्रीयता या जातीय संस्कृति की बात उल्लिखित भले न हो, पर नायक भारतीय संस्कृति के उपकरणों से समन्वित रहता है ।

(ख) भारतीय महाकाव्यों में वीर के साथ शृंगार एवं शांत भी अगीरस के रूप में रहता है, परन्तु पश्चिमी महाकाव्यों में प्रायः वीररस ही प्रधान रहता है—संघर्ष की ही प्रमुखता रहती है ।

(ग) पूर्वी महाकाव्यों में भावानुकूल छंद—परिवर्तन होता रहता है, पर पश्चिमी महाकाव्यो में प्रायः एक ही वीर छंद की प्रचुरता रहती है ।

(घ) भारतीय महाकाव्य आकार की दृष्टि से भी प्रायः बड़ा होता है ।

(ङ) नायक के कार्य कलाप, दैवी हस्तक्षेप विषयक धारणा, दोनों देशों की भिन्न-भिन्न है । पश्चिम की नियति अंधी है, निरंकुश है, परंतु पूर्व की कर्म नियंत्रित ।

(ग)

संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के बाद जब हिंदी के महाकाव्यों के ऐतिहासिक क्रम से उद्भव एवं विकास पर ध्यान देते हैं—तो आदिकाल में विकसनशील वीरकाव्यों की स्थिति देखते हैं । मध्यकाल के पूर्वार्द्ध की सूफी एवं रामाश्रयी धारा में तो महाकाव्य लिखे गये, परंतु ज्ञानाश्रयी एवं कृष्णाश्रयी धारा में महाकाव्यों की सृष्टि नहीं दिखाई देती । ये दोनों ही शाखाएँ समाजोन्मुखी प्रवृत्ति की नहीं हैं ।—सामाजिक—संस्कृति के उपकारणो

की ओर उन्हें कोई आकर्षण नहीं है–वे सामजिकता से निरपेक्ष होकर लोकवेद की अपेक्षा न कर ऐकातिक परलोक साधना में निरत रहने वाली हैं। निर्गुणिए यदि समाज की ओर उन्मुख भी होते हैं तो ध्वंसात्मक आलोचना के लिये। ज्ञानाश्रयी शाखावालो की दृष्टि में ससार विनश्वर है–माया का पसारा है–मोह का मूल है–अतः उसकी व्यवस्था और व्यवस्थापक सांस्कृतिक उपकरण उन्हे आकृष्ट नही कर पाते। कृष्ण भक्ति शाखा वाले भगवान की मधुर उपासना में आर्यपक्ष को प्रतिबंधक मानते हैं—लोक वेद को रोडा समझते है। फिर जिन सास्कृतिक उपकरणो के ताने-बाने से महाकाव्य की सृष्टि होती है। वे इन लोगो में अनाकर्षक होने से दिखाई ही नहीं पड़ते। फलतः इस धारा वाले महाकाव्य की सृष्टि नहीं कर सके।

उत्तर मध्यकाल में ह्रासशील सस्कृति और कुंठाग्रस्त प्रवृत्तियों के कारण महान् आदर्शों से प्रेरित किसी महाकाव्य की रचना प्रायः नहीं हो सकी। राजा महाराजाओ की साहित्यिक गोष्ठी मे कलात्मक प्रवृत्ति, इतनी उदग्र थी—बौद्धिक चमत्कार का इतना समादर था, समय का हर सलाहकार के लिये इतना बन्धन था कि थोड़े ही समय में अधिकाधिक चमत्कार मुक्तको में बाँधकर प्रस्तुत कर देना पडता था।

बीसवीं शताब्दी में पूर्ववर्ती सामंती एवं पौराणिक रूढ़ियो और मृत जीवन मूल्यो के प्रति घृणा हो गई और प्राचीन भारतीय, सस्कृति के जीवत तत्त्वों को पहचान कर पाश्चात्य सस्कृति के सार्वभौम और अत्यावश्यक सामायिक तत्त्वों के साथ समन्वय की प्रवृत्ति जगी। परतु भारतेंदु युग में प्राचीन साहित्यिक रूढ़ियों को सर्वथा छोड़ना और इस सास्कृतिक संक्रांति के काल में महाकाव्य के अनुरूप महान् आदर्शों को मूर्त करना संभव नहीं था। निष्कर्ष यह कि महाकाव्य के लिए जिस थिराहट की अपेक्षा होती है—वह उस संक्रांति काल में संभव नहीं थी। सुधारवादी आंदोलनों और पुनरुत्थान की प्रबल भावनाओ के कारण बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक कतिपय दशकों में पौराणिक एवं सामंती संस्कृति को तर्कबुद्धि से परिमार्जित एवं परिष्कृत करके अपनाने की प्रवृत्ति अधिक बढ़ी। फलतः द्विवेदी युग में मानवीय दृष्टि को, मानव के महत्त्व को (क्योंकि तर्कबुद्धि, आधुनिक बुद्धि को उसी में विश्वास था—वैसा ही सुनना वह पसंद करती थी) मुखर करने वाले महाकाव्य आयें। पौराणिक कथाओं को महाकाव्य के लिए अपना कर उसमें बौद्धिक दृष्टि से विश्वसनीयता उत्पन्न करने के लिए अनेक विध परिवर्तन लाये जा रहे थे—उनकी तर्क संगत एवं मनोविज्ञान संगत व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाने

लगी थीं—मानव में ही देवत्व की प्रतिष्ठा होने लगी थी—इस प्रकार वर्ण्य की दृष्टि से ही नहीं, शिल्प की दृष्टि से भी प्राचीन रूढ़ियो का तिरस्कार हो रहा था और नये शिल्प विधान गृहीत हो रहे थे। द्विवेदी युग में पौराणिक कथाओ के चरित्रो को तो लेते थे, परन्तु उनके अतिमानवीय एवं असभव कार्यों का बौद्धिक विश्लेषण कर मानवीय रूप दे देते थे, नर में ही समस्त देवोचित उत्कर्ष समाहित कर देते है। साकेत एवं प्रिय-प्रवास की निम्नलिखित पंक्तियाँ इसका स्पष्टीकरण करेंगी।

"नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया। सदेश यहाँ मै नहीं स्वर्ग का लाया इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया"—साकेत की इन पक्तियो में भूतल पर टिकी हुई दृष्टि स्पष्ट है। अदृष्ट शक्तियो एवं अदृश्य लोको की अपेक्षा दृष्ट शक्तियों एव दृश्यलोको में ही उन भावनाओ को केंद्रित किया जा रहा है। प्राचीन महाकाव्य 'पद्मावत' का हीरामन कितना वावदूक है—पर साकेत में—'रे सुभाषी बोल तू क्यो चुप हुआ'—में पक्षी की वावदूकता को प्रयत्नपूर्वक उद्घाटित करने पर भी सफलता नहा है। रामायण के पात्रो की बुद्धि पर सर.वती आकर बैठ जाती है और उनका मस्तिष्क फिर जाता है, पर साकेत की कैकेयी एवं मंथरा मनोविज्ञान संगत भावनाओ से परिचालित हैं। सूरसागर या भागवत के कृष्ण सचमुच अँगुली पर गोबर्द्धन धारण कर लेते है—पर 'प्रिय.वास' के कृष्ण के प्रति कविवर का कहना है कि मानों श्याम ने गोबर्द्धन को अँगुली पर धर लिया हो। भक्तिकाल के राधा एवं कृष्ण एकांत प्रेम के उन्मादी प्रेमी है, प्रिय प्रवास के कृष्ण राष्ट्र के उद्धारक एवं आततायियों का सामना करने वाले हैं। यहाँ की राधा कहती है—

"यो है मेरे हृदयतल मे विश्व का प्रेम जागा"

सारा राष्ट्र उनको कृष्णमय दिखाई दे रहा है। राधा और गोपियाँ 'प्रिय-प्रवास' मे आकर बड़ी लोकमुखी हो गई हैं—

"प्यारे जीवे, जगहित करें गेह चाहे न आवे"

इस प्रकार कथाये प्राचीन वाङ्मय से ली जाती थीं पर दृष्टिकोण उनमें नया था। इस प्रकार न केवल आन्तर दृष्टिगत, बल्कि महाकाव्य के बाह्य विधानो में भी पर्याप्त परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा। अब मंगलाचरण आवश्यक नहीं था। सर्गों की संख्या का कोई नियम नहीं था। रस सम्बन्धी भावना की उपेक्षा थी। सर्गों के नाम के विभिन्न आधार ग्रहण किये जा रहे थे। नायक समसामयिक व्यक्ति भी हो रहा था और फिर भी यह आवश्क नहीं था कि वह उच्च कुल प्रसूत ही हो और पुरुष ही हो। यह भी आवश्यक नहीं था

कि उसमें धीरोदात्त के ही सब गुण निविष्ट हों। पंचसंधियो का निर्वाह भी उपेक्षित था। वर्णनतत्त्व भी उपेक्षित होता जा रहा था। यथार्थ और स्वाभाविकता का आग्रह बढ़ता जा रहा था। फल की दृष्टि से धर्म और मोक्ष की अपेक्षा अर्थ और काम की महत्ता बढ़ती जा रही थी। रस-निष्पत्ति की जगह सामयिक समस्यायें, सांस्कृतिक सघर्ष एवं उसके समाधान का चित्रण होता जा रहा था। इतिहास के अपेक्षित और अनादृत पक्ष एवं व्यक्ति सामने लाये जा रहे थे। निष्कर्ष यह कि महाकाव्य के प्राचीन प्रतिमानों में आमूलचूल परिवर्तन हो रहा था। अब यह आवश्यक था कि या तो इन कृत्तियो को महाकाव्य ही न माना जाय—या फिर इनके अनुरूप नये प्रतिमान सोचे जाये।—फलतः दूसरे पक्ष पर आस्था रखनेवाले चितक नये-नये प्रतिमानों का निर्माण करने लगे।

द्विवेदी युग के बाद वैज्ञानिक-साधनों से बढ़ते हुए विश्व के पारस्परिक संबंधों ने विश्वव्यापी मानवतावादी विचारों के कारण सांस्कृतिक चेतना का एक नया स्तर उभड़ा। इस नवीन स्तर के निर्माण के अनुरूप जो महाकाव्य आये—उनमें यदि एक ओर पश्चिमी रोमेण्टिक साहित्य का प्रभाव था, तो दूसरी ओर भारतीय दार्शनिक चिता धारा और साहित्यिक परम्परा के प्रति भी आस्था व्यक्त हो रही थी। 'कामायनी' इसी का साकार रूप है।

इस प्रकार आधुनिक युग में महाकाव्य की कुल तीन कोटियाँ दिखाई पड़ती हैं—(१) ऐसे महाकाव्य भी लिखे जा रहे थे—जिनमें प्राचीन शास्त्रीय लक्षणों का यथाशक्य निर्वाह देखा जा रहा था, पर उनमें दृष्टिकोण या रूप शिल्प संबधी कोई नया आकार नहीं था (२) दूसरे प्रकार के महाकाव्य वे हैं जिनमें दृष्टिकोण की मौलिकता एवं रूप शिल्प की नवीनता के बावजूद भी शास्त्रीय लक्षणों का मोह नहीं छूट पाया। (३) तीसरे प्रकार के महाकाव्य वे हैं जिनमें परम्परागत प्रबन्धरूढ़ियो का सर्वथा त्याग है और नवीनता की धुन में प्रबंधत्व तथा भावात्मकता का सर्वथा बहिष्कार कर दिया गया है।

आधुनिक महाकाव्य की परिधि में पिछले दो तरह के महाकाव्य ही आ सकेंगे। इन आधुनिक-महाकाव्यों के नूतन प्रतिमानों के विषय में आज दो तरह की धाराएँ गतिशील हैं—एक वर्ग है जो विषय, आकार, उद्देश्य' सरणि एवं पात्रगत 'महत्व' को देखना चाहता है, दूसरा वर्ग है—जो उन्हीं वस्तुओं में 'औदात्य' की शर्त स्वीकार करता है। सवाल यह खड़ा होता है कि 'महत्त्व' एव औदात्य' के बीच कौन अधिक ग्राह्य है? यदि यह 'औदात्य'

पश्चिम के Sublimity का रूपान्तर है। तब तो निश्चय ही एक अव्याप्त प्रतिमान है। पात्र, सरणि, वर्ण्य एवं आकार में 'औदात्य' के बावजूद भी निराला का 'तुलसीदास' महाकाव्य कहा जा सकता है ? कहा जा सकता है कि बर्क ने 'औदात्य' का विचार करते हुये यह कहा कि औदात्य का सम्बन्ध विशालता से है—चाहे वह विशालता विचारो और भावनाओं में मिले अथवा बाह्य पदार्थों के रूप और आकार में। 'तुलसीदास' के बाह्यरूप या आकार में महाकाव्योचित विशालता नहीं मिलती है, अतः उसे महाकाव्य नहीं कहा जा सकता। अर्थात् 'औदात्य' से 'महत्त्व' सर्वथा 'पृथक्' नहीं है। फिर भी 'महाकाव्य' में 'महत्त्व' और 'औदात्य' के साथ-साथ 'काव्यत्व' भी अपेक्षित है। कहा जा सकता है कि 'औदात्य के जो पाँच स्रोत माने गये हैं, उनमें से तीन का सम्बन्ध कलात्मकज्ञान और उसके सम्यक प्रयोग से है, जो काव्योचित स्रोत हैं। अतः 'औदात्य' में (महत्त्व एवं काव्यात्व) महाकाव्य के सभी समुचित उपकरण विद्यमान हैं। तथापि एक बात विचारणीय है। जिस आह्लाद को अरस्तू एवं हेरिस आदि ने कला का अन्तिम लक्ष्य माना है, उस 'आह्लाद' से 'औदात्य' जनित आह्लाद का तादात्म्य नही है। उसकी तह में भय, आश्चर्य एवं पीड़ा की भी भावना निहित है। निश्चय ही भारतीय 'रसात्मक-काव्यास्वाद—' से भी वह भिन्न है। ऐसे 'आनंद' या 'रस' का सम्बन्ध 'औदात्य' से नहीं 'सौदर्य' से है। अभिनव गुप्त ने भी काव्यानंद का सम्बन्ध 'सौदर्य' से माना है। सौदर्यवादियो के 'आह्लाद' में भारतीयों की 'रसानुभूति' सन्निहित है। दूसरे औदात्य का करुणा या करुण से आनुकूल्य नही है, पर 'रस' वादी का उससे कोई विरोध नहीं है। निष्कर्ष यह कि 'औदात्य' की काव्य में पारिभाषिक स्थिति काव्यानंद के अनुरूप न होने से उसकी महाकाव्योचित प्रतिमानरूपता सबको मान्य नही हो सकती। कतिपय भावना विरोधी लोग मानें तो मान सकते हैं। 'औदात्य' की अपेक्षा 'महत्त्व एवं 'काव्यत्व' का भी अपना एक परम्परागत अर्थ है, पर मतमतातरो के बावजूद महाकाव्य के लिए 'महत्व' और 'काव्यत्व' ही सचमुच मान्य तत्त्व हैं। यह ठीक है कि स्तरीय महाकाव्यों के अनुरूप 'महत्त्व' एवं 'काव्यत्व' के परम्परागत अर्थ में युगोचित परिष्कार आवश्यक है।

छायावादी युग तक तो महाकाव्यो की सृष्टि होती आ रही थी—पर प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद ने महाकाव्य नहीं दिए। इसके कई कारण है। पहला तो यह इस धारा में सांस्कृतिक-आदर्शों का बिखराव है। जो संस्कृति अपनी परम्परा के साथ विद्यमान है—उस वर्गवादी संस्कृति में प्रगतिवादियों

को आस्था नहीं-अपनी ऐसी कोई वर्ग विहीन समाज की स्थिर एवं स्थायी सांस्कृतिक धारा नहीं और बिना इस उपकरण के महाकाव्य की सृष्टि असंभव है। प्रयोगवादियों में व्यष्टिभावना इतनी उदग्र एवं मुखर है कि उन्हे 'व्यक्ति' ही पूज्य एव प्रकाश्य जान पड़ता है। तीसरे महाकाव्योचित आदर्शों, भावनाओं एव कल्पनाओ से हटकर यथार्थ, सामाजिक समस्या के प्रकटीकरण का आग्रह का भाव भी कम प्रतिबंधक नही है।

एक तरफ ये तत्त्व महाकाव्य का प्रणयन रोकते है—दूसरी तरफ उपन्यासो की सृष्टि करते है। इस प्रवृत्ति को देखकर कुछ लोगो का कहना है कि वर्तमान उपन्यासो ने आज महाकाव्य का स्थान ले लिया है—क्योकि आज के जीवन के बृहद्रूपों, विवेचनात्मक रूपों की अभिव्यक्ति का माध्यम उपन्यास ही बन गया है। War and peace को Epic-Navel की संज्ञा ही दे दी गई है। 'गोदान' के लिए भी यह सज्ञा प्रस्तावित की गई है।

प्रश्न है कि क्या सचमुच उपन्यास महाकाव्यों का स्थान ले सकते है? मेरा तो अपना यही विचार है कि कदाचित् नहीं। कारण, एक तो दोनो की उत्पत्ति का इतिहास एव प्रयोजन अलग-अलग हैं। दूसरे दोनो का माध्यम -गद्य एवं पद्य- अलग-अलग है। तीसरे पद्य के साथ भावना, कल्पना, वर्णना एवं अलकार का सहज सबंध है—जो महाकाव्य के लिए आवश्यक है। चौथा यह कि उपन्यास की अपेक्षा महाकाव्य की समस्या महती एवं गभीर तथा आपेक्षिक कालविस्तार की व्याप्ति लिये रहती है।

इस प्रकार संक्षेप में महाकाव्य संबंधी कतिपय विचारो के ये निष्कर्ष हैं-जो प्रस्तुत कर दिये गये है।

पूर्वी और पश्चिमी दृश्य काव्यगत समानताएँ

डॉ० राघवन् ने अपने एक विशिष्ट निबध में विभिन्न आधारो पर पूर्वी एवं पश्चिमी नाट्य साहित्य का विश्लेषण करते हुये यह निष्कर्ष निकाला है कि शिल्प तथा आदर्श की दृष्टि से भारतीय नाटक यूनानी नाटकों से सर्वथा भिन्न है। तथापि भरत नाट्यशास्त्र एवं यूनानी नाट्यशास्त्र की तुलनात्मक कई समानताएँ उपलब्ध होती है। प्रस्तुत निबन्ध में हम क्रमशः इन विशेषताओ पर दृष्टिपात करेंगे।

(क) नाट्य उद्भव :—वैसे पश्चिमी विचारको में भारतीय-नाट्य के उद्गम के सम्बन्ध में अनेक मत है—पर उनमें इस तथ्य पर मतभेद का अवकाश नहीं है कि भारतीय भी नाट्य के उद्गम का मूल धार्मिक भावना ही है। अभिनवगुप्त आदि ने तो नाट्यशास्त्र और नाट्यवेद को पर्यायात्मक कहा है। यहाँ नाट्यशास्त्र को भी वेद के समकक्ष पहुंचा दिया गया है। नाट्यशास्त्र में भी नाट्य की उत्पत्ति का इतिहास बताते हुए यह कहा गया है कि काल परम्परा से जब सभी प्राणी ईर्ष्या एवं क्रोध से परिव्याप्त होकर दुःखी होने लगे तब इन्द्र प्रमुख देवताओं ने पितामह से कहा कि उन्हें किसी प्रकार का क्रीड़नीयक चाहिये—चाहे वह दृश्य हो या श्रव्य। तब पितामह ने पञ्चम वेद नाट्यवेद की रचना की। नाट्य के विभिन्न अगो में से ऋग्वेद, से पाठ्य, साम से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्व से रस का ग्रहण किया गया। इस पौराणिक घटना में चाहें सत्यता का जितना अंश हो, पर आधुनिक अनुसंधायको द्वारा की गई इस स्थापना से कि नाट्योद्भव का मूल यज्ञयागादि के अवसर पर किये गये विभिन्न प्रयोग हैं—में सर्वथा ऐक्यरूप है। किसी न किसी प्रकार नाट्य का मूल स्रोत वैदिक धार्मिक प्रयोग है।

इसी प्रकार पश्चिमी नाट्य का मूल उद्गम भी धार्मिक पर्व या उत्सव ही है। कहा गया है कि ग्रीक में मदिरा का देवता डायोनिसस माना गया है। जिसकी वसंत में प्रतिष्ठा की जाती थी और उस अवसर पर सामूहिक गान होते थे। उपासक गण उन्मत्त होकर नृत्य करते थे, स्थानांतरण करते थे, नवीन वेषभूषा में मदिरा की तलछट पोत कर नाचते थे आदि—इसी उल्लासात्मक अनुकरण, नाच एवं गाना से धीरे-धीरे नाट्य का उद्गम हुआ।

(ख) नाट्यस्वरूप के विषय में भी दोनों देशो के प्राचीन आचार्यों का आंशिक आनुरूप्य मिलता है। प्राचीन ग्रीक आचार्यों ने यह माना है कि कला

प्रकृति का अनुकरण है और काव्य भी एक कला है—फलतः वह भी अनुकरणात्मक है। इधर भारतीय नाट्यशास्त्रियों का भी कहना है।

"त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्" (ना.शा.प्र.अ. श्लो.१०७)

"सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद्भ विष्यति" —वही, श्लो० ११७

इस प्रकार पश्चिमी आचार्यों ने काव्यमात्र को और भारतीय आचार्यों ने नाट्यमात्र को अनुकरणात्मक कहा है। उभयदेशीय परवर्ती व्याख्याकारों ने 'अनुकरण' शब्द की अनेक विध व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। पश्चिमी विचारको ने इस शब्द की व्याख्या उपस्थापन या निर्माण पक्ष से ही की है, पर भारतीय आचार्यों ने उपस्थापन या निर्माण के साथ-साथ 'ग्रहण' पक्ष से भी। पश्चिमी विवेचक निर्माण पक्ष से ही दो प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—यथार्थमुखी एवं आदर्शमुखी। पहला पक्ष यथातथ प्रतिबिबन को अनुकरण कहता है और दूसरा काट छाँट पूर्वक इस प्रकार के उपस्थापन को–जो अयथार्थ होकर भी यथार्थ का भ्रम पैदा कर दे। आदर्शवादी व्याख्याकार और गहरे जाकर यह भी कहते हैं कि 'प्रकृति का अनुकरण' का अर्थ यह नहीं है कि कलाकार सीधे प्रकृति का यथातथ चित्रण कर देता है, बल्कि अन्तः करण पर पड़ी हुई प्रकृति की छाप का कल्पना द्वारा पुनः आह्लादकारी उपस्थापन या नूतन सर्जना करता है। भारतीय विचारको में दशरूपक एवं उसके व्याख्याकार धनिक धनञ्जय की व्याख्या उपस्थापन पक्ष से है। वे मानते हैं कि अनुकरण नट का अनुकार्य से 'तादात्म्यापत्ति' है और 'तादात्म्यापत्ति' का माध्यम है—चतुर्विध अभिनय (आंगिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य)। यहाँ 'तादात्म्यापत्ति' नट के कुशल अभिनय से उत्पन्न भ्रांत तादात्म्यापत्ति ही अभीप्सित है। अर्थात् नट अपने अभिनय कौशल से अनुकार्य का अनुकरण इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि दर्शक को एक काव्यीय-भ्रांति उत्पन्न हो जाती है जिसके फलस्वरूप वह नट को अनुकार्य ही समझ लेता है—[अयथार्थ को यथार्थ समझना ही भ्रम है]। पश्चिमी विचारको ने इस भ्रांति का बड़ा ही गंभीर विचार किया है। निश्चय ही यह भ्रांति और लोकानुभव की अज्ञानजनित या उन्माद जनित भ्रांति में अन्तर है—कारण दोनों की फलात्मक परिणति में स्पष्ट अन्तर है। पश्चिमी विचारक चाहे भ्रांति की स्थिति को काव्याह्लाद में जहाँ तक स्थान देते हों, पर भारतीय विचारक 'तादात्म्यापत्ति' की भ्रांति को 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया में कहाँ तक ग्राह्य मानते हैं—यह एक अभी विचारणीय प्रश्न है। इन दोनों सिद्धान्तों की चर्चा दशरूपक वालों ने की है—फलतः दोनों की संगति पर भी

उन्हें विचार करना चाहिये। मेरा मतलब यह है कि 'तादात्म्यापत्ति' में नट को अनुकार्यात्मक मानना होगा और 'साधारणीकरण' में—जो नाट्याह्लाद की अनिवार्य प्रक्रिया है—अनुकार्य के वैयक्तिक रूप का विगलन होता है—उसका 'विशेष' से 'सामान्यीकरण' होता है—कदाचित् इस असंगति को भी ध्यान में रखकर अभिनव गुप्त ने 'साधारणीकरण' में वैयक्तिक रूप के नैयत्य का ही निषेध किया है–नियमपूर्वक अपने या पराये से प्रतीत संबंध या असंबंध के भान का निराकरण किया है–सामान्यतः प्रतीत संबंध या असंबंध का अथवा वैयक्तिक रूप का निषेध नहीं किया है। वैयक्तिक रूप की सर्वथा विस्मृति से तो सीता एवं शकुन्तला पर्याय ही जान पड़ेगी। निष्कर्ष यह कि इस असंगति के निवारण का यह रास्ता संभव है। 'ग्रहण' पक्ष से अभिनव गुप्त एवं भट्टतौत ने 'अनुकरण' पर पर्याप्त विचार किया है और उस दृष्टि से उन्होंने माना है कि 'नाट्यमेव[1] रसः' और 'तदिदमनुकीर्त्तनमनु व्यवसायविशेषो नाट्यापरपर्यायः, नानुकार इति भ्रमितव्यम्[2]"—अर्थात् 'नाट्य' तत्त्वतः रस ही है, उसको अनुकरणात्मक कहने का अभिप्राय अनुकीर्त्तन या अनुव्यवसाय ही है। अनुकरण का अर्थ 'सदृशकरण' ही तो होता है–पर वह संभव कहाँ है? 'सदृशकरण' किसी नियत अनुकार्य का ही हो सकता है–जो रामादि जैसे अनुकार्यों को ध्यान में रखने पर संभव नहीं है। अनियत के अनुकरण या सदृशकरण का कोई अर्थ ही नहीं है।–काव्य कौतुक नामक कृति में अभिनवगुप्त के उपाध्याय ने यही कहा है कि नियत व्यक्ति के अनुकरण को असंभव समझ कर अनियत व्यक्ति के अनुकरण को नाट्य समझने का भ्रम कभी नहीं होना चाहिए। अनेक विकल्पों को प्रस्तुत करते हुए अतत. अभिनवगुप्त ने यह स्थिर किया है कि–"योऽनुव्यवसायो जन्यते सुखदुःखाद्याकारतत्तच्चित्तवृत्तिरूपरूषित निजसविदानन्दप्रकाशमयः अतएव विचित्रो रसनास्वादन चमत्कार चर्व भावेशभोगाद्यपरपर्यायः–तत्र यदव भासते वस्तुतन्नाट्यम्"–[3]अर्थात दृश्यमान प्रयोक्ता के द्वारा सामाजिक के अंतःकरण में जो अनुव्यवसाय होता है, उसे रसना, आस्वादन, चमत्कार चर्वण

१—नाट्यं नाम लौकिकपदार्थव्यतिरिक्तं तदनुसार प्रतिबिबालेख्य-सादृश्यारोपाध्यवसायोत् प्रेक्षास्वप्न मायेन्द्रजालादिविलक्षणं तद्ग्राहकस्य सम्पाज्ञानभ्रांति संशयानवधारणानध्यवसाय विज्ञानभिन्न वृत्तान्तास्वादन रूप संवेदन संवेद्य वस्तु रसस्वभाव मिति वक्ष्यामः—अनिनव भारती, पृ० ३

२—वही, पृ० ३७, ३—वही,

निर्वेश, भोग आदि शब्दो से कहा जाता है। उसमें प्रदर्शित के अनुरूप सुखदुखःखाकार न तत चित्तवृत्तियों से संबलित जो सचिदानंदमय प्रकाश हैं—वही अनुव्यवसाय का स्वरूप है। तर्क दर्शन में अनुव्यवसाय ज्ञान का ज्ञान है। यहाँ भी अनुभव जन्य वासना का पुनरास्वाद—साम्यवश या तत्त्वतः अनुव्यसाय कहा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं जहाँ पश्चिमी विचारको ने केवल निर्माण की दृष्टि से 'अनुकार' पर विचार किया है वहाँ पूर्वी 'ग्रहण' की दृष्टि से भी। निर्माण की दृष्टि से किये गये 'तादात्म्यापत्ति' वाले पक्ष पर दोनों देशों के आचार्य बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं।

नाट्य-प्रभेदः—पश्चिम के प्राचीन आचार्यो ने पहले दो ही भेद बताये थे—सुखांत एवं दुखांत, कामेडी और ट्रेजेडी। भारतीय आचार्यों ने काव्य के जितने भी प्रभेद स्वीकार किए है वे सब 'फलागम' पर्यवसायी होने के कारण सुखांत ही है। फिर भी सुखांत रूपको के जो दसविध भेद किये हैं—डा० राघवन् प्रभृति चिंतको ने उन्हें भी दो वर्गों में विभक्त किया है—शौर्यपूर्ण तथा सामाजिक। जैसे—नाटक में शौर्यप्रवृत्ति अपनी पूर्णता को पहुँच जाती है और 'प्रकरण' में सामाजिक प्रवृत्ति अपने विकास का पूर्ण क्षेत्र प्राप्त करती है। शौर्यपूर्ण (नाटक) के अपेक्षाकृत निम्न प्रकारों में समवकार, डिम, व्यायोग, अक तथा ईहामृग है और सामाजिक वर्ग के लघुतर प्रकारो में प्रहसन भाण तथा वीथी हैं। पहले में देव एवं आदर्श पार्थिव नायको के शौर्यमय कामो तथा उनके परिणामों का चित्रण रहता है जब कि दूसरे में सामान्य लोगो के जीवन तथा प्रेम कार्यों का विवरण रहता है। इस प्रकार का विश्लेषण करते हुए डॉ० राघवन् ने कहा है—"संस्कृत नाटक के प्रकारो का अन्ततः शौर्यात्मक तथा सामाजिक नामक दो विशेषताओं के अनुसार वर्गीकरण उसे यूनानी रंगमंच के किंचित् समीप ला देता है, जिसके त्रासदी (ट्रेजडी) तथा कामदी (कामेडी) नामक दो प्रकार[1] हैं"

काव्यरूप—एक महत्वपूर्ण काव्यरूप के रूप में उभयदेशीय मनीषियो ने दृश्य या नाट्य की चर्चा की है। भारतीय आचार्यों में 'संदर्भेषु दशरूपकं श्रेयः', 'मुख्यतः दशरूपात्मकमेव काव्यम्' 'नाट्यमेव काव्यम्'—की ध्वनि मुखर है—तो पश्चिमी आचार्य भी ट्रेजेडी जैसे नाट्यरूप को अन्य विध प्रबंध काव्यों से महत्त्वपूर्ण घोषित करते हैं और उसका कारण यदि भारतीय

१—भारतीय नाट्य साहित्य—पृ० ५

ाचार्य रसमयता का पूर्ण परिपाक अथवा चित्रवत् समस्त काव्य रूपों की
ाशेषताओं का एकीकृत रूप मानते हैं, तो पश्चिमी आचार्य ट्रेजेडी की
ाश्लिष्ट शिल्पगठन और प्रभावोत्पादकता बताते हैं।

नाट्य-तत्त्वः—भारतीय प्राचीन आचार्यों ने नाट्य के तीन तत्त्व बताये
—वस्तु, नेता और रस (उद्देश्य)। यद्यपि इन तीनों तत्त्वों के विश्लेषण के
संग में उन तमाम बातों का भी गंभीर विश्लेषण उपस्थित हो जाता
—जिनकी चर्चा अन्य देशीय विद्वानों ने भी की है। अरस्तू ने कुल छः तत्त्वों
ी चर्चा प्रस्तुत की है—कथानक, पात्र, विचार, संगीत पद रचना और दृश्य
ाधान ।

इनमें सबसे पहले आती है—वस्तु । वस्तु का विशद विश्लेषण
उभयदेशीय आचार्यों ने प्रस्तुत किया है । नाट्यशास्त्र में इतिवृत्त या
ाथानक को नाट्य—काव्य का शरीर कहा है—'इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं
रिकीर्तितम्' [१७/१] । जब कि अरस्तू ने 'वस्तु' को प्राणस्थानीय
ातिपादित किया है और उसके कारण पर पुष्कल विचार किया है। कहा है
के वस्तु की ही महत्ता पर प्रभाव की महत्ता निर्भर करती है । परंतु 'वस्तु'
ा यह महत्त्व पश्चिम में भी धीरे—धीरे कम होता गया और उसका स्थान
ारित्र ने ले लिया। होरेस ही अपने विवेचन में वस्तु की अपेक्षा पात्र की
ओर झुका हुआ दिखाई पड़ता है।

भारतीय आचार्यों ने वस्तु का विशद विश्लेषण किया है और कई दृष्टियों
े किया है। पहला विश्लेषण कल्पना एवं वास्तविकता के आधार पर है—
जसके अनुसार यह कहा गया है कि नाट्यवस्तु उत्पाद्य, प्रख्यात एवं मिश्र—
त्रिविध हो सकती है। दूसरा विश्लेषण फल के आधार पर है और कहा गया
है कि नाट्य वस्तु कभी त्रिवर्ग गत एक फल से, कभी दो और कभी तीनों से
ुक्त हो सकती है—यह दूसरी बात है कि उनमें से कभी कोई प्रधान हो और
कभी कोई। तीसरा विश्लेषण नाट्य वस्तु की सर्व—श्राव्यता या अश्राव्यता
के आधार पर है। नाट्य वस्तु के कतिपय अंश ऐसे होते हैं जो सबके लिये
(मंच पर उपस्थित समस्त पात्रों के लिये—सामाजिक के लिये तो है ही) श्राव्य
ा सुनाने योग्य होते हैं, पर कुछ अश ऐसे होते हैं जिन्हे मंचस्थ पात्रों में से
कुछ नियत लोगो को ही सुनाया जाना आवश्यक समझा जाता है—इसे ही
'नियत श्राव्य' कहा जाता है—इसके दो भेद होते हैं—जनान्तिक एवं अपवारित।
'जनान्तिक' में परस्पर—अभिमुख—पात्र रहस्य की बात आपस में करते हुए
मंच पर देखे जाते हैं—यद्यपि मंच पर और पात्र भी रह सकते हैं—पर

सामाजिक यह समझता है कि जो दो परस्पराभिमुख लोग बात कर रहे हैं–उन्हीं के बीच यह वार्ता सुनी जा रही है–शेष मंचस्थ पात्र नहीं सुन रहे हैं। 'अपवारित' में त्रिपताका कर' की विशिष्ट मुद्रा से मचस्थ अन्य पात्रो का अपवारण किया जाता है और अपेक्षित पात्र से रहस्यमय बात होती है। कथा वस्तु का कुछ अंश ऐसा भी होता है–जिसे 'स्वगत' या 'अश्राव्य कहते हैं जिसे मंचस्थ अन्य पात्र नहीं सुन रहा है–यह मान लिया जाता है। चौथी दृष्टि कथावस्तु के विश्लेषण की यह भी है कि कथा वस्तु हो तो लोक स्वभावानुरूप ही –अन्यथा अविश्वसनीय होने से अकर्षक नहीं होगी–पर उस भित्ति को नाट्योचित सौंदर्य प्रदान करने के लिये नाट्य की कुछ अपनी विशेषताएँ भी उसमें मिला दी जाती हैं–इन्हें क्रमशः लोक धर्मी एवं नाट्य धर्मी कहते हैं। नाट्य धर्मी का तो एक उदाहरण **'आकाशभाषित'** है–जिसमें कोई वक्ता–विशेष आकाश की तरफ लक्ष्य बाँधकर स्वयं प्रश्न करता है और कल्पित व्यक्ति द्वारा दिये गये उत्तर को स्वयं अनुकरण सा करता है। पाँचवी दृष्टि से कथावस्तु का विश्लेषण करते हुए यह भी कहा जाता है कि कथावस्तु का कतिपय अश सरस होता है और कतिपय नीरस–सरस अंश का प्रदर्शन होता है और नीरस अंश का सूचन–पहले को अंक द्वारा प्रदर्शित किया जाता है और दूसरे को 'सूच्य' द्वारा। 'अंक' में नायक की स्थिति नितांत आवश्यक है। कहा गया है कि उसमें एक दिन की घटना हो और वह एक ही प्रयोजन से संबद्ध हो–अधिक पात्रों की भीड़ न हो, केवल तीन या चार पात्र हों, अंक के अंत में इनका निर्गम हो। अंकों में दूर का रास्ता, वध, युद्ध, राज्य देशादि विप्लव, संरोध, भोजन स्नान सुख, उपलेपन, अंबरग्रहण का प्रयोग या प्रदर्शन न हो। होरेस ने भी कतिपय निषेध्य बातें कहीं हैं। 'सूच्य' के पाँच रूप हैं–विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका अंकास्य एवं अंकावतार। विष्कंभक एवं प्रवेशक का अंक के आदि में, चूलिका का नेपथ्य से अंक के मध्य में और अंकास्य तथा अंकावतार का अंक के अत से संबंध है। पूर्वापर नीरस कथांश को सूचित करने के लिये अक के आदि में 'विष्कंभक' का तो प्रयोग होता ही है, 'प्रवेशक' का भी होता हैं–फिर भी दोनो में कई अंतर हैं। पहला यह है कि जहाँ विष्कंभक' का सूच्य उदात्तार्थक होता है–पात्र उत्तम और मध्यम भी हो सकते हैं, वहाँपर 'प्रवेशक' का सूच्य अनुदात्तार्थक होता है–पात्र भी अनुदात्त या अधम कोटि के होते हैं। दूसरा अंतर यह है कि जहाँ विष्कंभक प्रथम अंक के आदि में भी होता है–वहाँ 'प्रवेशक'–दो अंको के ही बीच हो सकता है–अर्थात् विष्कंभक की भाँति प्रवेशक

प्रथम अंक के आरंभ में नहीं हो सकता। चूलिका स्पष्ट ही है। 'अंकास्य' में (परवर्ती अक की अपेक्षा) पूर्ववर्ती अंक के अंत आनेवाले पात्रों द्वारा परवर्ती अंक के पात्रो और उनकी स्थिति के संबंध में सूचना दी जाती है। अंकावतार में सीधे पूर्ववर्ती अंक के पात्र अपनी वार्ता को अविच्छिन्न रखते हुए परवर्ती अंक के आदि में उतर आते हैं।

छठीं दृष्टि से वस्तु का विश्लेषण करते हुये यह कहा गया है कि मूल प्रयोजन की ओर अग्रसर होती हुई कथा के विकास में संतुलन बनाये रखने के लिए उसे बराबर-बराबर पाँच खंडों में बाँट लेना चाहिये—इन संधीयमान इतिवृत्त खंडो को संधि कहते है और प्रत्येक संधि खंड में एक कार्यावस्था और एक अर्थ प्रकृति का होना आवश्यक माना जाता है। पाँच कार्यावस्थायें हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियतादि और फलागम। पाँच अर्थ प्रकृतियाँ हैं—बीज, विंदु, पताका, प्रकरी और कार्य। इन दोनों से क्रमशः समन्वित पाँच संधियाँ हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श एवं निर्वहण। इन संधियो के भी कुल ६४ भेद हैं। सातवीं दृष्टि से कथावस्तु की प्रमुख एवं अप्रमुख शाखाओं को लेकर वस्तु विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। प्रमुख कथा धारा को 'आधिकारिक' और अप्रमुख कथा धारा को 'प्रासंगिक' कहा जाता है। प्रासंगिक के भी दो भेद हैं—पताका एव प्रकरी।

पश्चिम के आचार्य ने भी कार्यान्विति की दृष्टि से मूलकथा के तीन खंड किये हैं—आदि, मध्य एवं अन्त। कार्यान्विति का अर्थ है कि सभी घटनाएँ एक तो परस्पर संबद्ध हों और दूसरे यह कि सभी किसी एक कार्य की ओर प्रवहमान हो। भारतीय आचार्यों ने भी संधि-विभाजन से यही लक्ष्य रखा है। संधियो के ६४ भेदों का प्रयोजन बताते हुए भरतनाट्यशास्त्र मे स्पष्ट कहा गया है कि इन विभिन्न अंगो में कथावस्तु के विभाजन का षड्विध प्रयोजन है। वे इस प्रकार है—(१) इष्टार्थरचना, (२) वृत्तान्त का अनुपक्षय (३) प्रयोग की राग प्राप्ति, (४) छादनीय अर्थ का छादन, (५) विस्मयावह अभिख्यान, (६) प्रकाश्य का प्रकाशन। कथावस्तु के त्रिधा विभाजन के अतिरिक्त अन्य प्रकार से उसका पञ्चधा और षड्धा विभाजन किया गया है। जिस प्रकार भारतीय आचार्यों ने कथावस्तु की पाँच अवस्थाएँ बताई है—उसी प्रकार इन लोगों के यहाँ भी (i) Exposition (ii) Incident (iii) Rising actiion (iv) Crisis (v) Denument, (vi) Catastrophy। संघर्ष और उसके परिणाम की दृष्टि से कथावस्तु की ये अवस्थाएँ बताई गई हैं। कार्यान्विति के प्रसंग से संकलनत्रय की बात

भी आ खड़ी होती है—जिसके अनुरूप विचार उभयदेशीय नाट्यमीमांसाओं में मिलती है।

पश्चिमी आचार्यों ने अन्वितियो अथवा संकलनत्रय की कल्पना नाट्य प्रभाव को घना और तीव्र बनाने के लिये किया है और नाट्य भ्राति में एक सहकारी कारण के रूप में कल्पित किया हैं। संकलनत्रय की धारणा नाट्य क्षेत्र में अरस्तू से पहले भी प्रचलित थी—जिसे अरस्तू ने अपने अध्ययन एवं विश्लेषण द्वारा और व्यवस्थित रूप दिया। ट्रेजेडी के लिये यह आवश्यक माना गया था कि उसकी वस्तु की काल की दृष्टि से सीमा A single revolution of the sun होनी चाहिए। सूर्य के इस एक चक्र का अर्थ किसी ने १२ किसी ने २४ और किसी ने ७२ घंटा तक मानी। कार्नील ने पहले २४ घण्टे के पक्ष में व्याख्या दी, पर बाद में अरस्तू के ही आधार पर उसकी सीमा ३० घण्टे तक बढ़ायी। रावटॅली तथा मिण्टनो ने इस सीमा को १२ घण्टे का मानता था और डेसियर ने तो यह भी कहा था कि १२ घण्टे दिन के भी हो सकते हैं और रात के भी या आधा-आधा दोनों के हो सकते हैं। सेग्नी ने इसकी व्याख्या २४ घण्टे के पक्ष में की है। मागी केवल ३ घण्टे के पक्ष हैं और कास्टलविट्री मानते हैं कि अभिनय एवं कथावस्तु की कालावधि समान हो। स्थानान्विति का कहीं स्पष्ट निर्देश तो नहीं है, परंतु जब कालान्विति एवं कार्यान्विति का विधान है—तो स्थानान्विति की बात अपने आप आ जाती है। इन तीनों में कार्यान्विति की चर्चा सबसे ज्यादा हुई है। इन तीनों अन्विति का सार्थक्य प्रभावैक्य की दृष्टि में है।

मूल प्रयोजन (प्रभाव) से सश्लिष्ट रूप में आवश्यकतानुसार यदि इनकी सृष्टि हुई तब तो ये सार्थक होते हैं—पर जब 'शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया' इनका प्रयोग होने लगता है—तो ये नैसर्गिक समुच्छ्वास के कठोर पंजर बन जाते हैं। १७वीं शती में इसके पक्षीय एवं विपक्षीय दलो ने इसे काफी विवादास्पद बना दिया। उत्तरोत्तर स्वच्छंदतावादी तथा समस्या नाटक निर्माताओं ने तो इसे इस प्रकार धुना कि रूई की भाँति यह सिद्धान्त बिखर गया। वस्तुतः आरंभ में यूनानी रंग मंचों में कोरस के कारण स्थान परिवर्तन इतना सरल नहीं था—अतः उस समय विशेष की रंगमंचीय स्थिति के कारण इस अन्विति की कुछ सार्थकता हो सकती थी —पर उससे संबंध छूटने पर इसकी कोई उतनी आवश्यकता न रही। आनंदवर्द्धन ने भी नाट्यशास्त्रीय नियमों के लिये यही कहा था कि उनका विधान 'रसनिष्पत्ति की अपेक्षा' से होना चाहिये, शास्त्रीयस्थिति के निर्वाह की अपेक्षा से नहीं।

सम्प्रति भारतीय दृष्टि से भी संकलनत्रय का विचार कहाँ किस रूप में हुआ है—इसे देख लेना आवश्यक है। कीथ आदि कतिपय समीक्षकों का विचार है कि भारतीय नाट्याचार्यों ने संकलनत्रय पर ध्यान नहीं दिया है। पर ऐसी बात नहीं है। भारत नाट्यशास्त्र में, यह सही है कि सम्पूर्णनाट्य के लिये तो यह कहीं नहीं कहा गया है कि उसकी कालाव क्या हो, पर 'अंक' पर विचार करते हुए सभी ने यह स्वीकार किया है—

"एक दिवसप्रवृत्त कार्यंस्त्वङ्कोऽर्थवीजमधिकृत्य,
आवश्यककार्याणामविरोधेन प्रयोगेषु ॥

अर्थात् एक अक की कयावस्तु का अंश 'एक दिवस' का हो सकता है। अभिनव गुप्त ने 'एक दिवस' का अर्थ किया है—१५ मुहूर्त्त। दिन रात के तीसवे भाग को मुहूर्त्त कहते है। वहाँ उन्होने यह भी कहा है कि यदि एक अंक की कार्यवाही में १ दिन अर्थात् १५ मुहूर्त्त से ज्यादा समय लगता हो—तो वही अक को समाप्त करके अवशिष्ट भाग 'प्रवेशक'[1] या अन्य सूच्यों द्वारा सूचित कर दिया जाना चाहिये। भरत के नाट्यशास्त्र में इस सूच्य की भी कालावधि[2] दी हुई है—और वह कालाविधि है—१ वर्ष की।

नाटकलक्षणरत्नकोषकार ने (इस 'एक-दिवस-प्रवृत्त' की अनेक विध व्याख्यायें प्रस्तुत की है—अथवा कहा जा सकता है कि इससे सबद्ध अनेक लोगो के मत प्रस्तुत किये है—(१) कुछ लोग १२ घटे की कालावधि अक की बनाई है (२) कुछ लोगो 'एक वासर कृत' का अर्थ 'एक रात्रि कृत' किया है।

काल सकलन ही नहीं, 'स्थान सकलन' के विषय में भी भरत नाट्य-शास्त्र में कहा गया है कि जो कोई व्यक्ति किसी विशेष प्रयोजन से यदि लम्बा रास्ता तय करता हो—तब भी एक संभाव्य सीमा से पार जाने पर यही उचित है कि उस प्रचलित अंक का छेद कर दिया जाय। पर यदि आकाशयान आदि शीघ्रगामी यंत्रों की सहायता से रास्ता तय कर लेना हो तो कोई हानि नहीं।

१—दिवसावसानकार्यं यद्यङ्के नोपपद्यते सर्वम्।
अंकच्छेदं कृत्वा प्रवेशकैस्तद्विधातव्यम् ॥ १८ वाँ अध्याय
२—अंकच्छेदं कुर्यात् मासकृतं वर्षसंचितं वापि।
तत्सर्वं कर्त्तव्यं बर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित् ॥ वही

जहाँ तक कार्यान्विति का संबंध है—यह बहुत ही सुस्पष्ट रूप से कह दिया गया है कि संधियों का विचार इसी पक्ष से किया गया है। जिस प्रकार सकलनत्रय की सार्थकता को प्रभावैक्य के घनीभूत और तीव्र बनाने में ऊपर बताया गया है उसी प्रकार यह भी बताया गया है कि भारतीय आचार्यों ने 'रस' निष्पत्ति में सहकारी होने से इसके समानान्तर किये गये भारतीय विचारो की सार्थकता स्वीकार की है।

'स्वगत' जैसे नाट्य धर्मो से मिलते-जुलते प्रयोग को पश्चिम में Aside रूप से कहा गया है।

ऐसे ही और भी नाटकीय प्रयोग हैं—जैसे पताका स्थानक—पश्चिम में इसके समानान्तर प्रयोगो को Dramatic-Irony कहा गया है।

पात्रः—

वस्तु के बाद भारतीय दृष्टि से दूसरा तत्त्व है—पात्र। नाट्यशास्त्र में पुरुष एव स्त्री-पात्रो का सविस्तार विचार किया गया है। पुरुष पात्रों में नायक और स्त्री पात्रों में नायिका तथा इनके सहायको की भी विस्तृत नामा वाली मिलती है। यहाँ 'फलभोक्ता' को नायक या नेता कहा गया है—जो चार प्रकार के हैं—धीरोदात्त, धीरललित, धीरशांत एवं धीरोद्धत। इनके अतिरिक्त प्रतिनायक, विदूषक, पीठमर्द, विट एवं चेट आदि अन्य विध पात्र भी हैं। लेकिन इन पात्रो का एक स्थिर ढॉचा है—जिसमें वे ढाल दिये जाते हैं—उनका निर्बंध व्यक्तित्व-विकास या चारित्रिक विकास नहीं प्रदर्शित किया जाता। वस्तुतः यहाँ 'रस' ही प्रमुख साध्य है—अतः उसकी निष्पत्ति के अनुरूप पात्र या चरित्र का एक स्थिर ढॉचा तैयार कर दिया गया है। उसकी वैयक्तिक विशेषतायें निश्चित कर दी गई हैं—उससे जहाँ वे टले कि उनका नेतृत्व विगलित हुआ। परन्तु पश्चिम में ऐसी बात नहीं रही। वहाँ 'वस्तु' के महत्त्व के अनंतर पात्र का महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया और उसका चारित्रिक वैशिष्ट्य भी उभड़ता गया। १८ वीं शती के वैनब्रा (Vanbrugh) नामक एक अगरेज नाटककार ने तो यह स्पष्ट कह दिया कि नाटकों में कथानक की अपेक्षा चरित्र का स्थान कहीं ऊँचा है। पाश्चात्य नाटको में भी पात्रों का वर्गीकरण नायक-नायिक, दुष्ट, विदूषक—जैसा किया गया है। पात्रों की वर्गगत कल्पना पश्चिमी मनीषियों ने भी की है—अरस्तू ने स्वयं इस प्रकार की बात कही है। कुछ पात्र सामान्य वर्ग के और कुछ अतिमानव ढंग के भी देखे गये हैं—पर उत्तरोत्तर उन्हें विश्वसनीय मनुष्य के पास लाने का प्रयत्न किया गया है और किया भी जाना चाहिए।

पश्चिमी नाटकों में पात्र या चरित्र की निर्मुक्त रूपता के इतिहास पर जब हम दृष्टिपात करते हैं–तो स्पष्ट देखते हैं कि यूनानी नाटककारों का एक चरित्र दर्शन था–जिसमें नियति संबंधी धारणा प्रमुख थी। यह नियति भी नाटकों में अनेकरूपा दिखाई पड़ती है—कहीं भविष्यवाणी के रूप में, कहीं भाग्यदेवी के रूप में, कहीं नेमिसिस के रूप में और कहीं डबल-डीलिंग के रूप में। पर अरस्तू ने नियति के पाश में आने के कारण नायक या पात्र गत एक दोष भी मानते थे—जिसे वे 'एमोप्टिया' कहते हैं। भारतीय 'प्रारब्ध' या 'नियति' अंधी नहीं हैं–वह संचित कर्म का ही फलदानार्थ उन्मुख एक अंश है।

ईसाई धर्म के उदय के साथ-साथ 'नियति' की अपेक्षा मनुष्य अपने दोषो या पापों के कारण करुणा-भाजन होने लगा–अर्थात् चरित्र बुरे भाग्य का निर्माता स्वयं समझा जाने लगा। जागरण काल में उसके दोष या पाप का कारण उसकी चारित्रिक त्रुटियों को बताया गया। पर आज मानव की चारित्रिक त्रुटि, पाप, पुण्य, नियति या भाग्य–सब कुछ परिस्थितियों की देन के रूप में विवेचित होने लगा है। अब परिस्थिति विशेष में पड़ा हुआ मनुष्य जो कुछ है–उसका उत्तरदायी परिस्थिति मानी जाती है और आगे बढ़ने पर वह आज की समस्याओ से पीड़ित दिखाया गया। इस तरह मनुष्य के पीड़ित रूप चित्र के कई स्तर दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार पात्र की दृष्टि से उभयदेशीय विचारो की आशिक समता दिखाई गई।

रस या उद्देश्य—

अंतिम या तीसरा तत्त्व है—रस। भारतीय आचार्य 'रस' को ही नाट्य का प्रमुख लक्ष्य मानते हैं। दशरूपककार ने उन लोगों की हँसी उड़ाई है जिन लोगों ने नाट्य का प्रमुख लक्ष्य 'व्युत्पत्ति' लाभ बताया है। वे तो मानते हैं कि नाट्य का मुख्य फल 'आनंद'[१] ही है। अरस्तू भी मानते हैं कि कि कला का उद्देश्य शिक्षा देना नहीं, वरन् एक उच्च प्रकार का शुद्ध भावनात्मक एवं बौद्धिक आनन्द प्रदान करना है। ट्रेजेडी के आनन्द की उपलब्धि हमें तभी होती है जब हम नायक का किसी नैतिक दौर्बल्यवश पतन देखें और हममें करुणा तथा भय का सचार हो। इसके फलस्वरूप हमारी भावनाओं का रेचन होता है और हमें एक आनन्द मिलता है। जिस प्रकार

१—आनंदनिःष्यदिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्प बुद्धिः।
योऽपीति हासादिवदाह साधुः तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाम ।।
दशरूपक, प्र० पृ० १

होमियोपैथिक दवा रोग को उभाड़ कर उसका शमन कर देती है उसी प्रकार ये ट्रेजेडी भी हमारी भय एवं करुणा की भावनाओं को उभाड़कर उनका शमन कर देती है। इस शमन से हमें राहत मिलने जैसा आनन्द मिलता है।

भारतीय आचार्य वासनाओं के शमन से नहीं, बल्कि उसी के परिष्कृत आस्वाद से आनन्द मानते हैं। 'शमन'—से आनन्द एक दु खाभावात्मकरूप है—वह आनन्द का विध्यात्मक पक्ष नहीं हैं। अनुभव भी यही कहता है कि प्रेक्षक उसी भावना में रागद्वेष, लाभहानि की व्यावहारिक भूमिका से ऊपर जाकर उसी में रमना चाहता है न कि उसका विनाश चाहता है। रमण का मूल है—मानसिक ऐकाग्र्य—संविद्विश्रांति। नाट्-साध्य संविद्विश्रांति की स्थिति आनन्दमयी ही है।

इस प्रकार कतिपय मिलते जुलते पूर्वी एवं पश्चिमी नाट्यतत्त्वों की तुलना प्रस्तुत की गई।

नाट्यसंधि-विमर्श

नाट्य के यों तो अनेक उपकरण है— परन्तु सामान्यतः भारतीय आचार्यों ने उसके तीन तत्त्व माने है—वस्तु, नेता और रस। प्रस्तुत निबंध में केवल वस्तु पक्ष से मुख्यतः संधि की दृष्टि से ही विचार किया जायगा। नाट्यशास्त्र में इसका विवेचन बहुत बिखरा हुआ है। परवर्ती विचारकों ने उसे व्यवस्थित और सक्षिप्त रूप दिया है। स्वयं दशरूपककार ने कहा ही है—"नाट्यानां कितु किञ्चित् प्रगुणा रचनय लक्षणं संक्षिपामि" अर्थात् नाट्यशास्त्र का वृहत् समारम्भ तो कौन पृथक्-पृथक् प्रदर्शित कर सकता है—

परन्तु सक्षेप में उन्हें अवश्य प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

यों तो 'वस्तु' तत्त्व का विभाजन अनेक दृष्टियों से किया गया है—जैसे, प्राधान्याप्राधान्य की दृष्टि से प्रासंगिक और आधिकारिक, यथार्थ और कल्पना की दृष्टि से प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र, सरसता और नीरसता की दृष्टि से अंक और अर्थोक्षेपक या दृश्य अथवा सूच्य, श्राव्यताऔर अश्राव्यता की दृष्टि से सर्वश्राव्य, अश्राव्य और नियत श्राव्य, स्वाभाविकता और नाट्यौचित्य की दृष्टि से लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी आदि-आदि। पर इन

सबके साथ-साथ इस बात पर भी ध्याना रखा गया है कि नाट्य-वस्तु लक्ष्योन्मुख विकास में संतुलन बनाये रखती है या नहीं ? भरत नाट्यशास्त्र में इसी दृष्टि से कहा गया है—

इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्त्तितम् ।
पञ्चभिस्सधिभिस्तस्य विभागः संप्रकल्पितः ॥१६ । १॥

प्रतीच्याचार्यों से सर्वथा विपरीत नाट्यशास्त्र में इतिवृत्त या नाट्यवस्तु को नाट्य का शरीर कहा गया है और उसे संतुलित बनाये रखने के ख्याल से यह कहा गया है कि उस कथा वस्तु का पाँच सधियों में विभाग कर लेना चाहिए—पाँच खडो में विभक्त कर लेना चाहिए। प्रश्न यहाँ यह प्रस्तुत होता है कि 'संधि' किसकी संज्ञा है ? विभक्त इतिवृत्त खड की या इतिबृत्त-खंडों के योग या संबंध की ? परवर्ती व्याख्याकारों और विवेचको में दोनों प्रकार के व्याख्यान मिलते है—उदाहरणार्थ एक ओर धनिक और धनंजय के विचार है— धनंजय ने 'दशरूपक' में स्पष्ट कहा है—

"अन्तरैकार्थ संबंधः संधिरेकान्वये सति" (१।२३)

और इसकी व्याख्या करते हुए धनिक ने कहा है—"एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसंबंधः संधिः"—अर्थात् एक महाप्रयोजन से परस्पर संबद्ध विभिन्न कथा खडो का संबंध ही 'सन्धि' है। इस प्रकार धनिक और धनञ्जय की दृष्टि से 'संबंध' या 'योग' ही 'सधि' कही जानी चाहिए।

दूसरी ओर 'लोचन' में अभिनव गुप्त पाद ने यह कहा है कि उच्चवर्गीय संतति भावी कर्त्तव्य के निर्वाहार्थ अवश्य व्युत्पाद्य है। व्युत्पत्ति का माध्यम उनकी मृदु प्रकृति के अनुरूप वेद एवं पुराण की अपेक्षा 'काव्य' कहीं अधिक पड़ता है। काव्य या दृश्य-काव्य और भी प्रशस्त तथा सरस काव्य रूप है। इसमें फल के प्रति अनुरूप यत्न करने वाले नायक की सफलता की ओर विरूप प्रयत्न करने वाले प्रतिनायक को असफलता की ओर ले जाया जाता है। इस प्रकार इन विविध चेष्टाओ और घटनाओ द्वारा इन लोगों को व्युत्पन्न किया जाता है। साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि उसी प्रक्रिया से अनायास व्युत्पत्ति का आधान करने वाला प्रीत्यात्मक नाट्य में नायक द्वारा आश्रित 'उपाय' की पाँच अवस्थायें कही गई हैं। कारण-गत या उपाय-गत इन पाँच अवस्थाओं का सम्पादक, जो कर्त्ता या नायक का इतिवृत्त है—वह पञ्चधा विभक्त होना चाहिए और इन्हीं पञ्चधा विभक्त इतिवृत्त खंडों को संधि कहना चाहिये। लोचनकार ने स्पष्ट ही कहा है—

"एवं या एताः कारणस्यावस्थास्तत्सम्पादकं यत्कर्त्तु रितिवृत्त पञ्चधा विभक्तम्—त एव मुखप्रतिमुखगर्भावमर्शनिर्वहणाख्या अन्वर्थनामानः पञ्चसंधय इतिवृत्त खण्डा:, संधीयन्ते इति कृत्वा (लोचन, पृ० ३३८-६)। इन इतिवृत्त खडो का भी अपने-अपने अवान्तर प्रयोजन के निर्वाह मे एक क्रम लक्षित होता है और उस दृष्टि से इनके विभिन्न अवान्तर खंड भी हो जाते हैं—जिन्हें 'संध्यंग' कहते हैं।

इस प्रकार एक आचार्य ने 'संबंध' को और दूसरे ने 'इतिवृत्त खंड' को संधि कहा है। 'सधि'—शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ दो हैं—भावव्युत्पत्ति (संधानं संधिः) द्वारा 'संयोग या सबंध' और कर्म व्युत्पत्ति (संधीयन्ते इति) द्वारा सधीयमान 'इतिवृत्त खंड'। दशरूपक के निर्माता और व्याख्याकार ने पहला अर्थ तथा लोचनकार अभिनव गुप्त ने दूसरा अर्थ स्वीकार किया है। मेरा विचार यह है कि लोचनकार अभिनव गुप्त का ही मत युक्तिसगत है। कारण निम्नलिखित हैं—पहला यह कि स्वयं दशरूपककार ने भी यह माना है कि एक अवस्था और एक अर्थ प्रकृति के योग से एक-एक संधि बनती है अर्थात् प्रत्येक सधि में प्रायः एक 'अर्थ प्रकृति' और एक 'अवस्था' का होना अनिवार्य है—। यह तभी संभव है जबकि इतिबृत्त खड को सधि कहा जाय—अन्यथा केवल 'योग' या 'संबंध' के अन्तर्गत ये चीजें किस प्रकार समाविष्ट हो सकेंगी? दूसरा तर्क यह भी है कि प्रत्येक संधि के जो १२६-१३६ अग कहे गये है—वह 'सबध' मात्र के न होकर 'कथाखंड' के ही संभव हो सकते है। तीसरा तर्क यह है कि 'विंदु' से भी फिर 'सधि' का क्या अन्तर होगा? 'विंदु' भी तो अवान्तर प्रयोजन से संपन्न कथांशों का योजक है? खैर इस विषय में तो यह कहा जा सकता है कि 'संधि' से 'विदु' इसलिए भिन्न है कि 'संधि' तो 'योग' या 'योजित' (कथाखड) है और 'विन्दु' योजक—, पर शेष दो प्रश्नो का समाधान क्या होगा? अतः अपना विचार अभिनव गुप्त के ही पक्ष में है। संधि 'इतिवृत खण्ड' को ही कहना चाहिए।

संधि का स्वरूप स्पष्ट करते हुये यह भी कहा गया है कि उसमें एक-एक 'अवस्था' और एक-एक 'अर्थ प्रकृति' का रहना अनिवार्य है। इसलिये इसी प्रसंग में यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'अवस्था' और 'अर्थप्रकृति' क्या हैं?

अवस्था:—भरतनाट्यशास्त्र में कहा गया है—

संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः करणस्य यः।
तस्यानुपूर्व्या विज्ञेयाः पञ्चावस्थाः प्रयोक्तृभिः (ना०शा०२१।३६)

अर्थात् फल के साथ संबंध-सिद्धि के लिये करण-गत-व्यापार की आने वाली क्रमिक स्थितियों को ही 'अवस्था' कहते हैं।

दशरूपककार का कहना है कि 'फल' की अभिलाषा से प्रारब्ध कार्य या व्यापार की ही (क्रमिक) स्थितियों को पाँच अवस्था के रूप में कहा गया है। अभिनव गुप्त ने भी यही बताया है कि फलाभिलाषी कर्त्ता के द्वारा गृहीत उपाय की ही पाँच अवस्थाएँ होती हैं—आरंभ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति एवं फलागम। अभिनव गुप्त ने इसे समझाते हुये यह बताया है कि उपाय की बीज की भाँति पांच अवस्थाएँ होती हैं--स्वरूप (बीज की अविकृत स्थिति की तरह) (२) स्वरूप की अपेक्षा किञ्चित् उच्छून (जल एवं मृत्तिका के संयोग से कुछ फूले हुये बीज की विवृत दशा) (३) कार्य-सम्पादन योग्यता। (४) विघ्न के आ जाने से उपाय की सिद्धि के प्रति आशंका ग्रस्तता। (५) प्रतिपक्ष के प्रतिनिबृत्त होने से विघ्नाभाववश फलप्राप्ति की सुदृढ़ स्थिति।

'प्रतापरुद्रीय' की व्याख्या में उक्तक्रम से थोड़ा अन्तर लक्षित होता है—उन्होंने कहा है–(१) स्वरूप की अविकृतस्थिति से उच्छूनात्मक विकृतिदशा में आना। (२) कार्यसम्पादन योग्यता। (३) प्रतिबंध के आ जाने से कार्य की शंक्यमानता। (४) प्रतिबंधक के हट जाने से कार्य का निश्चय। (५) विघ्नाभाववश फल की दृढ़ स्थिति।

इस प्रकार 'अवस्था' के स्वरूप के बिषय में यद्यपि एक वर्ग 'कार्य' से और दूसरा 'करण–व्यापार' से संबंध बताता है–पर अर्थतः दोनो का मंतव्य एक ही प्रतीत होता है।

अर्थ प्रकृतिः—अवस्था के अतिरिक्त दूसरा तत्त्व जो संधि के लिये अपेक्षित है–'अर्थ प्रकृति' कहा जाता है। भरत नाट्यशास्त्र में इसकी कोई परिभाषा पस्तुत नहीं की गई है। दश रूपक कार के व्यारव्याकार ने कहा है–'अर्थ प्रकृतयः प्रयोजनसिद्धि हेतवः''–अर्थात् 'अर्थ प्रकृति' में 'अर्थ का अभिप्राय 'प्रयोजन' है और 'प्रकृति' का 'मूलकारण'। प्रयोजन के मूल कारण या साधक तत्त्व को 'अर्थ प्रकृति'–इस प्रकार इन्होने कहा है।

लोचनकार अभिनव गुप्त पाद ने इसकी व्याख्या और भूमिका इस प्रकार प्रस्तुत की है। उन्होंने कहा है कि अर्थ प्रकृतियो का अंतर्भाव इन्हीं में समझना चाहिये। वैसे 'अर्थ प्रकृति' के पाँच भेदों–बीज विंदु, पताका, प्रकरी एवं कार्य–की चर्चा सभी ने की है—पर अभिनव गुप्त ने 'पताका' और 'प्रकरी' के

अनैयत्य को देखकर 'अर्थप्रकृति' के नाम पर पहले मुख्यतः 'बीज, विंदु एवं कार्य' पर ही मुख्यतः विचार किया है।

'अर्थ प्रकृति'—शब्द पर इनके अर्थ और दशरूपककार के अर्थ में अतर दिखाई पड़ता है—जहाँ दशरूपककार ने उसे 'प्रयोजन साधक' कहा है—वहाँ अभिनव गुप्त ने 'अर्थ=प्रयोजन, प्रकृति=कर्ता का स्वभाव, विशेष=प्रयोजन सम्पादनार्थ कर्ता का स्वभाव विशेष—किया है। दशरूपककार ने वाह्य कारणो पर बल दिया है। पर लोचनकार ने कर्ता की मूलहेतुभूत मानस शक्तियों पर जोर दिया है। अभिनवगुप्त का कहना है कि 'बीज' से अभिप्राय कर्त्ता द्वारा समस्त (करिष्यमाण) हेतु—व्यापार का समाकलन या संदर्शन है। 'विंदु, से अभिप्राय है-अवान्तर प्रयोजनो से मुख्य प्रयोजन का संबंध विच्छेद हो जाने पर 'संधान करना,-जोड़ना-इसको उन्होने 'अनुसधान, कहा है। 'कार्य, से मतलब है-विशेष व्यवसाय। नियम भी है कि किसी भी लक्ष्य सिद्धि के प्रति उन्मुख कोई भी कार्यकर्त्ता पहले मन में सबका 'संदर्शन, या समाकलन करता है-तदनन्तर स्पष्टतः उसकी प्रार्थना या वाञ्छा करता है और अन्त में अपेक्षित 'व्यवसाय' सम्पन्न करता है। इस प्रकार बीज, विंदु एवं कार्य—रूप अर्थ प्रकृतियाँ चूँकि संदर्शन, प्रार्थना एव व्यवसाय जैसे कर्ता के स्वभाव विशेष से प्रस्तुत होती हैं—अतः उन्हें लाक्षणिक तौर पर 'प्रकृति' ही कह दिया गया है। अर्थात् हैं—ये मूलतः वाह्य व्यापारों या घटनाओं से ही संबद्ध पर विशेष प्रकार की मानस-वृत्तियो के फलस्वरूप इनका प्राकट्य होता है—अतः मानस-स्थिति से अभिन्न कर दिया गया है। इसीलिए इस रहस्य पर ध्यान न देकर जिन विद्वानो ने अर्थ प्रकृतियों को मानस-स्वभावात्मक मान लिया है—उनकी उक्ति ठीक नहीं है। इस प्रकार धनिक की व्याख्या में और लोचनकार की व्याख्या में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है और होना भी नहीं चाहिए। कारण यह है कि अर्थ प्रकृतियों का विचार 'वस्तु' विश्लेषण के संदर्भ में है—अतः उसी के अंग रूप में इसका विवेचन युक्ति संगत और उपयुक्त होगा।

अभिनव गुप्त ने 'अर्थ प्रकृति' के प्रभेदों में से पहले-पहल बीज, विंदु तथा कार्य-पर ही मुख्यतः विचार प्रस्तुत किया है—तदनंतर पताका एवं प्रकरी के विषय में विवेचनार्थ प्रवृत्त होते हुए यह भूमिका प्रस्तुत की है कि 'नायक' प्रयः तीन प्रकार के होते हैं—स्वायत्त सिद्धि, सचिवायत्त सिद्धि एवं उभयायत्त सिद्धि। यदि 'नायक' अभीष्ट-सीद्धि के प्रति स्वतः समर्थ है—अथवा सिद्धि केवल उसी के आधीन है—तब तो उपर्युक्त तीन ही अर्थ प्रकृतियाँ संभव है,

पर यदि नायक 'सचिवायत्त सिद्धि' है तो सिद्धि के लिए प्रवृत्त सचिव तीन स्थितियों से गुजर सकता है—केवल नायक की सिद्धि के लिए, अपनी सिद्धि के लिए और अपनी भी सिद्धि के लिए। इस स्थिति में फुटकर रूप से अथवा विस्तार से सचिव की भी अपनी प्रासगिक कथा आ सकती है—जो पताका और प्रकरी नाम से व्यपदिष्ट होती है। 'सचिव' शब्द का व्यापक दृष्टि से 'सहायक' अर्थ किया जाना चाहिये। हाँ, इस प्रसंग में इतना और भी ध्यान देने की बात है कि नायक संबंधी फलनिर्वाहान्त चलनेवाली आधिकारिक कथा में पाँचों संधियाँ होनी चाहिए—परन्तु सचिव या सहायक से सबद्ध प्रासगिक कथा में इन पाँचों संधियों का होना न तो आवश्यक है—और न संभव ही।

अर्थ-प्रकृति के प्रसंग में एक भ्रांति और देखने में आती है। वह यह है कि 'कार्य' एवं 'फलागम' में लोग प्रायः अतर नहीं करते—जो अवश्य होना चाहिये। 'कार्य' की गणना 'अर्थ-प्रकृति' के अन्तर्गत है—'प्रयोजन-साधक' के अन्तर्गत है—अतः 'कार्य' पूर्ववर्ती साधनो की अपेक्षा उनका 'साध्य' होने से यदि एक ओर 'कार्य' कहा जाता है तो दूसरी ओर प्रमुख प्रयोजन या समग्र फलसंपत्ति का सम्पादक होने से 'कारण' भी कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ 'रामायण' को ले—यहाँ कार्य है 'रावण-बध' और 'समग्र-फल संपत्ति' है—राज्याभिषेक या रामराज्य। रावण-बध—जैसा 'कार्य' समग्र पूर्ववर्ती साधनो और व्यवसायों का साध्य है—पर दूसरी ओर 'रामराज्य' का कारण भी है। कहा जा सकता है कि 'रामराज्य' जैसा शुद्ध फल राम जैसे नायक का लक्ष्य हो सकता है—क्या? इसके संबंध में काव्य की दृष्टि से विचार किया जाय तो 'रावण-बध' तो 'फलागम' हो नहीं सकता, क्योंकि 'फल' वही होता है—जो नायक द्वारा किया जा सके। 'बध' राम का प्राप्य नहीं है—राम का प्राप्य है—राज्याभिषेक। 'बध' कर्तव्य अवश्य है—पर वह कर्त्तव्य है-वही फल नहीं है। कहा जा सकता है कि रामायण का फल है—"प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना"—पर थोड़ा ध्यान देने से यह बहुत ही स्पष्ट हो जायगा कि यह कवि का प्रतिपाद्य है—नायक का नहीं। पुनः आशंका की जा सकती है कि राम का लक्ष्य है—लोक मंगल—न कि व्यक्तिगत—राज्य-प्राप्ति जैसा—संकीर्ण स्वार्थ। पर यही क्यो मान लिया जाय कि 'रामराज्य' संकीर्ण लक्ष्य है—वह तो लोक मंगल का 'प्रतीक' तक बन चुका है—उसके 'लोक मंगलात्मक' होने में कोई संदेह है? 'रामराज्य' वह 'फल' नहीं है—जिसका 'राम' व्यक्तिगत भोग करते है—यह तो भवभूति के शब्दों में—"स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।

आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति में व्यथा" है। और वे रामराज्य को लोकमंगलात्मक ही समझते हैं। इस पर भी कहा जा सकता है कि यदि लोकमंगल और रामराज्य पर्याय है—तो क्यों न 'लोकमंगल' को ही 'फलागम' कहा जाय। 'रामराज्य' जैसे विवादास्पद शब्द को क्यो चुना जाय? तो इस विषय में मेरा अपना विचार यह है कि 'फलागम' की परिभाषा पर ध्यान देना आवश्यक है। उसे ऐसे शब्दों में कहना चाहिए कि दोनों लक्ष्य सिद्ध हो जायँ। 'लोकमगल' की जगह यदि 'रामराज्य' कहा जाता है—तो एक तरफ वह नायक को प्राप्त होने से 'फल' भी कहा जा सकता है और दूसरी ओर अपनी प्रकृति में सात्त्विक और लोकमंगलात्मक होने से प्रशस्त भी। पर 'रामराज्य' की जगह यदि 'लोकमंगल' शब्द को रखा जाय—तो उसका प्रापक लोक का आराधक राम नहीं--बल्कि 'लोक' हो जायगा। इसलिये इस विवाद से बचने के लिये तथा लक्षण-निर्वाह के लिये रामायण का कार्य 'रावण-बध' तथा फल 'राज्याभिषेक' या 'रामराज्य' (लोकमंगलात्मक) ही मानना सर्वथा संगत है। निष्कर्ष यह कि 'कार्य' एवं 'फलागम' में मूलतः अन्तर मानना चाहिए।

संधियों के संबंध में अन्तिम वक्तव्य यह है कि काव्य-प्रणेता अपने ६४ उपांगों से युक्त पाँच संधियों के निर्वाह को ही अपना लक्ष्य न बनावे। इनकी विचारणा जिस लक्ष्य से की गई है—उस लक्ष्य की सिद्धि के अनुगुण ही इनकी योजना करे। स्वयं भरत ने इन उपांगयुक्त संधि भेदो का प्रयोजन बताते हुए कहा है कि वे कुल ६ हैं—अभीष्ट अर्थ की रचना, वृत्तान्त का सम्यक् निर्वाह, प्रयोग से राजप्राप्ति, अप्रकाश्य का अप्रकाशन, प्रकाश्य का प्रकाशन तथा चमत्कारकारी अभिख्यान। आनंदवर्द्धन ने भी संधियों की उपयोगिता पर विचार करते हुये यह कहा है कि दृश्य काव्य या काव्य का लक्ष्य मूलतः 'रसनिष्पत्ति' है—इसी की दृष्टि से सधि एवं संध्यंग की योजना की जानी चाहिए। यदि 'रसनिष्पत्ति' तथा 'शास्त्रीयस्थिति-निर्वाह'—में विरोध पड़ता हो—तो शास्त्रीय स्थिति के निर्वाह को शिथिल किया जा सकता है।

संधिसंध्यंगघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया॥

संस्कृत-साहित्य में नाटिका*

'कल्पना' के मार्च 'अंक' में 'निर्गुण' जी का एक लेख 'संस्कृत साहित्य में नाटिका' शीर्षक से देखा। वहाँ विचारों में पर्याप्त प्रौढ़ता, निष्कर्षों में समुचित सावधानता तथा उपस्थापनाओं में सुन्दर उपपत्तियों का सम्यक् विनियोग था। खटकने की बात केवल यह थी कि लेखक नाट्याचार्यों द्वारा नाटिका—विशेष कर 'रत्नावली'—पर किये गये विचारों को सामने रखे बिना किसी निष्कर्ष पर पहुँच गया। आवश्यक था कि विद्वान् लेखक उन विचारणाओं को देखता, सोचता गुनता, बाद में तर्क के निकष पर चढ़ाने से वे खरी-खोटी जान पड़तीं, यह एक दूसरी बात होती।

मूल लेखक के सामने 'नाटिका' के सम्बन्ध में जो समस्यायें हैं—वे ये कि जब काव्य का लक्ष्य 'कान्तासम्मितयोपदेशयुजे' है, तब उसकी समझ में नहीं आता कि नाटिका के इन धीर-ललित नायकों से वह क्या उपदेश ले, उन्हें 'रामादिवत्' की कोटि में रखे या रावणादिवत् की? रावणादिवत् नायक क्या उपदेश देगा? और रामादिवत् है तो भी उसके चरित्र से निषेध-मुखेन उपदेश ग्रहण किया जाए अथवा विधिमुखेन? एक परकीय नायिका के पीछे-पीछे घुमनेवाले पात्र से आदर्श के निर्वाह की क्या आशा है? आदि-आदि।

इन उलझनों को ठीक-ठीक सुलझाने के लिए तत्कालीन समाज और काव्य प्रयोजन को हृदयंगम कर लेना चाहिये। जहाँ तक तत्कालीन समाज की बात है, सामंतयुगीन राजे महाराजे अनेक-नायिका हुआ करते थे, और यह सामाजिक दृष्टि से उस काल में अनुचित नहीं माना जाता था। कहा जाता है—'बहुवल्लभा हि राजानःश्रूयन्ते'। नाटकीय पात्र 'शकार' सूचित करता है कि राजाओं का संबंध उसकी नीचकुलोद्भूता बहिन से असामाजिक (विवाह के बिना ही) होता था। भौतिक ऐश्वर्य से भरे हुए प्रासाद के बीच रहने वाला उदयन कम-से-कम इस प्रकार का 'शकार' रखनेवाला नहीं है।

---

* मार्च-अंक में 'संस्कृत-साहित्य में नाटिका' शीर्षक से श्री द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' का एक निबन्ध छपा था, जिसमें लेखक का निष्कर्ष था : ये नाटिकायें संस्कृत-साहित्य में 'कलंकभूत' हैं—आदर्श से रहित, मर्यादाओं से दूर, एक अत्यन्त अस्पृहणीय 'कथावस्तु' को जनता के सम्मुख पेश करनेवाली ये संस्कृत नाटिकायें किसी भी दृष्टि से समादरणीय नहीं हैं। प्रस्तुत निबन्ध श्री 'निर्गुण' के उपर्युक्त निष्कर्ष का खंडन करता है।

दूसरी बात यह है कि काव्य-प्रयोजन के विषय में भी 'लोचन'-कार अभिनवगुप्तपादाचार्य के मान्यतम विचारों को देख लें—इन्होने अपने उपाध्याय (संभवतः प्रतीहारेन्दुराज) के मत का उपस्थापन करते हुए कहा कि उपदेश की दृष्टि से वाङ्मय तीन प्रकार का होता है—(क) प्रभुसम्मित, श्रुति एवं स्मृति जैसा (ख) सुहृत् सम्मित इतिहास पुराण जैसा और (ग) कान्तासम्मित, काव्य जैसा। उपदेश तीनों प्रकार की शब्द-राशि से मिलता है, पर इस उपदेश के भाजन भिन्न-भिन्न स्तर के लोग होते हैं। आचार्य या आचार्य के उपाध्याय काव्योपदेश का भाजन प्राय. ऐसे राज-पुत्र लोगो को मानते हैं, जो नित्य-प्रति सांसारिक ऐश्वर्य की रमणीय गोद में खेलते रहते हैं और लोगो को तो अन्य रास्ते से भी उपदेश दिया जा सकता है, पर इन विलास के पुतलों को ललित-कला के ही माध्यम से व्यवहार की शिक्षा दी जा सकती है। ये लोग राजाज्ञा जैसी श्रुति एवं स्मृति की रूखी शिक्षा की ओर कान ही नहीं देते, न तो सीधे,सादे उपाख्यानों द्वारा सुहृद् की भाँति अच्छे-बुरे फलो की निष्पत्ति दिखाने वाले इतिहास-पुराण से ही व्युत्पन्न किये जा सकते हैं[1], पर इसलिए लाचार होकर उन्हें अशिक्षित भी नहीं रखा जा सकता था, न आजकल के सेठों एवं संपत्तिशालियों के लाड़ले बेटों को रखा जा सकता है। इन रचनाओ की रसमयता इन लोगों को बलात् आकृष्ट कर लेती थी और आकृष्ट ही नहीं, उनके हृदय को इतना वासित कर देती थी कि उसका सार-तत्त्व (उपदेश) उनके जीवन में अनायास उतरने लगता था। सुखद वही होता है जो मनोनुकूल होता है—'मनोऽनुकूलं सुखम्' का उद्घोष है ही। उस ढंग के विनेय-पात्रों का अतःकरण मधुर संस्कारों की राशि है। अतः जहाँ उन्हें अपने मन का आनुकूल्य दिखाई पड़ेगा,

---

१. "इह प्रभुसंमितेभ्यः श्रुतिस्मृतिप्रभृतिभ्यः कर्तव्यमिदमित्याज्ञागात्र-परमार्थेभ्यः शास्त्रेभ्यो ये न व्युत्पन्नाः, न चाप्यस्येदं वृत्तममुष्मात्कर्मण इत्येवं युक्तियुक्तफलसंबंधप्रकटनकारिभ्यो मित्रसंमतेभ्यः इतिहासशास्त्रेभ्यो लब्धव्युत्पत्तयः, अथ चावश्यं व्युत्पाद्याः प्रजार्थसम्पादनयोग्यताक्रान्ता राजपुत्रप्रायाः तेषां हृदयानुप्रवेशमुखेन चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तिराधेया। हृदयानुप्रवेशश्च रसास्वादमय एव। स च रसश्चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तिनान्तरीयकविभावादि संयोगप्रसादोपनत इत्येवं रसोचितविभावाद्युपनिबंधे रसास्वादवैवश्यमेव स्वरसभाविन्यां व्युत्पत्तौ प्रयोजकमिति प्रीतिरेव व्युत्पत्तिप्रयोजिका, प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यम, नाट्यमेव च वेद इत्यस्मदुपाध्यायः।"

वहीं वे रमेंगे। आनुकूल्य वहीं दिखाई पड़ेगा जहाँ वैसी ही मधुर घटनायें भरी पड़ी हों। यही कारण है कि काव्यों का नब्बे प्रतिशत भाग ज्यों-त्यों श्रृंगार की चर्चा से भरा होता है—चाहे लक्ष्य-ग्रंथ उठा लीजिए या लक्षण-ग्रंथ। श्रृंगार ही एक ऐसा रस है, जिसकी मधुरता का आस्वाद चेतनमात्र को होता है। 'लोचनकार' ने कहा है—"**रतौहि समस्त देव-तिर्यङ्-नरादि जातिष्वविच्छिन्नैव वासनाऽऽस्ते, इति न कश्चित्तत्र तादृग्यो न हृदयसंवादमयः, यतेरपि तच्चमत्कारोऽस्त्येव**[1]।" एक दूसरी जगह पर कहा है—"स्त्रीति नामापि मधुरम्।' साराश यह कि काव्य का लक्ष्य 'प्रीति' उत्पन्न कर 'व्युत्पत्ति' पैदा करना होता है और यह व्युत्पत्ति वानप्रस्थ एवं सन्यासियों के लिए नहीं है, श्रृंगारी विनेय के लिए है। इस प्रकार तत्कालीन समाज, उस युग का मधुरतम पर अवश्य व्युत्पाद्य श्रृंगारी-विनेय और तदुपयोगी कृति—इन सबका निश्चय हो जाने पर आगे प्रस्तुत आलोच्य कृति—रत्नावली की विधि-काव्यरूपता पर विचार करना चाहिए।

आलोच्य कृति की विधिरूपता पर विचार करते हुए मूल लेखक को यह निश्चय करने में काफी कठिनाई जान पड़ती है, कि उदयन रामादिवत् हैं या रावणादिवत्। प्रकरण एवं विनेय वर्ग को ध्यान में रखते हुए यह निश्चय जान पड़ता है कि श्रृंगारी विनयो को व्युत्पन्न बनाने के लिए उनके समक्ष श्रृंगारी हो, पर आदर्श नायक को लाया जाना चाहिए। लक्ष्य-लक्षणग्रंथों एवं इतिहास के आधार पर यह सुनिश्चित जान पड़ता है कि उस समय के नायक श्रृंगार की दृष्टि से दो प्रकार के होते थे—एक-नायिक एवं बहुनायिक। प्रथम का उदाहरण राम जैसे लोग और द्वितीय के उदाहरण दुष्यन्त जैसे लोग है। दोनों आदर्श है। अब, यह देखना चाहिए कि उदयन रावणादिवत् है या रामादिवत्। रावणादिवत् तब कहा जाता जब (श्रृंगार की दृष्टि से) रावण की भाँति उसने भी परोढा नायिका का छल-पूर्वक अपहरण किया होता। बात बिलकुल ऐसी नहीं है। हाँ, राम की भाँति 'अनुकूल' एक-नायिक भी उदयन नहीं है। लेकिन 'रामादिवत्' में राम ही नहीं है, 'आदि' भी है। 'आदि' पद से बडे मजे में 'दुष्यन्त' आदि का भी ग्रहण किया जा सकता है। 'नाट्य जैसी पावन एवं सुकुमार कला' के क्षेत्र में विचरने वाले दुष्यन्त की कोटि में पता नहीं क्यो 'निर्गुण' जी उदयन को नहीं बैठाना चाहते? क्या इसने उदयन की भाँति ऋषि कुल में जाकर

१—ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ३३६

किसी ऋषि-कन्या का कौमार्य भङ्ग नहीं किया, इसीलिए, या और कोई बात है ? मैं तो समझता हूँ कि उदयन दुष्यन्त से लाख दर्जे आदर्श है।

सबसे पहली बात जो दुष्यन्त से ऊँचे स्तर पर उदयन को बैठाती है, वह यह है कि उदयन की वृत्ति उपभोग की ओर 'अवसर' पर जाती है। देखिये, 'लोचन' कार का कहना है—"प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतोः इति बीजादेव प्रभृति 'विश्रान्तविग्रहकथः' इति 'राज्य निर्जितशत्रु' इति च वचोभिः 'उपभोगसेवाऽवसरोऽयम्' इति उपक्षेपात् प्रभृति हि निरूपितम्" [लोचन, पृष्ठ ३४०]। अर्थात् स्वामी (उदयन) के कल्याण के बीज का वपन हो चुका है, युद्ध की कथा समाप्त हो गयी है, राज्य के शत्रु विजित हैं और प्रजा सुखी है—तब उसकी दृष्टि उपभोग पर जाती है। इस प्रकार जब चारो ओर योम-क्षेम चल रहा हो, तो राजा महाराजा लोग गृहस्थ-आश्रम में क्या करेंगे ? माला फेरें ? अस्तु। निष्कर्ष यह कि उदयन 'अनवसरे' उपभोग की ओर उन्मुख होते है। दुष्यन्त की भाँति 'अनवसरे' नहीं।

दूसरी बात यह है कि यह उपभोग राज्य-प्राप्ति जैसे महाफल का अङ्ग होने के कारण 'धर्माविरुद्ध' है। 'निर्गुण' जी का तर्क है यह महाफल दोषवारण का एक बहाना है। ठीक है, यह तो बहाना और झूठा है, पर शेष कृत्य को किसने अपनी आँखों देखा था ? कृति के ही साक्ष्य पर जब उदयन का सारा कार्य सत्य है, तब महाफल असत्य क्यो ? कार्य इसी महाफल के अंग-रूप में काम-सेवन का उपदेश अपनी कृति से प्रस्तुत करना चाहता है और आप उसी की जड़ काटना चाहते है। हम तो कहते है कि यह मान लेने से दुष्यन्त भी आदर्श हो जाएगा, जो 'निर्गुण' जी को इष्ट है। क्योंकि ऐसा न मान कर वे नाटक को पावन—कला कह कैसे सकेंगे ? दुष्यन्त भी आदर्श इसलिए कहा जाएगा कि उसकी अन्य विवाहित पत्नियों से पुत्र—प्राप्ति की आशा नहीं है, अतः पुत्र—प्राप्तिरूप फल के अङ्ग रूप में शकुन्तला का उपभोग धर्माविरुद्ध हो जाएगा और धर्माविरुद्ध काम श्लाध्य है। स्वयं भगवान् ने गीता में कहा है—"धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि" इन्हीं सब बातों को ध्यान में रख कर 'लोचन' कार ने कहा है।—"एवं स्थिते रत्नावल्यां धीरललितस्य नायकस्य धर्माविरुद्ध सम्भोग सेवा यामनौचित्याभावात्प्रत्युत 'न निःस्सुखः स्यादिति श्लाध्यत्वात् पृथ्वीराज्यमहा फलानुबन्धिकन्यालाभफलोद्देशेन....[लोचन, पृ० ३३९-३४०] अर्थात् इस स्थिति में 'रत्नावली' के धीरललित नायक उदयन की धर्माविरुद्ध सम्भोग सेवा में कोई अनौचित्य नहीं है बल्कि 'न निःसुखः स्यात्' इस विधि का पालन करने

के कारण श्लाध्य भी हैं। श्लाध्य होने का कारण राज्य-फल प्राप्ति के साधन रूप में रत्नावली की प्राप्ति है।

उदयन के चरित पर दूसरा लांछन यह लगाया गया है कि वह यदि रत्नावली के साथ प्रेम को सामाजिक दृष्टि से अनुचित न मानता, तो लुके-छिपे क्यों प्रेम करता? मैं पूछता हूँ कि अपनी नायिका से भी, जो सामाजिक दृष्टि से उचित है, क्या कोई सबके सामने प्रेम व्यवहार-रति नर्म व्यवहार—करता है? नहीं? क्यों? केवल इसीलिए कि वह मर्यादावादी होता है। यदि उदयन को मर्यादा का ध्यान न होता, प्रजा एवं रानियो का अनुरोध न मानता और वह रत्नावली के प्रेम में रागाँव होता—तो क्या इन सबको फटकार कर वह अपनी पाशविक वृत्ति को तुष्ट न कर लेता? अवश्य करता। पर अवश्य न करके उसने यह आदर्श उपस्थित किया कि कामोपभोग उच्छृंखल हो कर नहीं, मर्यादा एवं अनुरोध में बाँधकर करना चाहिये। तभी तो वह अततः कहता है कि रत्नावली को मै ग्रहण करना चाहता हूँ, पर वासवदत्ता के प्रसाद स्वरूप। 'रत्नावली' की ग्राह्यता राजकुल में आश्रय पाने से और विदूषक आदि के निवेदन से बिलकुल स्पष्ट है। क्या मुद्रिका-प्राप्ति के पश्चात् दुष्यन्त शकुन्तला की याद में अपनी रानियो से छिप कर उपवन में चित्र बनाता नहीं घूम रहा है? अवश्य घूम रहा है। फिर उदयन ही ने क्या पाप कर दिया कि 'निगुण' जी उस पर इतना क्रुद्ध हो गये हैं? असल में यह उनका दोष नहीं है, दोष दृष्टि के उदग्र हो जाने का परिणाम है।

एक और पक्ष है, और वह यह कि उदयन के चरित में छिप कर प्रेम की प्रवृत्ति एक कालिमा है। ठीक है, मनुष्य के चरित में कालिमा और दोष न हो तो ग्राहक को यह विश्वास कैसे होगा कि यह मनुष्य है? दूध का धोया हुआ तो कोई अतिमानव हो सकता है, जो एक आश्चर्यकर एवं अविश्वसनीय चरित दिखा कर मंच से हट जायेगा। हम या ग्राहक या विनेय समझेंगे कि यह हम लोगो की अनुकरण-सीमा से बाहर है। वह हमारे बीच का न हो कर हमें प्रभावित न कर सकेगा।

यदि अनेक पत्नियो के साथ छल-कपट रखने पर भी आद्योपान्त दुष्यन्त 'दक्षिण' नायक बना हुआ है तो 'उदयन' का भी 'दाक्षिण्य' कोई हटा नहीं सकता दक्षिण नायक ज्येष्ठ नायक है भरत ने ऐसे ही ज्येष्ठ नायकों के लिए कहा है—

मधुरस्त्यागी रागं न याति मदनस्य नापि वशमेति।
अवमानितश्च नार्या विरज्यते स तु भवेज्ज्येष्ठः॥

दक्षिण नायक को मधुर, त्यागी, निरभिनिवेशी एवं वशी तो होना ही चाहिये और यह भी होना चाहिये कि यदि किसी नायिका से वह बार-बार फटकारा जाय, तो भी हिरका ही न रहे। उदयन ऐसा ही है। यदि वह वशी न होता, तो जैसा कि दक्षिण नायक को चाहिए, वह वासवदत्ता का अनुरोध न मानता और रागाँव हो कर रत्नावली को अंकशयिनी बना ही लेता। पर नहीं, इस त्वरा और अधीरता को लात मार कर वह वासवदत्ता के प्रसाद की प्रतीक्षा करता है। जरा सहानुभूति के साथ देखा जाय तो अनेक–नायिक की दाक्षिण्य रक्षा कृपाण–धारा है। 'अनुकूल' को इस धार पर नहीं चलना पड़ता। मेरा मतलब यह नहीं कि 'अनुकूल' भी इस बला को मोल ले। हाँ, इतना अवश्य है कि दाक्षिण्य का निर्वाह आदर्श है। दशरूपक के वृत्तिकार धनिक का मत भी इस विषय में देखे—"किमवस्थः पुनरेषां वत्सराजादि—नाटिकानायकः स्यात् इ युच्यते। पूर्वमनुपजात–नायिकान्तरानुरागोऽनुकूलः। परतस्तु दक्षिणः। ननु गूढ़ विप्रियकारित्वाद्व्यक्ततरविप्रियत्वाच्च शाठ्यधाष्टर्येऽपि कस्मान्न भवतः"? न, तथाविधविप्रियत्वेऽपि वत्सराजादेराप्रबधसमाप्तेः ज्येष्ठा नायिकां प्रति सहृदयत्वाद्दक्षिणत्वम् न चोभयोर्ज्येष्ठाकनिष्ठयोर्नायकस्य स्नेहेन न भवितव्यम्-इतिवाच्यमविरोधात्। महाकविप्रबंधेषु च—

"स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसुर्द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया देवीप्रसाद्याद्य च।

इत्यन्तःपुरसुंदरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राःस्थितं नाडिका. ॥

इत्यादावपक्षपातेन सर्वनायिकासु प्रतिपत्त्युपनिबंधात् ।... × × अतो वत्सराजादेराप्रबंधसमाप्ति स्थितं दाक्षिण्यम्। [दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, पृष्ठ ४०]

अर्थात् नायिकाओं में वत्सराज उदयन जैसे नायको को देखकर आचार्यो के मन में यह संदेह हो गया था कि आखिर इन नाटिका-नायकों को क्या कहा जाय? सबसे पहले तो किसी भी अन्य नायिका में अनुराग न होने के कारण वे 'अनुकूल' जान पड़ते हैं बाद में नायिकांतर की ओर आकृष्ट होते हुए भी ज्येष्ठा के प्रति सहृदयतापूर्ण व्यवहार करते हुए 'दक्षिण'। बीच-बीच में कभी-कभी लुक-छिप कर और कभी-कभी स्पष्ट 'अपराध' करने के कारण शठ एवं धृष्ट भी जान पड़ते है।" पर अंततः इन आचार्यों का मत है कि ये नायक दक्षिण ही है। मन में राग का आ जाना दोष नहीं है, वह तो मनुष्य का अनिवार्य लक्षण है; हाँ दोष है; उसके पीछे अन्धा हो

जाना। बीच-बीच में अपराध, स्खलन भी यदि अंततः सुधर जायें, तो वे भी इसलिए बुरे नहीं है कि उनसे अचेतन मन की सफाई होती है। हाँ, सफाई न हो, तब अवश्य बुरे हैं। 'दाक्षिण्य' के रास्ते में ये रोड़े है—इन्हें निकाल कर फेंक ही देना चाहिये। अच्छा, दूसरे यह भी कि जिस प्रकार 'दाक्षिण्य' के उदय के लिए यह आवश्यक है कि नायक परकीय नायिका या कनिष्ठा नायिका की ओर उन्मुख हों, उसी प्रकार उसके उत्कर्ष के लिए यह आवश्यक है कि उसके विरोधियों को सामने ला-ला कर पटका जाय। अतः इस उत्कर्ष उपयोगी शाठ्य-धाष्टर्यव्यंजक अपराधों का ग्रहण ठीक ही है।

इस विचार के फलस्वरूप मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि उदयन ऐसा आदर्श नायक है, जो अवसर पर प्रजा एवं पत्नियो का अनुरोध मानता हुआ दाक्षिण्य पूर्वक धर्माविरुद्ध काम—सेवन करता है, जो एक गृहस्थ और ऐश्वर्य की गोद में बैठे हुए राजपुत्र प्रायः लोगो का आदर्श है।"

इस प्रकार क्या विनेय-विशेष को ध्यान में रख कर यह काव्य विधि-काव्य नहीं हो सकता? हाँ मनुष्य को मनुष्य नहीं पर आदर्श का पुतला बना कर देखना हो, दूसरी बात है। यदि वह परिस्थितियों की लपेट में गिर कर उठ कर बढ़ता दिखाई पड़ता है, तो वह अपने बीच का मालूम होता है और सदा भूमि की सतह से उडा-उड़ा ही रहे, तो वह लोकोत्तर अवश्य होगा, उसकी ओर आश्चर्य से आँखें अवश्य उठेंगी, पर अनुकरण की दृष्टि से प्रोत्साहन थोड़ा कम मिलेगा। संभव है हम ग्राहक उसके अनुकरण में हताश हो जायें।

भारतीय काव्यात्मवाद की भूमिका

स्वभावतः आध्यात्मिक-संस्कृति के उपासक भारतीय-चिंतक काव्य-चिंतन के क्षेत्र में भी आत्मा और अनात्मा के रूपक से सारवान् और असारवान् का विवेक प्रस्तुत करते है। नाट्यशास्त्रकार जब 'इतिवृत्त' को 'नाट्य' का शरीर कहते हैं—तो निश्चय ही वे आत्मा और अनात्मा के रूपक से ही विचार करते हैं। अलंकारवादियो की मान्यता को प्रस्तुत करते हुए जब रुय्यक यह कहते हैं कि 'अलंकार ही काव्य में प्रधान' है—तो वे भी उनकी 'ससार' और 'असार' की अंतर्दृष्टि को इंगित करते हैं। रीतिवादी वामन तो

स्पष्ट ही 'रीति' के लिए 'काव्य की आत्मा' शब्द का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार 'ध्वनिवादी' और 'वक्रोक्तिवादी' भी आत्मदृष्टि से ही 'ध्वनि' और 'वक्रोक्ति' को क्रमशः, सारवान् वस्तु घोषित करते हैं। काव्य में 'आत्मा' का अर्थ लाक्षणिक रूप में काव्य-गत महत्त्वपूर्ण तत्त्व ही है। इस प्रकार प्रत्येक भारतीय-आलकारिक आचार्य, चाहे वह निर्माण पक्ष से देखता हो, या ग्रहण पक्ष से—काव्य की सारवान् वस्तु क्या है—इसी पर अपनी दृष्टि केंद्रित करता है— वह यह खोजता है कि काव्य में वह कौन-सा तत्त्व है—जिसके कारण कोई भी उक्ति काव्यात्मक परिणति प्राप्त करती है? वह जानना चाहता है कि काव्यात्मक शब्दार्थ में अकाव्यात्मक शब्दार्थ से जो वैशिष्ट्य है—उसका स्रोत क्या है? आत्मा और अनात्मा के रूपक से विचार करने वाले आलंकारिको की विभिन्न धारणाओं का विश्लेषण करते हुए रुय्यक के टीकाकार समुद्रबंध ने यही कहा ही है कि प्राक्तन आलंकारिकों की विवेचनाओं पर ध्यान देने से यह स्पष्ट होता है कि उन लोगो ने काव्यात्मक शब्दार्थ-साहित्य का वैशिष्ट्य तीन दृष्टियो से निरूपित किया है—धर्म, व्यापार एवं व्यग्य के द्वारा। श्रव्य-काव्य की दृष्टि से मुख्यतः विचार करनेवाले जरत्तम आलकारिकों ने शब्दार्थ—धर्म (स्वरूपगत एवं संघटनागत) ही के रूप में 'अलंकार' और 'गुण' को माना था और यदि अलंकारवादियो में 'अलकारात्मक' शब्दार्थ धर्म को काव्यात्मक शब्दार्थगत वैशिष्ट्य का स्रोत माना, तो रीतिवादियो ने 'गुणात्मक' शब्दार्थ (सघटना) धर्म को। ऐतिहासिक क्रम से इनके बाद आने वाले ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि शब्दार्थ काव्य का शरीर है तो शरीराश्रित स्थूल धर्मों को काव्य का आत्मस्थानीय तत्त्व नही मान सकते। यदि आत्मा के रूपक से सारतत्त्व को ढूढ़ना है—तो शरीर के आवरण में लिपटे हुए किसी सूक्ष्म-अर्थ की ओर बढ़ना होगा—और इस प्रकार स्थूल शब्दार्थ के सहारे अभिव्यक्त होनेवाले 'प्रतीयमान' या 'व्यंग्य' अर्थ को काव्य का आत्म-स्थानीय मानना होगा। इस तात्त्विक मत के अनुसार 'प्रतीयमान' या 'व्यंग्य' अर्थ के द्वारा काव्यात्मक' शब्दार्थ का वैशिष्ट्य निरूपित किया गया। परन्तु तत्त्वज्ञों के प्रतिस्पर्द्धियों से संसार शून्य नहीं है—लोगों ने इस रास्ता के खिलाफ अन्य माध्यमों से वैशिष्ट्य' का स्रोत खोजना चाहा। समुद्रबंध ने इस दिशा में प्रयास करने वाले दो वर्गों या व्यक्तियों का मत प्रस्तुत किया है। इन लोगों के संबंध में उसने बताया है कि इन लोगों ने उस मूल 'व्यापार' पर अपनी दृष्टि केंद्रित की—जिसके कारण काव्यात्मक शब्दार्थ का अकाव्यात्मक शब्दार्थ से

वैशिष्ट्य समझा जाता है। दो वर्गों या व्यक्तियो में पहला (भट्टनायक) 'आवृत' अर्थ (रस) को ग्रहण करने वाले 'व्यापार' (रसिक-व्यापार) को काव्य का वैशिष्ट्य निरूपक व्यापार मानता था जब कि दूसरा 'आवरक' (शब्दार्थ शरीर) का नियोजन करनेवाले 'व्यापार' (कवि-व्यापार) को काव्य-व्यवहार का मूल आधार मानता था—पहला 'रसवादी' या दूसरा 'वक्रोक्तिवादी'। समुद्रबंध का विचार-चित्र यों है—
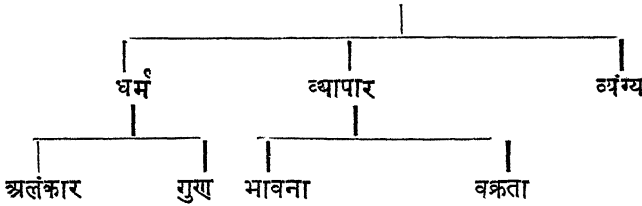
परवर्ती विश्लेषण का निष्कर्ष—
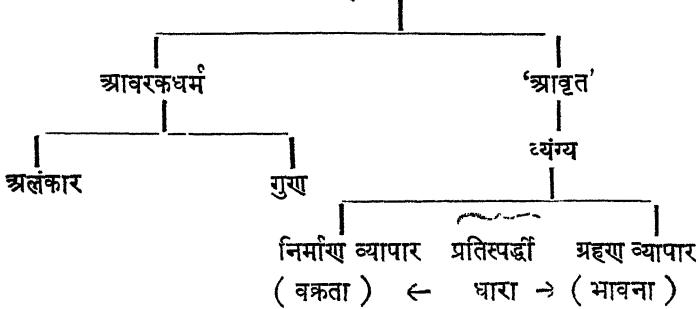
दूसरे चित्र में प्रतिस्पर्द्धी-धारा में एक रुख निर्माणपक्ष से विचार करने वालों की ओर है और दूसरे के ग्रहण पक्ष से विचार करनेवालों की ओर। इस प्रकार कुल पाँच काव्यात्मवाद दिखाई पड़ते हैं—

१—अलंकारवाद।

२—गुणवाद या रीतिवाद।

३—ध्वनिवाद।

४—रसवाद।

५—वक्रोक्तिवाद।

समुद्रबंध ने काव्यात्मवाद संबंधी प्राचीन भारतीय आलंकारिकों की

धारणा को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। मैं जब इस पर विचार करता हूँ तो लगता है कि काव्यीय 'सौंदर्य' को सभी काव्यात्मवादी सारतत्त्व मानते हैं— व्यापक अर्थ में अलकारवादियो का प्रतिनिधित्व करनेवाले वामन यदि एक ओर स्पष्ट कहते हैं कि काव्य की ग्राह्यता 'अलंकार' के आधीन है और अलंकार 'सौदर्य' ही है तो दूसरी ओर तत्त्वतः रसवादी आनंदवर्द्धन काव्य के आत्म स्थानीय 'प्रतीयमान' को 'लावण्य' के दृष्टान्त से काव्य का सर्वस्व बताते हैं। अभिनव गुप्त तो स्पष्ट ही कहते हैं—'चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्यात्या स्यात्—इति, तदगीकुर्म एवं' पर इन दोनो धाराओं के आचार्यों में इतना अन्तर अवश्य है कि जहाँ पहला वर्ग 'सौदर्य' का आधार और स्रोत शरीर तथा शरीराश्रित धर्मों (अलंकार एवं गुण) को मानता है तो दूसरा आत्मा को। पहला सौंदर्य का आधार काव्य के शरीर शब्द एवं अर्थ को मानता है और उसका स्रोत गुण तथा अलकार को जब कि दूसरा सौदर्य का मूलाधार आत्मभूत 'प्रतीयमान' या रस को मानता है। अभिनव गुप्त ने भी 'लोचन' में अलंकार और रीतिवादियों का काव्य संबंधी मत स्पष्ट करते हुए कहा है कि काव्य सबंधी चारुता दो प्रकार की है—स्वरूपनिष्ठ एवं संघटनानिष्ठ। स्वरूपनिष्ठ 'चारुता' का स्रोत शब्दार्थालंकार एवं संघटना-निष्ठ 'चारुता' का स्रोत 'गुण' है। इस प्रकार अलंकारवादी और रीतिवादी आचार्यों की मान्यता है कि सौदर्य का संबंध शरीर (शब्दार्थ) और शरीराश्रित धर्मों से है—पर आनंदवर्द्धन और उनके अनुयायी इसका खण्डन करते है। वे मानते हैं कि सौदर्य का संबंध आत्मा से है। उन्होंने कहा है कि यदि चेतनात्मा के सपर्क से शून्य शव हो तो लाख अलंकार और गुण अपने संसर्ग से निश्चेतन शरीर में सौदर्य पैदा कर सकता है? कभी नहीं। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि सौंदर्य का सबंध मूलतः आत्मा से है—आंतरिक अर्थ से है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर पंडितराज जगन्नाथ ने कहा है कि 'प्रतीयमान' अर्थ से असंस्पृष्ट रहकर कोई भी अर्थ चमत्कार या रमणीयता उत्पन्न नहीं कर सकता। इस प्रकार अलकारवाद एवं रीतिवाद के विरुद्ध 'ध्वनिवाद' जैसा तात्त्विक मत प्रतिष्ठित हुआ।

'ध्वनिकार' की यशोदुंदुभि कुछ लोगों को अच्छी नहीं लगी—अतः उनकी 'व्यंजना' के विरोध में 'व्यापार' की दृष्टि से पुनः काव्यात्मक शब्दार्थ के वैशिष्ट्य पर विचार आरम्भ हुआ। ग्राहक पक्ष से काव्यात्मक शब्दार्थ का असाधारण व्यापार 'भावना' (और भोग) की कल्पना यदि एक ओर भट्ट नायक ने की, तो 'निर्माता' पक्ष से विचार करते हुये कुन्तक ने दूसरी

ओर 'वक्रता' या 'विशिष्ट अभिधा'—की कल्पना की, तीसरी ओर उसी व्यंजना के विरोध में ग्राहक पक्ष से पुनः शब्द व्यापार की चर्चा ही समाप्त करते हुए महिम भट्ट ने 'अनुमान प्रमाण'—काव्यानुमान प्रमाण—की स्थापना दी। इस प्रकार 'भावनावाद' या 'रसवाद' 'वक्रोक्तिवाद' एवं 'अनुमितिवाद का आगमन हुआ। 'व्यंजना' के ही विरोध में दशरूपककार ने 'तात्पर्यवाद' को भी जन्म दिया। इस प्रकार 'ध्वनिवाद' के अनेक विरोधियों का उद्भव दिखाई पड़ता है। जयरथ ने ध्वनि के बारह विरोधियो का उल्लेख किया है—जिनमें से केवल कुछ का ऊपर निर्देश किया गया है। इन सभी विरोधियों में काव्य की आत्मा पर नया अभिमत प्रदान करने वालों में समुद्रबंध ने दो ही को गिना—वक्रोक्तिवाद एवं भावनावाद।

इस प्रकार कुल मूलतः पाँच ही काव्यात्मवाद संबंधी विचार जान पड़ते है—(१) अलंकार (२) रीति (३) ध्वनि (४) रस एवं (५) वक्रोक्ति। डा० डे एवं म० म० काणे ने भी यही स्वीकार किया है।

इस स्थापना के विरोध में और भी अनेक बाते कही जा सकती है—एक तो यह कि इन पाँच के अतिरिक्त भी कई वादों का अस्तित्व उल्लिखित हुआ है दूसरे यह कि इन पाँचो में से कुछ एक क्या परस्पर भिन्नवाद है? तीसरे यह कि 'वाद' संबंधी विचार ही ठीक नहीं है—यह तो पश्चिमी बिचार की प्रतिध्वनि है—उन लोगो ने Schools निरूपित किये—उसकी प्रतिध्वनि ही विभिन्न वादों की चर्चा में दिखाई पड़ती है—वस्तुतः समस्त काव्यचितक एकमत से 'रस' को ही काव्य को केंद्रीय तत्त्व मानते रहे। इन सब प्रतिपक्षों का जब तक समुचित उत्तर नहीं दिया जायगा—तब तक यह स्वीकार करना कि पाँच ही वाद है—ठीक न होगा।

सबसे पहले, पहले मत को लें—पं० बलदेव उपाध्याय प्रभृति अनेक—मनीषियों ने 'औचित्य' को भी एक पृथक् प्रस्थान माना है। डा० राघवन् ने भी इसी प्रकार एक 'चमत्कारवाद' का उल्लेख किया है। उन्होंने 'चमत्कार' को ऐतिहासिक क्रम से प्रस्तुत करते हुए १८वीं सदी के काव्य-लोक प्रणेता हरिप्रसाद की एक कारिका प्रस्तुत की है—जिसमें यह स्पष्ट कहा गया है—

"बिशिष्ट शब्दरूपय काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः"

इस प्रकार स्पष्टतः काव्य की आत्मा पर विचार करनेवाले मत कुल सात हुये—

(१) अलंकार एवं काव्ये प्रधानमिति प्राचां मतम्। —अलंकार सर्वस्व

(२) रीतिरात्मा काव्यस्य। —वामन

(३) काव्यस्यात्मा ध्वनिः [काव्यस्यात्मा स एवार्थः] —ध्वन्यालोक

(४) वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्। —वक्रोक्तिजीवित

(५) it appears from the Lochan that Nayak accepted that—History of Sanskrit Poeties. Rasa uses the soul of poetry.

(६) औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् —औ० वि० स८

(७) काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः। —काव्यालोक

इन सात वादों में से जहाँ तक छठें वाद का संबंध है—'औचित्य-विमर्श' नामक लेख में मैंने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'औचित्य' एक सापेक्ष वस्तु है—जो लोक की बदलती हुई सामाजिक दृष्टि पर निर्भर है या क्षेमेंद्र की दृष्टि में 'सदृशसंविधान' है—दोनों ही दृष्टि से 'औचित्य' का विचार किसी अन्य प्रमुखतत्त्व की दृष्टि से ही किया जा सकता है—फिर कौन सा ऐसा विचारक होगा—जो प्रमुख को छोड़कर अप्रमुख को आत्मस्थानीय मानेगा? फिर भी क्षेमेंद्र यदि अपने शब्दों में उसे 'काव्यजीवित' कहते हैं—तो उसे डा० राघवन् की दृष्टि से देखने पर ठीक ही लगता है कि वे भी 'आत्मा' रस को और 'जीवित' औचित्य को मानते है—रस यदि Soul है तो औचित्य Life। इस प्रकार यह एक काव्य का आत्म-संबंधी स्वतंत्रवाद नहीं हो सकता। रहा सातवाँ 'चमत्कारवाद'—इसके पक्ष एवं विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है—'चमत्कार' तो एक ऐसा तथ्य है—जिसके विपक्ष में न अलंकारवादी हो सकता है और न रसवादी। अतः 'औचित्य' की भाँति यह भी एक सर्व-सम्मत तथ्य है—यह विपक्षी सिद्धांत नहीं है। काव्यमात्र के लिए 'चमत्कार' एक आवश्यक और अनिवार्य तत्त्व है। जिस प्रकार 'औचित्य' का किसी 'वाद' से विरोध नहीं है—बल्कि वह सबके अनुरूप और सहायक या उपकारक है उसी प्रकार 'चमत्कार' भी सबका उपकार्य एवं साध्य है। अतः 'औचित्य' की भाँति 'चमत्कार' भी सर्व-सामान्य स्वीकृत तथ्य है—उसे सबकी तुलना में एकांगी और विपक्षी तत्त्व नहीं माना जा सकता।

उपर्युक्त पाँच वादों के सम्बंध में दूसरी आपत्ति यह है कि क्या इनकी संख्या पाँच माननी चाहिये—क्या इनमें से कोई किसी में गतार्थ नहीं हो सकता? उदाहरणार्थ, क्या रसवाद, ध्वनिवाद में अंतर्भुक्त नहीं है? यह माना हुआ तथ्य है कि ध्वनिवादी मुख्यतः रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते हैं—वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि तो अंततः रस-पर्यवसायी होने

के कारण लाक्षणिक रूप से ही काव्य की आत्मा कहे गये हैं। अतः रसवाद को ध्वनिवाद से पृथक् क्यों माना जाय? ध्वनिवादी आनंदवर्द्धन श्रव्य एवं दृश्य-काव्य सामान्य का सर्वस्व 'रस' ही को मुख्यतः मानते हैं—हाँ, इतना अवश्य है कि वे 'ध्वनित रस' या 'रस ध्वनि' को ही काव्य की आत्मा मानते हैं—अन्य प्रकार के (गुणीभूत या अव्यक्त) 'रस' को नहीं। निष्कर्ष यह कि कहने को कहा जा सकता है कि ध्वनिवाद भी अंततः 'रसवाद' ही है या 'रसवाद' ध्वनिवाद से अपृथक् है। इसी प्रकार यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय–तो 'अलंकारवाद'–तो'अलंकार' है ही–'अलंकार' को काव्य-सर्वस्व मानने के कारण रीतिवाद भी 'अलंकार वाद' है ही, रीतिवादी वामन भी जब 'काव्यं ग्राह्य मलं कारात्'—कहते हैं—तो वे भी 'अलंकार' को महत्त्व देते हुए व्यापक अर्थ में 'अलंकार वादी' ही है। इसी प्रकार वक्रोक्तिवादी कुन्तक भी जब 'वक्रोक्तिरलंकृतिः' कहते है–तो क्या वे अलंकारवादी नहीं है? निष्कर्ष यह कि व्यापक दृष्टि से देखने पर दो ही 'वाद' दिखाई पड़ते हैं—निर्माण की दृष्टि से–अलंकारवाद और ग्रहण की दृष्टि से 'रसवाद'। आचार्य नंददुलारे बाजपेयी प्रभृति ने भी ऐसा ही विचार किया है। डा० नगेंद्र तो और आगे बढ़ते हैं और बढ़कर यह कहते है कि अन्ततः अलकार भी रस का विरोधी नहीं, बल्कि अनुरोधी ही है—अतः बाद या सिद्धात तो एक ही है–और वह है–रसवाद। फिर परम्परागत विवेचन के इस आलोक में यह कैसे माना जाय कि काव्यात्म संबन्धी वाद पाँच है?

जहाँ तक डा० नगेंद्र का वक्तव्य है कि अंततः अलंकार भी रस के अंग ही हैं–अतः एक ही सिद्धांत है–तत्त्वतः इसमें विवाद नहीं है–पर व्यवहारतः विवादास्पद है। सचमुच जो अपने को अलंकारवादी कहते हैं–वे अन्य अलंकार की भाँति 'रस' को भी एक अलंकार मानते हैं–अतः तत्त्विक विचार का निष्कर्ष चाहे जो भी निकाला जाय–पर अलंकारवादियों की मान्यता को ध्यान में रखकर यह कहना कठिन है कि अलंकारवादी आचार्य अपने को 'रसवाद' का अग मानते है—वे तो अपने को सर्वथा पृथक् ही रखते है। शरीर एवं शरीराश्रित धर्मों को काव्योचित सौंदर्य का सर्वस्व मानने वाले अलंकारवादी भला 'आत्मा' को रस जैसे काव्योचित सौदर्य का मूल माननेवाले ध्वनिवादी या रसवादी से अपने को अभिन्न कैसे मान सकता है? वैसे तो अलंकारवादियों में वक्रोक्तिवादी कुन्तक और रसवादी या ध्वनिवादियो में अभिनवगुप्त तत्वतः यह स्वीकार करते ही है कि न तो निर्माण की दृष्टि से कवि काव्यीय तत्वों को पृथक्-पृथक् नियोजित करता है और न ग्रहण करने

वाला पृथक्-पृथक् ग्रहण करता है—अर्थात् काव्य का निर्माण एवं ग्रहण अखंड एवं अपृथक् व्यापार है— अतः पृथक् रूप से अवयव एवं अवयवी का विचार ही तात्त्विक भूमिका पर असगत है—पर समझने-समझाने के लिए विभाग की कल्पना कर ली जाती है और पृथक्-पृथक् उन्हें समझाया जाता है—अत; व्यवहारिक दृष्टि की बात जहाँ तक है—भेद-बुद्धि को स्वीकार करना ही पड़ता है। फलतः अलकारवादियो की मान्यता को देखते हुए यह स्वीकार करना ही पडता है कि अलकारवाद एवं रसवाद पृथक्-पृथक् वाद है ।

ग० त्र्यं० देश पांडे ने दूसरी भूमिका पर यह विचार प्रस्तुत किया है कि भारतीय आलंकारिकों का चिंतन Schools में विभक्त नहीं किया जा सकता। उन्होंने विभिन्न तर्कों एवं प्रमाणो के आधार पर यह स्थापना की है कि नाट्यशास्त्र कार ने तो 'रस' को केंद्रीय एव सर्वस्वतत्त्व माना ही है—परवर्ती श्रव्य-काव्य की दृष्टि से मुख्यतः विचार करने वाले भामह आदि आलंकारिको ने भी 'रस' को ही केन्द्रीय और काव्य-सर्वस्व मानकर अपने पक्ष प्रस्तुत किये है। उत्तरोत्तर वे लोग भी 'रस' के उपयोगी उपकरण पर ही सूक्ष्म-सूक्ष्मतर ढंग से सोचते गये है। भामह की 'वक्रोक्ति' रसानुगामी ही है। आगे के लोगों ने इसी 'वक्रोक्ति' का मूल 'समाधि गुण' एवं 'सादृश्य-मूल लक्षणा' या 'लक्षणा बताया है। आनदवर्द्धन तक 'रस' विवेचन संबंधी बढ़ते प्रयास का क्रम है—रसवद् अलंकार—कातिगुण-रस। निष्कर्ष यह कि सारा प्रयास आदि से अंत तक रसानुगामी या रस को ही केंद्र मानकर बढ़ा हुआ है—अतः इन चितनाओ को खंडात्मक और विरोधी विचारधारा के रूप में नहीं देखना चाहिये। यहाँ केवल एक ही सिद्धांत है और वह है—रस सिद्धांत। इस प्रकार इस दृष्टि से विभिन्न वादो की बात गलत है।

देश पांडे जी की इस स्थापना को तथा और आलंकारिकों के अन्य वक्तव्यों को जब मैं ध्यापूर्वक देखता हूँ तो पाता हूँ कि सभी प्राक्तन आलंकारिक 'रस' को ही केंद्रीय तत्त्व नहीं मानते। 'अलंकार का अन्तदर्शन' शीर्षक लेख में यह कहा गया है कि भामह की 'वक्रोक्ति' रसानुगामी नहीं, काव्योचित सौंदर्यानुगामी है। सौदर्य 'रसानुगामी' भी हो सकता है—शुद्ध 'चमत्कार' पर्यवसायी भी हो सकता है—रसात्मक अनुभूति में लीन करने वाला भी हो सकता है और काव्योचित बौद्धिक चमत्कार पर्यवसायी भी हो सकता है। इतना तो देशपांडे जी भी मानते हैं कि अलंकारवादी

अलंकार को सौंदर्य एवं सौंदर्यकर धर्म के रूप में मानते हैं—सवाल केवल इतना ही और है कि वह 'सौंदर्य' केवल आनंदात्मक या रसात्मक अनुभूति में लीन करने तक ही अपने को सीमित रखता है या रस निरपेक्ष वाच्य पर्यवसायी (आलंकारिक) चमत्कार तक भी अपने को व्याप्त करता है? 'रस' को भी एक अलंकार माननेवाले ये आलंकारिक या अलंकारवादी निश्चय ही 'वक्रता' को केवल 'रसानुगामी' मानते नहीं दिखाई पड़ते। रीतिवादी वामन को लीजिए—दीप्तरसमय कांतिगुण से समन्वित गौड़ीया रीति को अतत्त्वभूत रीति माननेवाला यह आलंकारिक यदि 'रस' को काव्यसर्वस्व मानता है—तो उसमें वदतोव्याघात है। यद्यपि 'दशरूप' को वे काव्यशिरोमणि मानते हैं—पर वह भी इसलिए नहीं कि उसमें रसात्मकता है, वरन् इसलिए कि उसमें चित्रपटवत् सभी काव्यरूपो का मिश्रण है। कुंतक का सवाल ही नहीं है—वे तो 'वक्रोक्ति' को अलंकृति और 'शब्दार्थ' को अलंकार्य मानते है। निस्संदेह कुंतक ने रस को महत्त्व प्रदान किया है—पर काव्य की परिधि रस को नहीं—उससे कहीं व्यापक चमत्कार (वक्रतामूलक) को माना है। ध्वनिवादी 'रस' को निस्सदेह काव्य का सर्वस्व मानते हैं—परन्तु 'ध्वनित रस' या 'रस-ध्वनि' को ही,—किसी भी स्थिति में प्रतीत होने वाले (अप्रधान एवं अव्यक्त) रस—को नहीं। पर ध्वनिवाद के विपरीत भट्टनायक एवं महिमभट्ट आदि कतिपय आलंकारिक ऐसे हैं कि वे 'रस' को ही काव्य की आत्मा मानते हैं—चाहे वह जिस स्थिति में हो। भट्टनायक हर काव्य में चाहे वहाँ कवि-प्रतिभा का संरम्भ किसी भी विशेष पक्ष पर हो—रसमयता ही देखते है और उसी के कारण उसे काव्य समझते हैं। महिमभट्ट मानते हैं कि यदि 'रस' की स्थिति कहीं है—तो निस्संदेह वह चमत्कार-प्राण होने से उदग्र और उद्ग्रीव है—फिर वह गुणीभूत और अव्यक्त हो ही नहीं सकती—इस प्रकार रसवादी अपने को ध्वनिवाद से पृथक् कर लेते है—भट्टनायक और महिम ध्वनिवादी की भाँति 'रस' को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी एक तो उसकी प्रतीति का माध्यम (भावना, अनुमानप्रमाण) भिन्न मानते हैं और दूसरे हर स्थिति में उसी को महत्त्व देते हैं। ध्वनिवादी ऐसे अधे नहीं हैं। वे यह अवश्य मानते हैं कि 'रस' ही ग्रहण एवं निर्माण की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है—पर सर्वत्र काव्य में कवि-प्रतिभा का संरम्भ वहीं होता है—ऐसा नहीं। उनका यह मान्य सिद्धांत है कि ग्राहक को यह ध्यानपूर्वक देखना चाहिए कि काव्य में कवि की प्रतिभा का संरम्भ कहाँ है—रस पर या अन्य पर? जहाँ तारतमिक दृष्टि से जान पड़े वहाँ उसी के कारण काव्य का व्यवहार करना उचित है।

यह ठीक है कि जहाँ 'रस' पर कवि की प्रतिभा का समग्र संरम्भ हो—उसे उत्तम कहना चाहिए—जहाँ व्यक्त तथा अप्रधान हो वहाँ 'मध्यम' और जहाँ अव्यक्त हो—वहाँ 'अधम'। 'भावित रस' एवं 'अनुमित रस' को काव्य की आत्मा माननेवाले भट्टनायक एवं महिम इस प्रकार का विवेक प्रदर्शित नहीं करते—वस्तुतः ये ही मतवाले लोग हैं जो रस को भी एक पृथक् 'वाद' का रूप दे देते है। इसलिए ऊपर जो ध्वनिवाद में रसवाद को अंतर्भुक्त करने की बात कही गई है—वह एक दृष्टि से निरर्थक भी है।

इस प्रकार देशपांडे जी की यह स्थापना मान्य नहीं है कि व्यावहारिक धरातल पर भी एक ही सिद्धांत है—रस सिद्धांत, जिसे सभी लोग मानते हैं। दूसरी ओर डा० नगेंद्र की भी स्थापना व्यावहारिक दृष्टि से अग्राह्य है। तीसरी ओर यह भी नहीं माना जा सकता कि व्यावहारिक भूमि पर केवल दो ही वाद हैं—अलंकारवाद एवं रसवाद। रसवाद को महिमभट्ट एवं भट्टनायक ने किस प्रकार ध्वनिवाद से पृथक् कर लिया—यह तो ऊपर बताया ही जा चुका है—अब केवल 'अलंकारवाद' को देखना अवशिष्ट है।

व्यापक रूप से अलकारवाद, रीतिवाद एवं वक्रोक्तिवाद को 'अलंकार वाद' ही कहा जा सकता है—पर व्यावहारिक भूमि पर तीनों की मान्यताएँ सर्वथा भिन्न हैं। यदि भामह यह मानते हैं कि कमनीयता जैसे गुण के बावजूद वनिता के आनन की भाँति काव्यार्थ तब तक काव्य व्यवहारोचित सौंदर्य से समन्वित नहीं हो सकते—जब तक अलंकार का योग न हो जाय (न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्) तो वामन इनके सर्वथा विपरीत यह स्वीकार करते हैं कि जबतक यौवन जैसा गुण वनिता में न हो—तो लाख अलंकार काव्योचित सौंदर्य नहीं ला सकते। सीमित अर्थ में अलंकार यौवन-कल्प गुण से उत्पादित शोभा के पोषक हैं—इन दोनों से पृथक् कुंतक यह मानते हैं कि 'अलंकार' या 'गुण'—काव्योचित समस्त सौंदर्य का मूल नहीं है—बल्कि काव्योचित सौंदर्य सौंदर्य का मूल कवि की अपनी उक्ति-भङ्गी है—भङ्गी-भणिति है—प्रतिपाद्य के प्रतिपादन का लोकोत्तराह्लादकारी प्रणाली है। काव्य के सर्वविध प्रतिपाद्य के प्रतिपादन-प्रणाली को न तो भामह सम्मत अलंकारों में ही सीमित किया जा सकता है और न वामन की विशिष्ट पद रचनात्मक रीति में ही। इस प्रकार एक अलंकार को, दूसरा गुण को और तीसरा 'वक्रता' को काव्य-व्यवहार का मूल मानना चाहता है। फलतः तीनों सामान्यतः 'अलकार' को 'उक्तिवैशिष्ट्य'—को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी विशेषतः परस्पर पार्थक्य रखते हैं। अतः व्यावहारिक दृष्टि से इन तीनों को भी

पृथक् पृथक् मानना ही संगत है।

इसी प्रकार जैसा कि ऊपर स्पष्ट ही कहा गया है—रसवाद एवं ध्वनिवाद भी पृथक्-पृथक् हो सकते हैं। ध्वनिवादी और रसवादी—में यह अंतर बताया ही गया है कि ध्वनिवादी 'ध्वनित-रस' या 'रसध्वनि'—को ही काव्य की आत्मा मानता है—जब कि रसवादी 'रस' को—चाहे वह किसी भी स्थिति का हो। महिमभट्ट 'अनुमित रस' को और भट्टनायक 'भावित रस'—को काव्य की आत्मा मानते हैं—चाहे वह किसी भी स्थिति का हो। महिमभट्ट तो इसीलिए काव्य का एक ही प्रकार मानते ही हैं—और इस प्रकार का आधार है—रस। वे मानते हैं कि काव्य रसमय ही होता है और रस है—चमत्कारप्राण; चमत्कारप्राणरस सर्वथा प्रधान ही होता है—अतः इस आधार पर काव्य का एक ही प्रकार संभव है। संभव है भट्टनायक भी यही मानते रहे हों कि काव्य का प्रकार एक ही है। इस प्रकार 'रस' सिद्धांत को 'वाद' की अतिरेकी भूमिका पर स्थापित करनेवाले आचार्य ये ही लोग जान पड़ते हैं। 'रस' को महत्त्व देना और बात है और अंधा होकर सर्वत्र उसी की प्रधानता मानना और बात है। आनंदवर्द्धन की रस संबंधी धारणा और भट्टनायक तथा महिमभट्ट की रस संबंधी धारणा में यही अतर है।

कुछ लोग मानते हैं कि 'रसवाद' के प्रवर्त्तक नाट्यशास्त्रकार थे, जिनके विरोध में भामह ने अलंकारवाद की सृष्टि की—मेरा विचार इस प्रकार का वक्तव्य देनेवालों के सर्वथा विरुद्ध है। भरत 'रस' संबंधी विचार के प्रतिष्ठापक या परिनिष्ठित उपस्थापक अवश्य थे—पर उन्होंने उसे एक 'वाद' का—अतिरेकी दृष्टि का—रूप नहीं दिया। फिर भामह द्वारा उनके विरोध का कोई सवाल भी नहीं है। भामह श्रव्य काव्यीय सौंदर्य के मूलस्रोत के चिंतक और भरत मुख्यतः दृश्यकाव्य के विचारक—दोनो की भूमिकाएँ ही भिन्न-भिन्न हैं—विरोध कैसा? भरत इसलिए भी रस-वाद के संस्थापक नहीं कि प्रत्येक संस्कृत आलोचना का इतिहासवेत्ता उस युग को For matine Age कहता है—'वादों का युग' नहीं। वादों की शुरुआत तो भामह से होती है—और क्षेमेंद्र से पूर्वतक चलती रहती है—सामान्यतः ये सभी विचारक काव्य की आत्मा—पर अपना-अपना विचार प्रकट करते हैं—और किसी एक पक्ष को अनावश्यक ढंग से महत्त्व देते हैं (यद्यपि ध्वनि सिद्धांत में ऐसी असंतुलित आग्रही दृष्टि नहीं है)। अतः रस-संबंधी विवेचन के आरंभकों में भरत की गणना हो सकती है—पर 'वाद' के रूप में उसका संस्थापक उन्हें कहना ठीक नहीं। इस रूप में तो महिम एवं भट्टनायक जैसे लोग ही जान पड़ते हैं।

ये लोग 'वादयुग' के अंतर्गत हैं भी। हाँ, यदि 'रसवाद' को सामान्यतः 'रस सबंधी विचार' के अर्थ में लें—अपेक्षाकृत रस को महत्त्वपूर्ण माननेवाली विचारधारा के अर्थ में स्वीकार करें तो 'भरत' को रसवादी कहने में किसे हिचक होगी ?

इस प्रकार अततः हमें कहना यह है कि तात्त्विक भूमिका पर चाहे कुछ भी हो—पर व्यावहारिक भूमिका पर यह मानना नितांत आवश्यक है कि काव्य की आत्मा के संबंध में उपर्युक्त पाँच ही वाद प्रमुख हैं। जिनमें से ध्वनि-सिद्धांत में अन्यवादियों की भाँति अतिरेकी दृष्टि नहीं है। साथ ही अधिक भेद-प्रभेद की वैयक्तिक भूमिका पर स्थापना देनेवालो के विपक्ष में संक्षेप में मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि जिस प्रकार व्यावहारिक-व्यवस्था सर्वथा भेद-बुद्धि के बौद्धिक विलयन से नहीं चल सकती उसी प्रकार भेद प्रसारोन्मुखी बुद्धि से भी नहीं चल सकती। अतः सामान्यतः काव्यात्मवाद से संवद्ध उपर्युक्त पाँच वादों का ही मानना न्याय्य है।

यद्यपि ऊपर एक वाद का दूसरे वाद से अंतर स्पष्ट कर दिया गया है—फिर भी उपसंहार से पूर्व पुनः अन्य दृष्टियों से भी उनका पार्थक्य निरूपित करना आवश्यक जान पड़ता है। निर्माण की दृष्टि से आविष्कृत शब्दार्थ को अलंकार्य माननेवाले, उक्ति-गत वैशिष्ट्य का विश्लेषण करनेवाले, 'अलंकार' को व्यापक रूप में काव्य की आत्मा माननेवाले अलंकारवादी, रीतिवादी एवं वक्रोक्तिवादी में पारस्परिक पार्थक्य यह भी है कि पहला सामान्य उक्ति से पृथक् करनेवाले काव्योचित सौंदर्य का मूल अपेक्षाकृत अलंकारों को मानता है और शरीर-सौंदर्य पर दृष्टि होने के कारण व्यंग्य, रस, वक्रता, गुण—सभी को वाच्यार्थ के सौंदर्य का साधक बताता है। व्यंग्य ही नहीं, रस भी शरीर सौंदर्य का वर्द्धक होने से अलंकार के ही अंतर्गत है। वक्रता समस्त अलंकारों में अनुस्यूत है। गुण अलंकार से भिन्न शोभाकर धर्म नहीं है। इस प्रकार अन्यवादियों द्वारा स्वीकृत काव्य के प्रमुख तत्त्व अलंकारवादियों के यहाँ अलंकार की ही परिधि में सीमित हैं। रीतिवादी 'अलंकार' की अपेक्षा 'गुण' को काव्योचित सौंदर्य का सहज स्रोत मानते हैं। वक्रोक्तिवादी की 'वक्रता' अलंकारवादी की 'वक्रता' से पर्याप्त विस्तृत है। यद्यपि दोनों ही 'वक्रता' को काव्यात्मक उक्ति का मूल मानते हैं—फिर भी अलंकारवादी जहाँ 'वक्रता' को अलंकारों के आधाररूप में ही सीमित करता है वहाँ कुंतक अपनी 'वक्रता' को समस्त काव्य-प्रक्रिया का मूल मानते हैं। अलंकार तो केवल 'वर्णवक्रता' एवं 'वाक्यवक्रता' में समा जाते हैं—पर इनकी 'वक्रता' समस्त

अलंकारों को अपने भीतर समेट लेनेवाली 'वर्णवक्रता' तथा 'वाक्यवक्रता' से अतिरिक्त भी अन्य प्रकार की वक्रता है।

'ग्रहण' की दृष्टि से विचार करने के फलस्वरूप आविष्कृत वादों (ध्वनिवाद एवं रसवाद) का अंतर ऊपर पर्याप्त स्पष्ट कर ही दिया गया है। संक्षेप में यही भारतीय काव्यात्मवाद की भूमिका है।

अलंकार का अंतरंग दर्शन

अलंकारवादियों ने समस्त काव्योचित सौंदर्य का स्रोत एकमात्र अलंकार को माना था—अथवा यों कहा जाय कि वे यह स्वीकार करते थे कि काव्योचित समस्त सौदर्य का जो भी स्रोत है—वह सब अलंकार ही है। अलंकार से अतिरिक्त दूसरी वस्तु नहीं है-जिसे तथाविध सौंदर्य का निदान माना जाय। भामह स्वीकार करते थे कि शब्द एवं अर्थ की वक्रता ही वाणी का अलंकार है और अलंकार के बिना कोई भी अर्थ कितना ही कमनीय क्यों न हो—काव्योचित सौंदर्य नहीं प्राप्त कर सकता —

"न कान्तमपि निभूर्षं विभाति वनिताननम्" [काव्यालंकार]

× × ×

शब्दाभिधेयवक्रोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः [वही]

भामह की ये दो पंक्तियाँ उनकी अलंकार संबंधी धारणा को स्पष्ट करती हैं। पर साथ ही अनेक प्रश्न भी खड़ा करती हैं—पहला यह कि (१) इनके अनुसार 'वक्रता' या 'अतिशयोक्ति' क्या है, जिसे समस्त अलंकार का मूल माना जाता है ? (२) जिस 'सौदर्य' का स्रोत अलंकार है—उसकी प्रकृति क्या है—अलंकार किस रूप में उसके स्रोत हैं ? (३) कान्त आनन भी अलंकार रहित होकर 'न विभाति' से इनका आशय क्या है ? 'न विभाति' के दो अर्थ किये जाते हैं—विभा समन्वित नहीं होता या विभाव अर्थात् रसोत्पादक नहीं हो पाता—भामह को क्या अभीष्ट है ? (४) चौथा प्रश्न यह है कि 'कान्ति या कमनीयता से और अधिक' अर्थ में क्या आ जाता है—जिसके लिये 'भूषण

या अलंकार' की आवश्यकता है—जिसके लिये 'विभाति' क्रिया का प्रयोग किया गया है ?

भामह से पूर्व भरत ने भी 'अलंकार' शब्द का प्रयोग किया है—अलंकारों के प्रभेद प्रदर्शित किये हैं। भरत ने काव्यालंकार के साथ वाष्यालंकार, नेपथ्यालंकार आदि की भी चर्चा की है। श्रव्यकाव्य की दृष्टि से विवेचन करनेवाले परवर्ती आलंकारिकों ने इन विविध अलंकारों में से केवल 'काव्यालंकार' की ही चर्चा की और व्यापक दृष्टि से उसका विचार किया। भरत के प्रयोगो को भी देखने से पता लगता है कि वे भी 'अलंकार' शब्द का प्रयोग 'सौदर्य' और 'सौदर्यसाधन' के अर्थ में करते थे। भरत से लेकर भामह के बीच के भी आलंकारिको ने संभवतः इसी अर्थ में 'अलंकार' शब्द का प्रयोग किया होगा। यही कारण है कि इस अर्थ में रूढ़ होने के कारण भामह ने शब्दतः पुनः कहने की आवश्यकता नहीं समझी। शब्दाभिधेयवक्रता अर्थात् शब्द वक्रता एवं अर्थ वक्रता ही वाणी की अलंकृति या सौदर्य है—इस प्रकार एक तरफ उन्होने 'सौदर्य' के अर्थ में अलंकार शब्द का प्रयोग किया है तो दूसरी ओर 'न कान्तमपि निभूंष' द्वारा उसका प्रयोग 'सौदर्य-साधन' के भी अर्थ में किया है। वह इस प्रकार है—सहज कमनीय होने पर भी (काव्योचित) सौंदर्य-साधन अलंकारों के बिना वनिता आनन पूर्ण शोभित नहीं होता—अर्थात् 'निभूंषम्' में भूषण या अलंकार का अर्थ 'सौदर्य-साधन' ही है। वामन ने 'अलंकार' शब्द के इस अर्थ को पूर्णतः स्पष्ट किया है—सौदर्यमलंकारः" 'स च दोषगुणालंकार हानादानाभ्याम्' अलंकार सौदर्य है—और उसकी उत्पत्ति दोषत्याग तथा गुण एवं अलंकार के द्वारा होती है। यहाँ दूसरा 'अलंकार' शब्द सौदर्य-साधन के सीमित अर्थ उपमा आदि के लिये प्रयुक्त किया गया है। वामन का दूसरा प्रयोग यह भी सूचित करता है कि अब 'अलंकार' शब्द व्यापक रूप में सौदर्य एवं सौदर्य प्रसाधन से हटकर सीमित सौंदर्य प्रसाधन के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा था।

भामह जब यह कहते हैं कि वनिता का आनन कमनीय होने पर भी भूषण के बिना उत्कृष्ट सौंदर्य लाभ नहीं करता—उसी प्रकार सहज कमनीय अर्थ भी 'अलंकार' के बिना काव्यव्यपदेशोचित (प्राणभूत) सौंदर्य लाभ नहीं कर पाता। सहज या स्वभावतः उक्ति कितनी भी कमनीय हो पर 'वक्रता' के संस्पर्श बिना काव्योचित लोकोत्तर-सौंदर्य उन्मीलित नहीं होता। जिस प्रकार अभिनय में लोकधर्मी पदार्थों या तत्वों में नाट्योचित सौदर्य का उन्मेष 'नाट्यधर्मी'—का मुखापेक्षी है—उसी प्रकार काव्य में भी उक्तिगत सहज

कमनीयता काव्योचित-सौंदर्य की उपलब्धि के लिये 'अलंकार' का मुखापेक्षी है। उन दिनों आलंकारिकों की धारणा थी कि काव्य का प्राण 'अलंकृति' या 'सौंदर्य' है और एतदर्थ सौंदर्य प्रसाधनों की आवश्यकता है। अभिनवगुप्त ने भी कहा है कि काव्य की स्वभावोक्ति एवं वक्रोक्ति लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी के स्थानापन्न तत्त्व हैं। 'वक्रता' या कवि-व्यापार ही वह मूल आधार है जिसके कारण कवि की उक्ति सौंदर्य का प्रसाधन (अलंकारात्मक परिणति) बन जाती है। यद्यपि कवि-व्यापार के ही अर्थ में कुंतक ने भी 'वक्रता' का प्रयोग किया है—पर वह इससे भी व्यापक है। अस्तु! तो भामह ने अलंकार के योग से 'कमनीयता' की अपेक्षा 'विभाति' द्वारा अर्थ-गत जो 'कुछ—और' उत्पन्न होने की बात है—वह स्वाभाविक या लोकस्तरीय कमनीयता से अधिक काव्य-स्तरीय लोकोत्तर सौंदर्य ही है—यही काव्य का प्राण है। अलंकार-मात्र का मूल 'वक्रता' को माननेवाले भामह ["सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना"] जब यह कहते हैं कि काव्य में सब जगह यह वक्रोक्ति ही है जिससे अर्थ का विभावन होता है। अर्थ में लोकोत्तर सौंदर्य उन्मीलित होता है—इसलिये कवि का कर्तव्य है कि वक्रता-लोकोत्तर सौंदर्योन्मीलन के अनुरूप व्यापार में सावधान रहे—तो इस प्रकार की सावधानी के बिना कोई किसी अलंकार की संघटना ही नहीं हो सकती।

'विभाति' का अर्थ 'काव्यव्यवहारोचित लोकोत्तरसौन्दर्य सपन्न जान पड़त है" जैसा जो अर्थ हमने ऊपर निर्द्धारित किया है। कतिपय आचार्यों के व्याख्या यें मेरे पक्ष में नहीं जातीं। वे लोग मानते हैं कि 'वक्रोक्ति' य तन्मूलक अलंकार से 'अर्थ' में 'विभावन' की क्षमता आ जाती है—अर्थ 'विभाव' बन जाता है—उसमें रस-निष्पादकता आ जाती है। काव्यालंकार के टीकाकार ताताचार्य 'अनयाऽर्थो विभाव्यते' का अर्थ करते हैं—"काव्यार्थः रस चर्वणानुगुणविशदप्रतीतिगोचरीक्रियते' अर्थात् वक्रता द्वारा अर्थ के विभावित होने का मतलब है-रसचर्वणा के अनुरूप अपेक्षित विभाव आदि के रूप में विशदप्रतीति का नियम बनना। काव्यप्रकाश के टीकाकार झलकीकर वामन ने भी 'विभाति' का अर्थ 'विभावतामाप्नोति' किया है—जो उक्त अर्थ के ही अनुरूप है। ग० अं० देशपांडे का भी विचार है कि—"लौकिक अर्थ के विभावीकरण अर्थात् विभाव में परिवर्तित होने का साधन वक्रोक्ति ही है।" अभिनवगुप्त ने भी 'लोचन' में कहा है कि भामह ने शब्द चारुता का विवेचन रसानुगामिता से ही किया है। इन सबसे जो स्पष्ट होता है वह

यह कि भामह ने 'रस' को ही ध्यान में रखकर 'वक्रता' अथवा उससे निष्पन्न होनेवाले अलंकार का विचार किया है। ये काव्य में 'रस' को ही मुख्य मानते हैं। अलंकार सम्प्रदाय जैसे किसी रसविरोधी सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक भामह नहीं हैं।

पर मेरा यह विचार है कि 'विभाति' या 'विभाव्यते' के जो रसानुरूप व्याख्यान ऊपर दिये गये हैं वे भामह की समस्त उक्तियों के पारस्परिक समन्वय को ध्यान में रखकर नहीं दिये गये हैं। दूसरे यह कि इन सभी व्याख्याकारों ने ऐतिहासिक और यौक्तिक संगति को ध्यान में न रखकर एक तो केवल व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ देने की कोशिश की है और दूसरे उन सब पर रसवादी और भाववादी दार्शनिक अभिनवगुप्त का पूर्ण प्रभाव है। हमारा अभिप्राय यह है कि इस तथ्य को सभी विवेचक स्वीकार करते हैं कि भामह आदि पूर्वालंकारिक काव्य की 'आत्मा' या काव्य का 'विशेष' या 'व्यावर्त्तक तत्त्व'—'लोकोत्तर-सौन्दर्य' को स्वीकार करते है। भामह की उक्तियाँ भी इस तथ्य के अनुरूप है। इसीलिये मैं यह कहना चाहता हूँ कि भामह मानते हैं कि वक्रता और उससे निष्पन्न अलंकार की सार्थकता अर्थ को इस रूप में प्रतीति कराने में है कि उसके द्वारा लोकोत्तर सौंदर्य (जो काव्य का प्राण है) अनुभूत हो।

कहा जा सकता है कि उक्त व्याख्याकार जिस अभिनवगुप्त के अनुयायी हैं—वे भी तो स्वयं यही मानते हैं कि 'चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यस्यात्मा'—फिर मतभेद क्या है? मतभेद यह है कि अभिनवगुप्त उसी 'सौंदर्य' को काव्य की आत्मा मानते है—जो 'रसानुगामी' हो—मेरा विचार यह है कि भामह उससे उथले और अतिरिक्त रूप में भी 'सौंदर्य' को काव्य की आत्मा मानते हैं तभी वे 'रसवदादि' के अतिरिक्त अन्य अलंकार मानते हैं और दोनों को समकक्ष स्वीकार करते हैं और सबसे उत्पन्न होनेवाले 'सौंदर्य' को काव्य की आत्मा मानते हैं। अभिनवगुप्त के पूर्वचर्चित अनुयायियों को यह भी मानना चाहिए कि स्वयं उसी अभिनवगुप्त ने ध्वनिवाद के विरोधियों में अलंकारवादियों की गणना की है और उनका पक्ष प्रस्तुत करते हुए यह कहा है कि वे लोग चारुत्व को ही काव्य की आत्मा मानते हैं और चारुत्व का स्रोत शब्द एवं अर्थ के स्वरूप एवं संघटना में स्वीकार करते हैं—'चारुत्वं द्विविधम्—स्वरूपनिष्ठं संघटनानिष्ठं च"—चारुता का स्वरूपनिष्ठ स्रोत अलंकार है और संघटनानिष्ठ गुण। काव्य के प्राणभूत सौंदर्य के ये ही स्रोत हैं और इन्हीं दो स्रोतों से प्रसूत 'सौंदर्य' काव्य का सौदर्य है। अभिनवगुप्त ने अलंकारवादियों के मत का यह अनुवाद प्रस्तुत किया है और 'रसानुगामी चारुता काव्य की

आत्मा है'—यह उनका स्वतंत्र सिद्धांत है। अलंकारवादियों के मत का अनुवाद नहीं है—अतः रसवाद के अनुरूप 'विभाति' तथा 'विभाव्यते' की व्याख्या समुचित नहीं है उसकी तो अलंकारवादी आचार्यों के अनुरूप जो व्याख्या ऊपर प्रस्तुत की गई है वही होनी चाहिए।

निष्कर्ष यह कि 'अलंकार' के स्वरूप एवं साध्य की दृष्टि से भामह का विचार यह है कि 'अलंकार' शोभा भी है और शोभाकर धर्म भी। साथ ही उसके द्वारा अर्थ में कविव्यापारात्मक वक्रता से काव्यव्यवहारोचित लोकोत्तर सौंदर्य का उन्मीलन किया जाता है।

अलंकार-स्वरूप की ऐतिहासिक विकास को ठीक-ठीक समझने के लिये यहीं हमें यह भी देखना चाहिए कि इससे मिलते-जुलते और किन-किन धर्मों की चर्चा प्राग्ध्वनि-आचार्यों ने की है। 'अलंकार' से मिलते-जुलते अतिरिक्त तत्त्व हैं—गुण और लक्षण।

'गुण' एवं 'लक्षण' की चर्चा भी भरत नाट्यशास्त्र से ही मिलने लगती है। 'लक्षण' की चर्चा 'भरत' के बाद नगण्य रूप में परवर्ती ग्रंथों में मिलती है। वस्तुतः आलंकारिक कृतियों के देखने से ऐसा भासित होता है कि लक्षणो का समावेश या तो अलंकारों या भावो में कर दिया गया है या काव्योचित सौंदर्य या वैचित्र्यशून्य होने से सर्वथा उपेक्षित कर दिया गया है। इसके स्वरूप पर भी विस्तार से विचार 'अभिनव भारती' में किया गया है। जहाँ उसके कुल दस लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं। भरत नाट्यशास्त्र में तो गुण एवं अलंकार का कोई स्पष्ट अंतर उल्लिखित नहीं हुआ है पर अभिनवगुप्त द्वारा किये हुए विवेचन के आधार पर जो कुछ कहा सुना जा सकता है, वह इस प्रकार है। अभिनवगुप्त ने कहा है कि जिस प्रकार 'राजता' या 'राजोचित सौदर्य' का विश्लेषण किया जाय तो उसके स्रोत तीन दिखाई पड़ते हैं। अलंकार जैसे बाह्य उपकरण, शौर्यादि जैसे अंतर गुण एवं सामुद्रिक शास्त्रोक्त विशेष लक्षण। उसी प्रकार काव्य में भी सौदर्य के स्रोत-गुण, अलंकार एवं लक्षण हैं। सामान्यतः यह भी कहा गया है कि गुण आंतरिक धर्म है और अलंकार तथा लक्षण-बाह्य। बाह्य 'लक्षण' से 'अलंकार' का अंतर यह बताया जाता है कि पहला 'पृथक् सिद्ध' और दूसरा 'अपृथक् सिद्ध'—धर्म है अर्थात् पहला शरीर से पृथक् धर्म है और दूसरा अपृथक्। अभिनवगुप्त ने यह भी कहा है कि गुण एवं अलंकार के न रहने पर भी यदि सौंदर्य भासित होता है—तो उसे 'लक्षण' प्रयुक्त ही मानना चाहिए और 'मेदश्छेदकृशोदरम्—' इत्यादि कालिदास के पद्य को उदाहृत भी किया है। उदाहरणपूर्वक यह भी प्रदर्शित किया है कि कहीं-कहीं इन तीनों या दोनों का संकीर्ण लक्ष्य भी मिल जाता है—

पर 'लक्ष्य' के सांकर्य से यह निष्कर्ष निकालना कि उन-उन सौंदर्य-स्रोत तत्वो के लक्षण भी एक हैं—अतः उन्हें पृथक्-पृथक् न माना जाय-ठीक नहीं। यद्यपि दूसरी ओर परवर्ती आचार्यों की विवेचनाओं में यही होता है। श्रव्य काव्य पर मुख्यतः विचार करनेवाले आलंकारिक 'उक्ति-वैचित्र्य' रूप काव्य के स्वरूपाधायक और उत्कर्षाधायक धर्मों का विश्लेषण करते हुए लक्षणो को या तो अलकारों में अंतर्भुक्त कर दिया या वैचित्र्यहीन होने से छोड़ दिया। भट्टतौत ने जो यह कहा था कि लक्षणों के योग से अलंकारों के प्रकार भेद निष्पन्न होते है—उसका उपयोग आलकारिकों ने खूब किया। श्रव्य काव्य पक्ष से विचार करनेवालो में ये केवल चंद्रालोककार ही हैं—जिन्होने फिर भी लक्षणो का अलग से उल्लेख किया। साहित्यदर्पणकार ने भी उल्लेख किया—परंतु उन्होंने दृश्य काव्य के प्रसंग में। दृश्यकाव्य पर ही विचार करनेवाले आलंकारिकों में से प्रायः सबने इसका उल्लेख किया और वह शायद इसलिये कि उन्हें 'उक्तिवैचित्र्य' पक्ष से उतना विचार करना आवश्यक न था। दृश्य काव्य की दृष्टि से विचार करनेवालों में केवल दशरूपककार दिखाई पड़ते हैं जिन्होंने लक्षणो को 'अलंकार' एवं 'भाव' में अतर्भुक्त कहा है।

यद्यपि यह चर्चा प्रासंगिक है—इसे तुंदिल करना लेख में असंतुलन पैदा करना है—फिर भी विषय थोड़ा महत्त्वपूर्ण होने के कारण अधिक विस्तार-साध्य है। 'लक्षण' का स्वरूप बताते हुए कुछ लोग (१) उसे शरीर से 'अपृथक्-सिद्ध' धर्म मानते हैं और शरीर की शोभा का उत्पादक है (२) दूसरे लोगों का विचार है कि 'इतिवृत्त खण्ड' ही लक्षण है। निमित्तभेदवश उसे ही 'संध्यंग' और निमित्तभेद वश उसे ही 'लक्षण' कहना चाहिए। वे ही इतिवृत्त खण्ड परस्पर संधायक होने के कारण संधि या 'संध्यंग' हैं, वे ही इतिवृत्तखण्ड रस विशेष में उपयोगी होने के कारण 'वृत्त्यंग' है और वे ही काव्य की ख्याति एवं प्राशस्त्य में उपयोगी होने के कारण महापुरुष-गत सामुद्रिकशास्त्रोक्त रेखाओं की भाँति लक्षण हैं। (३) तीसरे लोग 'लक्षण' का स्वरूप एवं गुण तथा अलंकार से उसका अंतर स्पष्ट करते हुए यह कहते हैं कि गुण को आंतरिक और अलकार तथा लक्षण को 'पृथक्-सिद्ध' और 'अपृथक्-सिद्ध' वाह्य या शरीराश्रित धर्म मानना ठीक नहीं है। बल्कि कवि-व्यापार की दृष्टि से देखे तो यह कहना उपयुक्त होगा कि कवि के प्रतिभात्मक प्रथम स्पंद (व्यापार) के द्वारा रसाभिव्यंजनसमर्थ 'गुण' का उन्मेष होता है अर्थात् पहले पहल मधुर या ओजस्विनी प्रसन्न अखंड अनुभूति ही कवि प्रतिभा को बाहर आने के लिये स्पंदित करती है। फिर वह स्पंदित प्रतिभा

अनुरूप शब्द एवं अर्थ को वर्णना के लिये दूसरा व्यापार करती है—दुबारा स्पंदित होती है—इसी द्वितीय स्पंदन में 'अलंकार' का उन्मेष होता है। फिर प्रतिभा का तीसरा स्पंदन या व्यापार होता है। इसमें वह इस संकल्प के अनुरूप अग्रसर होती है कि अमुक शब्दो से अमुक अर्थों का और अमुक अर्थों से अमुक शब्दों का संघटना करूँगा। इस तृतीय व्यापार के फलस्वरूप शब्दार्थात्मक काव्य शरीर के आश्रित श्लेष आदि दस गुणों के अभिव्यजक 'लक्षणों' का आविष्कार होता है। इस मत में 'गुण'–दो प्रकार के कहे गये हैं वाह्य एवं आंतर। वाह्यगुणो की अभिव्यक्ति में दस 'लक्षण' होते है। इस प्रकार इस मत के अनुसार प्रथम व्यापार से प्रसूत गुण, द्वितीय व्यापार से प्रसूत 'अलंकार' एवं तृतीय व्यापार से प्रसूत 'लक्षण' हुए। व्यापार की दृष्टि से गुण, अलंकार एवं लक्षण का यह दूसरा अंतर हुआ।

(४) चौथे वर्ग ने 'लक्षण' का स्वरूप बताते हुए उसे वाक्य-धर्म या इतिवृत्तखण्ड से पृथक् करते हुए 'प्रबंध-धर्म' कहा है अर्थात् उन्होंने यह बताया है लक्षण काव्यों की विभिन्न विशेषताएँ है—जिसके आधार पर किसी विशेष प्रबंध का वैशिष्ट्य बताया जा सकता है। उदाहरण के लिये कुछ 'प्रबंध' ऐसे हो सकते हैं जिनमे गुण एवं अलंकारो की बहुतायत हो—जैसे, मेघदूत। इसे 'भूषण' काव्य कहा जा सकता है–कारण 'भूषण' नाम के 'लक्षण' की यही विशेषता है कि उसमें अनेक गुण एवं अलंकारो की स्थिति रहती है। इस प्रकार इस मत के अनुसार 'लक्षण' वह व्यापक प्रबंध धर्म है जिसमें सभी गुण एवं अलंकार आ जाते हैं–अर्थात् 'लक्षण' व्यापक है और अलंकार उसका स्वरूप-घटक धर्म विशेष।

(५) कुछ लोग मानते है कि 'कवि का अभिप्राय विशेष' ही लक्षण है। डा० राघवन् इसकी व्याख्या में मौन हैं। परतु श्री ग० त्र्यं० देशपांडे जी ने उन्हीं से प्रेरणा लेकर अच्छा विचार प्रस्तुत किया है। उनका मत है कि निरुक्त एवं मीमांसा में मंत्र-ब्राह्मणों में अभिव्यक्त ऋषियों के उच्चावच 'अभिप्राय' को जिस प्रकार 'लक्षण' नाम दिया गया है उसी प्रकार निरुक्तादि के अभ्यासक किसी साहित्यरसिक ने काव्यों में व्यक्त कवियों के 'अभिप्राय' विशेष को 'लक्षण' कह दिया होगा। इस मत के अनुसार भी अलकार 'लक्षण' से सर्वथा पृथक् इसलिये हुए कि जहाँ एक 'अभिप्राय' है वहाँ दूसरा उसके प्रकाशक शब्दार्थ का आश्रित शोभावह धर्म विशेष।

(६) कुछ लोगों का कहना है कि गुण एवं अलंकार की समुचित योजना ही 'लक्षण' है। इस मत के अनुसार भी 'लक्षण' एवं 'अलंकार' का अंतर

स्पष्ट है। यथास्थान विनिवेशन यदि 'लक्षण' है तो विनिवेशित शोभाकर धर्म 'अलंकार'।

(७) सातवें लोगों का विचार पहले और तीसरे दल से मिलता जुलता है। इन लोगों का विचार यह है कि अलंकार एवं गुण से निरपेक्ष स्वभावतः सुदर जो अभिनय विशेष है। उस स्वाभाविक सौंदर्य का हेतु 'लक्षण' कहा जाता है। ऐसा ही गुणालंकार निरपेक्ष निसर्ग सुंदर काव्यार्थ विशेष 'लक्षण' कहा जाता है। पहले और तीसरे मतों से साम्य यह है कि उनकी भाँति में भी 'लक्षण' को काव्यशरीर (अर्थ) से संबंद्ध मानते हैं और शोभाकर धर्म बताते हैं। इस मत के अनुसार लक्षण एवं अलंकार का अंतर यह हुआ कि यद्यपि हैं--दोनों शोभाकर ही--परन्तु 'लक्षण' नैसर्गिक सौंदर्य का कारण है, अलकार कल्पना संस्पर्शज सौंदर्य का कारण है।

(८) आठवाँ मत यह है कि 'लक्षण' वह साधन है जिसके द्वारा 'अलकारों' के प्रकार-भेद बढ़ते जाते हैं। उदाहरणार्थ, 'उपमा' का 'प्रशंसोपमा' नामक भेद 'गुणानुवाद' नामक 'लक्षण' के योग से हो जाता है—यही 'उपमा,' 'अतिशय' नामक 'लक्षण' के योग से 'अतिशयोक्ति' हो जाती है। भट्टतौन या अभिनवगुप्त के उपाध्याय का यही मत है कि 'लक्षण' के सहारे अलंकारो के प्रकार भेद बढ़ते जाते हैं। इस मत के अनुसार 'लक्षण' एवं अलंकार का अन्तर यह हुआ कि 'लक्षण' एक साधन है जिससे अलंकारों का आनन्त्य होता जाता है और 'अलंकार' वह मूल वस्तु है जो अपने गुणन में 'लक्षण' को साधन बनाता है।

(९) नवाँ मत है कि शब्द एवं अर्थ के द्वारा उत्पादित 'चित्रता' ही लक्षण है। अभिनवगुप्त ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि शब्द के द्वारा शब्द एवं अर्थ का और अर्थ के द्वारा शब्द एवं अर्थ का सुंदरीकरण ही—'लक्षण' है। अंततः यह मत भी बहुत कुछ उसी तरह का है जो लक्षण को अलंकारादि से भिन्न काव्य-शरीर संवद्ध काव्य शोभाकर धर्म मानते हैं।

(१०) दसवाँ मत दूसरे मत की ही भाँति है, जिसमें यह कहा गया है कि जिस प्रकार तंत्र, प्रसंग, बाध एवं अतिदेश आदि मीमांसा में प्रसिद्ध हैं-जिन्हें वेदवाक्यों के 'लक्षण' रूप में कहा गया है। उसी प्रकार विभूषण आदि भी काव्य-वाक्यों के व्यवच्छेदक 'लक्षण' हैं। दूसरे मत के अनुरूप ही इसके अनुसार भी अलंकार और लक्षण का अन्तर हो सकेगा।

अभिनवगुप्त का कहना है कि इन दसों पक्षों में से किसी भी एक पक्ष के ग्रहण से भरत द्वारा प्रयुक्त 'लक्षण' के विशेषणों की सहज एवं संगत व्याख्या

संभव नहीं है। अतः उन्होंने कुछ और व्याख्या प्रस्तुत की। इस प्रकार उन्होने न केवल 'लक्षण' का स्वरूप ही निर्धारित किया, वरन् गुण, अलंकार एवं लक्षण का परस्पर पार्थक्य भी स्थापित किया।

स्वरूप पर विचार करते हुए उन्होंने भरत द्वारा उक्त 'लक्षण' के विशेषण 'भावार्थगत' पर ध्यान दिया (काव्येषु भावार्थगतानि तज्ज्ञैः सम्यक् प्रयोज्यानि यथारसंतु) और बताया कि 'लक्षण' वस्तुतः 'भावार्थगत' हैं। 'भाव' है—विभावादि, उनका 'अर्थ' या प्रयोजन है—रसीकरण। इस प्रकार अभिनवगुप्त के मत से वे ही लौकिक उद्यान आदि पदार्थ जिस अभिधाव्यापार या काव्यव्यापार के बल से काव्य में विभावादिरूप से परिणत होते हुए इसी भाव को प्राप्त होते है—वही 'लक्षण' कहा जाता है। यह कवि व्यापार की ही महिमा है कि लौकिक पदार्थ काव्य में आकर रसमय हो जाते हैं। कवि को जिस अभिधाव्यापार से लौकिक पदार्थ अलौकिक विभावादिरूप में परिणत होकर रस पर्यवसित होते हैं—वही 'लक्षण' है। अपने ही समर्थन में उन्होंने भामह एवं भट्टनायक के 'वक्रोक्ति' तथा 'व्यापार प्राधान्य' को भी उद्धृत किया है अर्थात् भामह भी 'वक्रता' को ही काव्योचित सौंदर्य का मूल स्रोत मानते हैं और भट्टनायक का भी कहना है कि काव्य में शब्द और अर्थ का नहीं—बल्कि 'व्यापार' की ही प्रधानता होती है। अतः अभिनवगुप्त का कहना है कि 'परमार्थे व्यापार एव लक्षणम्'—व्यापार ही 'लक्षण' है।

गुण तथा अलंकार से 'लक्षण' का अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि गुण एवं अलंकार शब्दार्थ से संबद्ध है—पर लक्षण पूर्णतः कविव्यापार से संबद्ध है। कवि का वह समस्त प्रयत्न 'व्यापार' है—जिससे शब्दार्थ में काव्योचित सौंदर्य उन्मीलित होता है। शब्द एवं अर्थ का गुण है रसाभिव्यञ्ज-कता। उन्हीं शब्दों एवं अर्थों की क्रमशः नादशोभाहेतुता और अर्थ शोभाहेतुता अलंकार है। 'लक्षण' इन समस्त गुण एवं अलंकार वर्ग का अनुग्राहक है। उसके रहने से ही अलकार अलंकार एवं गुण गुण है।

(क) डा० राघवन् का विचार है कि जो भी दस लक्षण ऊपर प्रस्तुत किये गये हैं। उनमें से एक का मत है कि—

(१) लक्षण काव्य के शरीर से संबद्ध है।

(२) यह एक शोभाकर धर्म है।

(३) अलंकार की तरह यह काव्यशरीर से पृथक् नहीं, बल्कि अपृथक् सिद्ध तत्त्व है।

(४) लक्षण द्वारा काव्य सहज सौंदर्य प्राप्त करता है—जब कि 'अलंकार' उस शोभा के संबर्द्धक तत्त्व हैं।

ऐसा मत उन लोगों का है जो सामुद्रिक शास्त्रोक्त 'लक्षण' के रूपक से इस तत्त्व को समझना समझाना चाहते हैं।

(ख) दूसरे लोग 'मीमांसा एवं निरुक्त' में कहे हुए वेद वाक्यों के व्यावर्त्तक वैशिष्ट्य के रूपक से इसे समझाना चाहते हैं।

(ग) तीन की दृष्टि वस्तुमुखी है—उन्होंने देखा कि अलंकारों के प्रभेद में इनका योग है—इसलिये उसी दृष्टि से इसे समझाया।

वस्तुतः डा० राघवन् एवं देशपांडे में से देशपांडे ने समस्त लक्षणों का विश्लेषण न कर अपना झुकाव अभिनवगुप्त की ही ओर प्रदर्शित किया है। हो सकता है देशपांडे जी को यह अनपेक्षित प्रपंच अपनी स्थापना के अनुरूप न जान पड़ा हो। डा० राघवन् ने अवश्य सभी मतों का विश्लेषण किया है, पर कुछ मत उन्हें अस्पष्ट रह गये हैं।

मैं तो समस्त विवेचनाओं को देखते हुए यह कह सकता हूँ कि इन विवेचकों ने 'लक्षण' शब्द को (यदि तौन या उपाध्याय के वस्तुमुखी मत को पृथक् कर दें) दो अर्थों में लेकर 'काव्यलक्षण' का विवेचन प्रस्तुत किया है। पहला अर्थ है—सामुद्रिक लक्षण और दूसरा अर्थ है 'व्यावर्त्तक एवं स्वरूप-बोधक असाधारण धर्म'। ज्यादा सूक्ष्मता से विचार करने पर यह पहला अर्थ भी दूसरे ही अर्थ की परिधि में आ जाता है। पहला लक्षण स्पष्ट ही सामुद्रिकशास्त्रोक्त 'लक्षण' को ध्यान में रखकर किया गया है। दूसरा लक्षण यद्यपि 'इतिवृत्तखण्ड' को लक्षण बताता है—पर उसने भी रूपक सामुद्रिक-शास्त्रोक्त 'लक्षणों' का ही लिया है। तीसरे मत में कवि व्यापार की दृष्टि से गुण एव अलंकार की अपेक्षा बहिरंग धर्म के रूप में 'लक्षण' कहा गया है। इस मत में उस रूपक का उल्लेख तो नहीं है—पर शोभाकर धर्म के रूप में उल्लिखित होने से इसी वर्ग में तो लिया जाना चाहिये। सातवें मत को छोड़कर शेष सभी 'असाधारण वैशिष्ट्यार्थक' लक्षण शब्द को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किये गये हैं। अभिनवगुप्त का भी मत इसी वर्ग में आ जाता है। इन दो दलों में से मैं उन लोगों का मत अधिक ग्राह्य मानता हूँ कि जो सामुद्रिक शास्त्रोक्त लक्षण के रूपक को ध्यान में रखकर एक शोभाकर-धर्म के रूप में इसकी विवेचना करते हैं। आरंभ में वे लोग अलंकार एवं लक्षण का पृथक् सिद्ध तथा अपृथक् सिद्ध (अनित्य धर्म एव नित्य धर्म) रूप से अन्तर मानते रहे, परन्तु अंततः यह समझा गया कि यह भेद लौकिक दृष्टि

से ही संभव है। काव्य में ऐसा भेद नहीं हो सकता। फलतः बाद में लक्षणों का अलंकार में विलय होता गया। यदि स्वरूपाधायक या असाधारण धर्म—कविव्यापार, वक्रता—के रूप में 'लक्षण' होते—तो उपकारक या उत्कर्षाधायक धर्म (अलंकार) में इनका अंतर्भाव न होता। यद्यपि भामह, दण्डी एवं वामन तक 'अलंकार' काव्य के एक व्यावर्त्तक धर्म के रूप में चर्चा का विषय रहा, फिर भी इस मत को अततः व्यामुग्ध मत ही माना गया है। अतः इन लोगो द्वारा असाधारण धर्म के पद पर अभिषिक्त होकर ही अपने भीतर अनेक लक्षणों को समाविष्ट कर लेनेवाला अलंकार असाधारण धर्म के रूप में चर्चित लक्षणों के पक्ष को प्रामाणिक कोटि में रखे—यह मान्य नहीं।

इस प्रकार भरत से पूर्व ही निरुक्त, पाणिनीयसूत्र, मीमांसा आदि शास्त्रों में चर्चित अलंकारो पर जो कुछ भरत ने अपने विचार प्रकट किये, गुण एवं लक्षण का उससे जो अंतर इंगित किया उसे उनके व्याख्याकारो ने यो प्रदर्शित किया है।

भामह ने न तो अलंकार स्वरूप की कोई स्पष्ट परिभाषा की और न तो गुण से उसके किसी भेदक तत्त्व की ओर इंगित किया। कुछ लोगों का यह विचार है कि इनके टीकाकार 'भामहविवरण' प्रणेता 'उद्भट' ने जब यह माना है और कहा है कि गुण एवं अलंकार दोनों ही शोभाकर धर्म हैं और लौकिक-शरीर की दृष्टि से उनमें अनित्य धर्म एवं नित्यधर्म या समवेत और संयोगी धर्म का सा अन्तर मानना निरर्थक है। तब यही मत भामह का भी क्यों न मान लिया जाय? दण्डी ने तो स्पष्ट ही 'अलंकार' की अत्यंत व्यापक धारणा व्यक्त की है और उसे काव्य शोभाकर धर्म माना है। उन्होंने 'मार्ग' का विश्लेषण करते हुए बताया कि इसमें रहनेवाले शोभाकर धर्म या अलकार दो प्रकार के हैं—साधारण तथा असाधारण। असाधारण अलंकारों को 'गुण' कहा और साधारण को 'अलंकार'। वामन ने सोचा कि 'गुण' तथा 'अलकार' जैसा नाम-भेद रहते हुए भी नामी-भेद या रूप-भेद न कहा जाय तो नाम एवं नामी के अभेद-पक्ष पर आपत्ति होगी। अतः वामन ने यह स्पष्ट कहा कि 'गुण' काव्य के स्वरूपाधायक एवं यौवन की भाँति सहज धर्म हैं—जिनके पूर्व-स्थित अस्तित्व से ही युवती के अलंकारों की भाँति काव्य के भी अलंकार उत्कर्षाधायक होंगे। अर्थात् 'गुण' से सहज सौंदर्य और अलंकार से उस सौंदर्य का भी सौंदर्य बढ़ता है। इस प्रकार का अंतर वामन ने स्पष्ट दिखाया। एक तरफ भामह का टीकाकार, वामन का समसामयिक उद्भट इसे अस्वीकार करता है। दूसरी ओर उद्भट का ही टीकाकार प्रतीहारेंदुराज वामन को

एकाधिक वार मान्यता प्रदान करता है। वामन ने 'अलंकार' शब्द का तीन अर्थों में प्रयोग किया है—(१) सौंदर्य (२) सौदर्य साधन, गुण, अलंकार तथा दोषाभाव एवं (३) सीमित अलंकार-अभिधान प्रणाली इस प्रकार वामन ने अपने समय तक चली आती हुई समस्त धारणाओं और विभिन्न अर्थों को स्पष्ट कर दिया। रुद्रट ने गुण से तो नहीं—पर 'रस' से 'अलंकारों का अंतर दिखाते हुए यह बताया कि अलंकारवादियों की भाँति अलंकार के ही प्रसंग में 'रस' का विचार रुद्रट ने इसलिये नहीं प्रस्तुत किया कि अलंकार तो शब्दार्थरूप काव्य शरीर के कटक कुण्डल की भाँति कृत्रिम अलंकार हैं, पर इस सौंदर्य आदि की भाँति सहजगुण है—अतः उसका पृथक् विचार करना चाहिये।

लक्षण एवं गुण के अतिरिक्त 'रीति' एवं 'वृत्ति' भी सौंदर्य के एक स्रोत रूप में अनेकधा उल्लिखित हुए हैं। पर ऐतिहासिक क्रम से देखते हुए 'लक्षण' की ही भाँति 'रीति' एवं 'वृत्ति' का भी विलय 'अलंकार' में ही किया गया लक्षित होता है। 'रीति' एवं 'वृत्ति' का संबंध है—पद-योजना एवं वर्ण योजना से। 'रीति' ने आलंकारिक ग्रंथों में अनेक भूमिकाएँ ग्रहण की है। आरंभ में वह एक प्रादेशिक विशेषता को द्योतन करनेवाले 'काव्यमार्ग' की वर्णिका में थी। जिसकी काष्ठापन्न स्थिति हमें रीतिवादी वामन में दिखाई देती है। यहाँ 'रीति' को 'गुण-समष्टि' से अभिन्न माना गया है—'रीति' अपने इस रूप में 'अलंकार' से इसलिये भिन्न है कि जहाँ अपने सीमित रूप में अलंकार शब्दार्थस्वरूपगत धर्म हैं—वहाँ 'रीति' अपने व्यापकरूप शब्दार्थ-संघटनागत 'गुण' से अभिन्न है। अर्थात् यदि अलंकार 'शब्दार्थ स्वरूपगत सौदर्य का एक स्रोत है, तो दूसरा शब्दार्थ संघटनागत सौंदर्य का स्रोत है। परन्तु अलंकारवादी और रीतिवादियों की अभिनवगुप्तीय व्याख्या की दृष्टि से यह अंतर किया गया है। उनसे स्वतंत्र होकर देखा जाय तो भामह के यहाँ 'मार्ग' नामधारी 'रीति' का 'अलंकार' से यह अंतर है। अपने-अपने स्थान पर उपयुक्त कतिपय प्रादेशिक विशेषताओं के आधार पर बने 'वैदर्भ' एवं 'गौड़'—दो नियत काव्यनिर्माण के मार्ग हैं—जब कि 'अलकार' का स्वरूप प्रदेशगत विशेषताओं पर नहीं—वक्ता की भणितिभङ्गी पर निर्भर है। दण्डी ने 'मार्ग' का विवेचन करते हुए उसी के अंतर्गत साधारण एवं असाधारण वर्ग में गुण एवं अलंकारों का समावेश करते हुए—यह बताया है कि 'अलंकार' भी 'काव्य मार्ग' की ही विशेषता है। अतः इसके अनुरूप यदि 'काव्यमार्ग' नामधारी 'रीति' एक व्यापक आधार है—तो 'अलंकार'—व्याप्य धर्म। वामन के यहाँ 'रीति' और अलंकार का यह अंतर न रहा। उन्होंने 'रीति' में केवल

बीस गुणों को ही रखा—अलंकारों को भी उसी के धर्म रूप से विवेचित नहीं किया। यहाँ यह सवाल खड़ा होता है कि जो वामन एक तरफ यह मानते हैं कि 'सौंदर्य' ही काव्य की ग्राह्यता के लिए एक आवश्यक तत्त्व है और उसका स्रोत एकमात्र व्यापक एवं सीमित अलंकार है—वहाँ दूसरी ओर वे यह कहते हैं कि काव्य का सार तत्त्व 'रीति' है—बिना उसके 'काव्य' काव्य नहीं—तो इन उक्तियों से समस्या यह खड़ी होती है कि वामन 'रीति' (या 'गुणसमष्टि') और 'अलंकार'—दोनों में से महत्त्वपूर्ण किसे कहते हैं ? कहा जा सकता है कि यदि 'रीति' गुण-समुदाय ही है और व्यापक अर्थ में वामन 'अलंकार' के अतर्गत 'गुण' (स च दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्) को रखते हैं—तो 'अलंकार' के ही अतर्गत 'रीति' भी आ गई। हाँ, यह अवश्य है कि दोषाभाव, गुण एवं अलंकार'—जैसे तीन सौंदर्य-स्रोतों में से आपेक्षिक महत्त्व वे 'गुणात्मक'—अलंकार को ज्यादा देते हैं—क्योंकि वह काव्य का सहज सौंदर्यमूलक स्रोत है। काव्य होने के लिये 'गुणात्मक' अलंकार या 'गुण-समुदायात्मक रीति'—प्राथमिक अनिवार्यता है—सीमित अर्थवाला अलंकार काव्य का स्वरूपाधायक नहीं, बल्कि 'उत्कर्षाधायक धर्म' है। इस प्रकार वामन अपने वक्तव्यों में विरोधी नहीं हैं—और उनकी दृष्टि से गुण-समुदायात्मक रीति का व्यापक नहीं—पर सीमित अलकार से अंतर यह है कि पहला काव्य शोभा का—काव्य की ग्राह्यता के लिये अपेक्षित 'सौंदर्य' का प्राथमिक स्रोत है जब कि सीमित अर्थवाला अलकार इस स्रोत से उत्पादित सहज सौंदर्य का सवर्द्धक है। इस प्रकार वामन की दृष्टि से 'अलंकारात्मक' सौंदर्य का साधन है—गुणसमुदायात्मक रीति। व्यापक अर्थ में सौंदर्य-साधन अलंकार का एक भाग है—गुणसमुदायात्मक रीति। सीमित अर्थ में सौंदर्य साधन अलकार का अनुग्राहक है—गुणसमुदायात्मक रीति।

'लोचन' में इस बात का सकेत मिलता है कि वामन 'संघटना' या 'रीति' को 'गुणात्मक' ही मानते हैं—और कुछ आलंकारिक ऐसे हैं—जिन्हें दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक वे जो 'सघटना' या 'रीति' को 'गुण' का और दूसरे वे जो 'गुण' को संघटना या रीति का आधार मानते हैं। इनमें से पहला वर्ग 'उद्भट' या उनके अनुयायियों का कहा जाता है और दूसरा ध्वनि-कार आनंदवर्द्धन और उनके अनुयायियों का। मैं समझता हूँ कि वामन के लिए जो यह कहा जाता है कि वे गुण समुदाय एवं रीति को अभिन्न मानने वाले आचार्य हैं—यह औपचारिक या लाक्षणिक दृष्टि से ही कहा जा सकता

है। वस्तुतः वे भी 'पदरचना' रूप रीति या संघटना को 'गुण' का आश्रय ही मानते हैं—इस प्रकार उद्भट एव वामन की धारणाओं में कोई वास्तविक मतभेद नहीं है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि जहाँ वामन 'गुण' एव (सीमित अर्थ वाले) 'अलंकार' में अतर मानते हैं—वहाँ उद्भट 'प्रायशः' साम्य मानते हैं ('प्रकाश'कार ने ऐसा ही कहा है)—पर दूसरी ओर स्वय उद्भट की व्याख्या प्रतीहारेंदुराज गुण एवं अलंकार का वामन सम्मत अंतर ही स्वीकार करते हैं। हो सकता है कि उद्भट उन लोगों से अपना मतभेद प्रकट करते हुए 'गुण' एवं 'अलंकार'—को एक कहते हों—जो लोग 'अलंकार' को ऊपर से लादा हुआ और अनित्य धर्म मानते हैं और 'गुण' को शरीर—सहजात और नित्य धर्म माना हो। कुछ अंतर तो उद्भट भी मानते हैं—तभी उनके मत को रखते हुए काव्यप्रकाशकार ने कहा है——"प्रायशः साम्यमेव सूचितम्"—उद्भट ने गुण एवं अलंकार का "प्रायशः" साम्य ही स्वीकार किया है। यहाँ 'प्रायशः' शब्द ध्यान देने लायक है। "प्रायशः" का अभिप्राय यही हो सकता है कि वे किसी प्रकार 'गुण' एवं 'अलकार' का अंतर अवश्य स्वीकार करते है—वह यही हो सकता है कि लौकिक दृष्टि से गुण एवं अलंकार में सहज और आरोपित का तो अंतर नहीं है—क्योंकि दोनो ही उक्ति—सहजन्य है—पर यह अंतर हो तो हो—एक प्राथमिक शोभा का जनक है और दूसरा उसका सवर्द्धक। पर इन दोनों में महत्त्वपूर्ण कौन है—पहला या दूसरा ? उद्भट का इस विषय में क्या मत था—यह जानने का कोई स्रोत नहीं—यदि परम्परागत प्रसिद्धि के आधार पर यह मान लिया जाय कि वे अलंकारवादी थे (तभी "औद्भटाः"—'वामनीयाः" —जैसा पार्थक्य भी संगत होगा)—तब निस्संकोच कहा जा सकता है कि उद्भट 'अलंकार' को अधिक महत्त्व देते हैं। इस विवेचन के संदर्भ में में प्रमुख प्रश्न से थोड़ा इधर-उधर हो गया—कहना यही है कि वामन से उद्भट का अलंकार एवं रीति संबद्ध अंतर में कोई विशेष मतभेद नहीं लक्षित होता।

अब, उन लोगो का मत देखना है जो गुण को आश्रय एवं संघटना या रीति को आधेय मानते हैं—। इन लोगों के विषय में सबसे पहले ध्यान देने की बात यह है कि ये लोग ठीक उसी अर्थ में आधार एवं आधेय शब्द का प्रयोग नहीं करते। ये लोग आधार का अर्थ उपजीव्य और आधेय का अर्थ उपजीवक मानते हैं। दूसरी बात यह कि 'गुण' के स्वरूप में भी ये लोग उनसे भिन्न हैं। वे लोग 'गुण' को जहाँ शब्द एवं अर्थ के धर्म रूप में विवेचित करते थे—वहाँ ये ध्वनिवादी रस-धर्म के रूप में मानते हैं। अतः इन लोगों ने जब गुण को संघटना या रीति का आधार माना—तो उसका

मतलब यह ठहराया कि गुण के अनुसार ही रीति या संघटना का विधान होना चाहिए। यदि माधुर्य गुण है—तो उसके अनुसार असमासा–संघटना; यदि ओज गुण है—तो उसके अनुसार दीर्घसमासा–संघटना या रीति और सामान्यतः अल्पसमासा का भी विधान हो सकता है। इस प्रकार आधार, गुण, एवं रीति—तीनों शब्दो का अर्थ ध्वनिवादियों ने पूर्ववर्ती आचार्यों से बदल दिया। अब मुख्य प्रश्न इस पक्ष में यह खड़ा होता है कि इन लोगों के अनुसार '**अलंकार**' का **स्वरूप** क्या है और **गुण तथा अलंकार में अंतर** क्या है—अंतर के साथ-साथ **आपेक्षिक अंतरंगता** किसको है? उनके **नियोजन** की **प्रणाली** और आदर्श क्या है? उसके निर्माण की **अंतरंग** प्रक्रिया क्या है? उसकी **मूल-विशेषता** क्या है—आदि-आदि।

प्राक्तन आलकारिकों की अपेक्षा ध्वनिवादियों की काव्य-सौंदर्य के संबध में मूल दृष्टि ही बदल गई–अतः उस 'सौंदर्य' के निर्धारण के अनंतर ही उससे सबद्ध रूप में अलंकार का विवेचन संभव है। प्राक्तन अलकार एवं रीतिवादी आचार्य सौंदर्य का आश्रय 'शब्दार्थ' को मानते थे—उसे ही 'अलंकार्य' कहते थे— ध्वनिवादियो ने काव्य- आत्मा 'ध्वनि' या 'रसध्वनि' को काव्य की आत्मा कहा और बताया कि जिस प्रकार आत्मचेतना[1] शून्य शव को कितने ही अलकार पहनाए जाएँ—'सौंदर्य' नहीं आ सकता वही स्थिति काव्य की भी है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि 'सौदर्य' का संबध आत्मा (और आतरिक तत्त्व) से है—शरीर से नहीं–काव्यगत शब्द एवं अर्थ से नहीं। अलंकार अंग या शरीर पर धारण अवश्य किए जाते हैं—पर वे परंपरया आत्म-गत सौंदर्य के ही व्यंजक या प्रकाशक होते[2] है। निष्कर्ष यह कि अलंकार वे सौदर्य–प्रकाशक धर्म है—जो अंगाश्रित रहकर भी अंगी की शोभा बढ़ाते हैं। 'गुण' की स्थिति भिन्न है–वे अलंकारो की भाँति अंगाश्रित नहीं है—वरन् अंगी में ही हैं। सौंदर्य के स्रोत दोनों है—परतु अलंकार जहाँ अंग-गत हैं–'गुण' वहाँ अंगी-गत। दूसरा अंतर यह भी है कि कवियों के काव्यों का सूक्ष्म निरीक्षण करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुण एवं अंगी (रस) का जो सहज, उत्कर्षक और अविच्छेद्य सबंध है–वह अलंकार एवं 'अंगी' का नहीं है। कवियों की रचनाओं में कभी तो रसमयता होने पर भी अलकार नही दिखाई पडते। कभी अलंकार रहते हैं—पर

१—तथाहि अचेतन शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलकार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति–अलंकार्यस्यानौचित्यात्–लोचन। २–"ध्वन्यात्मैवालंकार्यः"–वही

कवि की प्रतिभा का संरंभ रस-निष्पत्ति पर रंच मात्र लक्षित नहीं होता। कभी ऐसा भी दिखाई पड़ता है कि अलंकार हैं—पर रसनिष्पत्ति योग नहीं दे रहे हैं—और कभी-कभी तो बेढंगे प्रयुक्त होकर बिगड़ भी जाते हैं—अंगी की निष्पत्ति में अपकर्ष या वाधा पैदा करते हैं। 'गुण' के साथ यह बात कभी नहीं संभव है। वे तो भिन्न-भिन्न रसों की प्रकृति हैं—स्वाभाविक वैशिष्ट्य हैं—रस के साथ उनका नियत संबंध है और वे सदा उत्कर्षक ही होते हैं। आचार्यगण मानते हैं कि शृंगार, करुण एवं शांत की प्रतीति-वेला में हृदय 'द्रुत' सा हो जाता है, वीर, वीभत्स एव रौद्र में वह 'दीप्त' सा हो जाता है और कभी-कभी ऐसा लगता है—जैसे कुछ विकसित' सा हो गया हो। शृंगार, करुण एवं शांति में अवश्य कोई एक ऐसी विशेषता है जो 'द्रुति' पैदा करती है—वही विशेषता माधुर्य नाम से कही जाती है। वीर-वीभत्स एवं रौद्र में अवश्य कोई ऐसी विशेषता है—जो ज्वलनकारी प्रभाव पैदा करती है—वही 'ओज' है। ये प्रभाव जिस रसगत विशेषता के कारण नितांत शीघ्र प्रस्फुटित होते हैं—वही 'प्रसाद' है। इस प्रकार गुण 'रस' के सहज धर्म हैं—अलंकार वैसे नहीं। 'गुण' साक्षात् रस-निष्ठ हैं और उसकी उत्कृष्ट अभिव्यक्ति में सहायक हैं—अलंकार परंपरया रस से संबद्ध हैं और नियमतः रसोत्कर्षक नहीं है। यहीं यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस दृष्टि से गुण अलंकार की अपेक्षा सर्वथा अंतरंग हैं। अलंकारों में भी अर्थालंकार शब्दालंकार की अपेक्षा अधिक अंतरंग हैं। इसी आपेक्षिक अंतरंगता को ध्यान में रखकर कुछ लोग अलकार मात्र की उपेक्षा करते हैं—कुछ शब्दालंकार की उपेक्षा करते हैं। अस्तु।

ऊपर यह कहा गया है कि अलंकार कभी-कभी अलंकार्य के—अंगी के अनुरूप नहीं भी होते हैं—यहाँ एक सैद्धांतिक प्रश्न खड़ा होता है कि क्या उन्हें भी अलंकार कहना चाहिए जो अलंकार्य के अनुरूप न हों—अलंकरण-सौंदर्य प्रसाधक न हों—सौंदर्य में योग न देते हों ? ध्वन्यालोककार ने इस दृष्टि से विवेचन किया है—उन्होंने वताया है कि अलंकार तो वे ही हैं—जो अलंकार्य के अनुरूप हों। वस्तुतः अन्वर्थता तो वहीं है—जहाँ अलंकार शोभा-साधक हों—अन्यथा केवल वे नाममात्र के अलकार हैं—अर्थतः नहीं। आनंदवर्द्धन ने 'अलंकार' के वास्तविक स्वरूप पर दो दृष्टियों से विचार किया है—एक तो उन कवियों की दृष्टि से—जो सहज प्रतिभा सम्पन्न रसावेशी हैं और दूसरे उन कवियों की दृष्टि से जो 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' वश काव्योचित प्रतिभा अर्जित कर सके हैं। पहले प्रकार के कवियों की दृष्टि

से सोचते-विचारते हुए उन्होंने यह कहा है कि रसावेशी कवियों की रसैकतान-प्रतिभा के रसानुरूप सामग्री-नियोजन के वेग में अलंकार उड़ते-उधराते स्वयं चले आते है—उनके लिए उसे पृथक्-प्रयास नहीं करना पड़ता—वे अनायास आ जाते है-ये ही अपृथक्-यत्न-निर्वत्य अलंकार, अलंकार हैं—यही 'अलकार' का स्वरूप है कि वे अपृथक् प्रयास सिद्ध हों। बात भी ठीक जान पड़ती है। कारण, रस के लिए विभावादि रूप अर्थ अपेक्षित है-वे 'अर्थ' जितने ही सुंदर हों—उतने ही रस-निष्पादक होंगे। रसैकतान प्रतिभा की यही सार्थकता और सफलता है कि वे 'सुंदर-अर्थ' ही मूलतः नियोजित करे—'अर्थ' में सौदर्य-साधन न जोड़े—[बल्कि जुटे हुए सौदर्य साधन के रूप में अर्थों की स्फुरणा करे]। इसी तथ्य को वक्रोक्तिजीवितकार कुंतक ने भी कहा है—अलंकृतस्यैव काव्यत्वम्—न तु काव्यस्यालकारः—अलकृत ही शब्दार्थ कवि-प्रतिभा वश उद्भूत हो—शब्दार्थ में अलग से अलंकारो की योजना न की जाय। कुंतक तो यहाँ तक कहते है कि अलंकार एव अलकार्य-जैसा कोई भेद ही काव्य मे नहीं है—वह अखड है—पर समझाने के लिए उन्हे अलग-अलग मान लिया गया है। यही बात अभिनवगुप्त ने भी अभिनव भारती में कही है कि ग्रहण एवं निर्माण किसी भी दृष्टि से काव्य अखड एक सत्ता है—उसमें कोई खंड और अवयव नही है—अवयव जैसे भेदो की कल्पना तो महज विवेचन—विश्लेषण की सुकरता के लिए कल्पित कर ली गई है। अलंकार के स्वरूप का यह आदर्श रूप है।

ध्वन्यालोक एक शिक्षा-ग्रंथ है—उसमें इसीलिए यह भी बताया गया है कि जो रसावेशी कवि नहीं है—उनकी दृष्टि से अलंकार कब और कैसे 'अलंकार' हो सकते है? अर्थात् इसी दृष्टि से अलंकार—नियोजन की उचित प्रक्रिया भी बता दी है। उन्होंने बताया कि यदि सहज रूप से अलंकार नियोजना की क्षमता किसी कवि में नहीं है—तो वह सोच विचार पूर्वक अलंकार नियोजित कर सकता है। सोच विचार पूर्वक अलकार-नियोजन का मतलब यह है कि मुख्य अर्थ के अनुरूप अलंकारों का नियोजन हो। अनुरूप नियोजन के कुछ नियम यों हैं—(१) प्रमुख अर्थ या प्रतिपाद्य अर्थ के उत्कर्षक रूप में अलंकार योजना होनी चाहिए (२) कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अलंकार नियोजित तो हुआ प्रतिपाद्य अर्थ की दृष्टि से ही—परन्तु अनजाने वह इस रूप को भी प्राप्त कर लेता जैसे वही प्रमुख हो गया हो—उसी का चमत्कार प्रधान गया हो—तो सजग और सतर्क कवि को बाद में देख लेना चाहिए कि कहीं प्रतिपाद्य की अपेक्षा उसी की स्थिति तो महत्त्वपूर्ण नहीं हो गई है?

और यदि ऐसा हो तो बदल देना चाहिए। (३) तीसरा नियम यह है कि अवसर देखकर अवसरोचित अलंकार का ग्रहण होना चाहिए। (४) इसी के साथ चौथा नियम यह है कि किसी पूर्वतः गृहीत अलकार के निर्वाह का प्रयास अवसर की उपेक्षा करके नहीं करना चाहिए–आवश्यक हो–तो पूर्वगृहीत अलंकार का बीच ही में त्याग भी कर देना चाहिए (५) अलंकार के सांगोपांग निर्वाह का आग्रह तो कभी न दिखावे (६) और ये सब विषय अच्छी तरह निबह गए हों–तो भी ध्यान से देख लेना चाहिए कि ये अंग-रूप में ही नियोजित तो हैं? कहने का मतलब यह है कि इन नियमों के अनुरूप यदि अलंकार नियोजित हो पाए है–तभी वे अलंकार हैं, अन्यथा वे 'अलंकार' ही नहीं है–और चाहे जो हों!

इसी प्रसंग में ध्वन्यालोककार एक महत्त्वपूर्ण विचार और भी प्रस्तुत करते हैं–वह यह कि अर्थालंकार एवं शब्दालंकार में आपेक्षिक अंतरंगता और महत्ता किसकी है? वस्तुतः यह प्रश्न काफी पुराना है–और इस पर भामह से भी पूर्ववर्ती आलंकारिकों ने विचार किया था। तभी भामह का कहना है कि कुछ एक आलंकारिक शब्दालंकार को ही अलंकार मानते हैं और कुछ केवल अर्थालंकार को ही। दोनों के अपने-अपने तर्क हैं। केवल शब्दालंकार को ही अंतरंग और महत्त्वपूर्ण माननेवाले यह कहते हैं कि श्रोता काव्य के प्रति सबसे पहले उसके शब्द-सौंदर्य से ही आकृष्ट होता है–फिर अर्थ प्रतीति के अनंतर आस्वाद-लाभ करता है। अर्थालंका का ज्ञान तो उनके लक्षण–ज्ञान के अधीन है–वह आस्वाद–परवर्ती है–फलतः उसे बहिरंग मानना चाहिए और शब्दालंकार को अंतरंग मानना चाहिए। दूसरे आलंकारिकों का कहना है कि रस या आस्वाद का संबंध है–विभावादि से और विभावादि हैं–अर्थ रूप। अर्थरूप विभावादि उतनी ही उत्कृष्ट आस्वाद प्रतीति करा सकते हैं–जितने ही अर्थालंकार सम्पन्न हों—अलंकृत और सुंदर हों–इस प्रकार आस्वाद की इस प्रक्रिया में अर्थालंकार ही अंतरंग हैं–शब्दालंकार नहीं। पर भामह का अपना मत यह है–'इष्ट' द्वयं तु नः"—उन्हें दोनों ही प्रकार के अलंकार अभीष्ट हैं।

आनंदवर्द्धन ने भी इस दिशा में विचार किया है। उनका भी यही मत है कि अर्थालंकार निश्चय ही शब्दालंकार की अपेक्षा अंतरंग एवं रसोपयोगी हैं। सहज या अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य कोई भी अलंकार प्रशस्त अलंकार हो सकता है–पर अर्थालंकार जहाँ विभावादि को सुंदर बनाते हुए साक्षात् रसोपयोगी हो सकते हैं–वहाँ शब्दालंकार के संबंध में यह बात नहीं है। अनुप्रास तो कथंचित् आपेक्षिक

सहजता से बन भी सकते हैं—पर यमक आदि का सहज बनना कठिन है और निर्माण की दृष्टि से सहज ही निष्पन्न भी हो जाय-तब भी 'ग्रहण' की प्रक्रिया में व्याघात पैदा कर सकता है। अतः आनंद का मत है कि 'शक्ति' होने पर भी कवि को चाहिए कि वह यमक आदि शब्दालंकारों के नियोजन में प्रमाद न दिखावे। खासकर मधुरतर रसों में तो कभी भी ऐसे अलंकारों का प्रयोग नहीं ही होना चाहिए।

आनंदवर्द्धन ने तो यह भी कहा है कि यदि एक ओर अलंकार अलंकार्य का उपकारक न होने पर जहाँ अलंकार भी नहीं हो पाते-वहीं दूसरी ओर यदि वे ध्वनित हैं—तो 'अलंकार्य भी हो जाते हैं।

अलंकार से संबद्ध और भी अनेक पक्ष हैं–जिनपर संस्कृत के आलंकारिकों ने विचार किया है। उदाहरणार्थ, अलंकार निर्माण की आंतर प्रक्रिया क्या है? अलंकार—निष्पत्ति का मूल आधार क्या है—उसके प्रभेद और वर्गीकरण 'कैसे किये जा सकते हैं? इन प्रश्नों पर पौरस्त्य विद्वानों ने विचार किये हैं। अलंकार निर्माण की आंतर प्रक्रिया का विचार अलंकारवादी एवं रसवादी दोनो ने किया है। पहले की दृष्टि चमत्कार-निष्पत्ति पर थी और दूसरे की रस-निष्पत्ति पर। काव्य का मूल व्यापार 'प्रतिभा' एक ओर समस्त काव्य-योजना में संलग्न रहती है—दूसरी ओर वह अलंकार—योजना में भी क्रियाशील रहती है। रसवादी आचार्य मानते है कि रसोचित सामग्री की नियोजना में ही प्रतिभा क्रियाशील रहती है—उसी व्यापार से अनायास अलंकार भी निष्पन्न हो जाते हैं—उसके लिये प्रतिभा को पृथक् प्रयास नहीं करना पड़ता। रसावेश में वे अर्थों के साथ सहज सबद्ध स्फुरित होने लगते हैं।

अलंकारों का मूल आधार क्या है—इस पर भामह से ही—या हो सकता है—उनसे भी पूर्व से विचार होता आ रहा था। भामह ने समस्त अलंकारो के मूल में 'वक्रता' का नाम लिया है—इस 'वक्रता' को सभी ने अलंकार का मूल माना है। व्याख्या भले कुछ का कुछ देते चलें। भामह मानते ही है कि 'वक्रता' वह साधन है—जिससे अर्थो का 'विभावन' होता है—लोकोत्तरीकरण होता है। काव्योचित सुंदरीकरण होता है। निष्कर्ष यह कि 'वक्रता' वह साधन है जिसके संस्पर्श से लोक के सामान्य अर्थ काव्योचित रूप धारण कर लेते हैं। पर क्या यदि 'वक्रता' का योग न हो तो कोई अर्थ काव्योचित हो ही नही सकता? निस्संदेह भामह तो यही मानेंगे। आलंकारिक या अलंकारवादी 'वक्रता' हीन अर्थ को 'वार्ता' कहते है—जो अकाव्यात्मक होता है। यहाँ दूसरा प्रश्न यह भी है कि 'अतिशयोक्ति' एवं वक्रता–पर्याय है या

भिन्नार्थक ? भामह क्या मानते हैं ? कुछ विद्वानों का विचार है कि 'अतिशयोक्ति' एव 'वक्रोक्ति'—में भामह अंतर मानते हैं। कारण, 'अतिशयोक्ति' में बात बढ़ाचढ़ा कर कही जाती है और 'वक्रोक्ति' में घुमा फिराकर—बात तो अच्छी जान पड़ती है—पर भामह क्या यही कहते है ? भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने भामह का अभिप्राय अलग-अलग बताया है। काव्यप्रकाश के टीकाकार वामन का मत है कि वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति—पर्याय हैं, कारण यह है कि भामह ने स्वयं कहा है 'सैषा (अतिशयोक्तिः) सर्वत्र वक्रोक्तिः······" यह अतिशयोक्ति 'वक्रोक्ति' ही है इसके बिना कौन 'अलंकार' हो सकता है ? अभिनवगुप्त ने जब इसी भामह की उक्ति की व्याख्या की—तो उन्होंने आनंदवर्द्धन के साथ यह माना कि अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति भिन्न हैं—उन्हें लाक्षणिक दृष्टि से अभिन्न कहा गया है। वस्तुतः 'वक्रोक्ति' और 'अलंकार'—पर्याय हैं। 'अतिशय' या 'लोकत्तरता'—अलंकार सामान्य या वक्रोक्ति का मूल है। ठीक है—वक्र उक्ति और अतिशय-भिन्न हों। पर उक्तिगत 'वक्रता' और 'अतिशय' तो एक हैं, अर्थात् वक्रता और अतिशय पर्याय हो सकते हैं। लोचनकार स्वयं मानते हैं—शब्दस्यार्थस्य च वक्रता लोकोत्तरेण रूपेणावस्थानम्—शब्दार्थगत वक्रता और कुछ नहीं—प्रत्युत उनकी लोकोत्तर स्थिति ही है—काव्योचित स्थिति है। यह वक्रता या 'अतिशय' ही है जिसके कारण सामान्य उक्ति काव्यात्मक रूप धारण कर लेती है। निष्कर्ष यह कि 'लोकोत्तरता' 'वक्रता' एवं 'अतिशय' परस्पर पर्याय है।

दण्डी ने भी कहा है—'विशेष की लोक सीमातिवर्तिनी विवक्षा ही अतिशयोक्ति है"—अर्थात् प्रस्तुत वर्ण्य वस्तु का लोकसीमोल्लंघिनी कहने की इच्छा ही अतिशयोक्ति है—काव्य-वर्णना में लौकिक वस्तु को लोकोत्तरता प्रदान करने की इच्छा ही अतिशयोक्ति है। अथवा वर्ण्यवस्तु को लोकोत्तरता प्रदान करने के लिए विशेष काव्योचित भङ्गी का सहारा लेकर प्रतिपादन ही अतिशयोक्ति है। अग्निपुराण में भी कहा है—'लोक-सीमातिवृत्तस्य वस्तु-धर्मस्य कीर्त्तनम्। भवेदतिशयो नाम संभवोऽसंभवो द्विधा"—अर्थात् प्रस्तुत वस्तु के उस धर्म का वर्णन करना 'अतिशय' है—जो लोकसीमा के परे हो—लोकोत्तर हो। यह वर्ण्यमान लोकोत्तर धर्म दो प्रकार का होता है—संभव और असंभव। 'संभव' वह है—या उतना है जितना बाह्य संसार में भी दृष्टिगोचर हो और 'असंभव' वह है—जो केवल कवि की कल्पना में ही हो। अतिशय का अर्थ है—उत्कर्ष—प्रस्तुत वस्तु का धर्मगत अत्यधिक उत्कर्ष। इसी उत्कर्ष की उक्ति—अतिशयोक्ति है। महिमभट्ट ने भी कहा है—काव्यगत

अर्थ को जब घटा बढ़ाकर न कहा जाय—तब तक वे आस्वादकर ही नहीं होते और घटा-बढ़ाकर कहना ही भंगी-भणिति या अलंकार है। इस प्रकार अतिशय या वक्रता—अलंकारमात्र का उपजीव्य है। यही 'अतिशय' ही 'वैचित्र्य' है जिसके कारण अलंकारता का प्रयोग होता है।

इस प्रसंग में ऊपर जो अग्निपुराणकार का मत प्रस्तुत किया गया है—वह थोड़ा और उत्तेजक है। उत्तेजक इसलिये है कि यदि 'अतिशय' लोकोत्तरता है—तो उसके दो भेद-संभव किस प्रकार हो सकेंगे? कदाचित् इसीलिए अग्निपुराणकार ने 'अतिशय'—का अभिप्रेतार्थ 'अत्यधिक उत्कर्ष' किया हो। 'अत्यधिक' उत्कर्ष'—कदाचित् 'संभव' भी हो सकता है कदाचित् 'असंभव' भी। अस्तु।

निष्कर्ष यही है कि इन लोगों ने 'अतिशय' 'लोकोत्तरता' 'वैचित्र्य' 'वक्रता' एवं 'अत्यधिक उत्कर्ष'—का प्रयोग प्रायः पर्याप्त रूप मे किया है, इन्हे ही अलंकार का मूल माना है। इन लोगों ने अलकार के ही कारण 'काव्यत्व' स्वीकार किया है। अर्थात् इन लोगों के मत से 'अतिशय' या 'वक्रता'—अलकार का ही नहीं—काव्यत्व का भी मूल है। इन लोगों के अनुसार काव्य में 'सौदर्य' की अभिव्यक्ति के लिये 'वैचित्र्य' का निवेक आवश्यक है। 'वैचित्र्य' के लिये अतिशय या लोकोत्तरता की कल्पना का सस्पर्श आवश्यक है। परवर्ती आलंकारिकों में से पण्डितराज ने भी एक जगह यह कहा है कि अलकार वही होगा—जहाँ 'चमत्कार' का अनुभव हो, 'चमत्कार' वही होगा जहाँ कुछ न कुछ कल्पित या असत्य या असंभव का संस्पर्श हो—तत्प्रयुक्त 'वैचित्र्य' हो। पर पंडितराज ऐसी बात केवल 'अलकार' के लिये—अलकार के प्रसग में कहते हैं—जब कि अलकारवादी 'अलंकार' के साथ-साथ समस्त काव्य के लिये यह आवश्यक मानते है।

इस प्रसंग में यह एक प्रश्न ही खड़ा किया जा सकता है कि क्या काव्य के लिए 'वैचित्र्य'—अनिवार्य है—अलकार अनिवार्य है? लोकोत्तर या असंभव धर्म का कल्पनाजनित संस्पर्श आवश्यक है? यदि संभव वस्तुओं की ही रसानुरूप योजना हो—तो काव्यत्व का उन्मेष नही हो सकता? क्या संभव और लोकसीमानतिवर्ती संभव धर्मों का काव्य से सर्वथा वहिष्कार कर दिया जाय? अलंकारवादी या तदनुरूप मानस संघटनवाला व्यक्ति तो बहुत कुछ यही कहेगा—पर रसवादी या रसीली उक्तियों में काव्यत्व का दर्शन करनेवाला तार्किक कहेगा तब 'स्वभावोक्ति' का क्या होगा? अलकारवादी इसे अकाव्या-

त्मक कह देगा या तो इसके मूल में भी 'वक्रता' की सत्ता मानेगा। दण्डी और भामह यही तो कहते हैं। पर जब रसीली उक्ति का समर्थक यह कहेगा–

"रानी ! मसवा न सिझहिं रसोइयाँ खलरिया हमें देतिउ।
पेडवा से टँगतिउँ खलरिया त हेरि-फेरि देखितिउँ
रानी देखि-देखि मन समुझाइत जनुक हरिना जीतइ"

कि इस उक्ति में काव्यत्व है या नहीं ? और यदि है तो यहाँ क्या लोकोत्तरता है कौन-सा असभव धर्म है? कौन सा अलकार है? पर कौन अरसिक होगा जो 'करुण' की धारासार वृष्टि करनेवाले इस पद में काव्यत्व न मानेगा ? संभवतः ये ही कुछ प्रश्न थे–जिसके कारण कुंतक को 'वक्रता' की और विस्तृत व्याख्या देनी पड़ी। 'वक्रता' या 'लोकोत्तरता' की सीमा बढ़ानी पड़ी। कुतक की दृष्टि से 'वक्रता' इस पद में भी है—रसवादी भी यहाँ 'लोकोत्तरता' मानेंगे। कुंतक 'लोकोत्तराह्लादकारी वैचित्र्य' की सिद्धि 'वक्रता' से ही स्वीकार करेंगे– पर उनकी 'वक्रता' केवल 'वाक्य-वक्रता' या 'वर्णवक्रता' के अंदर सिमट रहनेवाले 'अलंकार' का ही मूल नहीं है—वह समस्त काव्यवर्ती मूल व्यापार है—जिसके कारण काव्य का सब कुछ अपनी लौकिक प्रकृति त्यागकर 'लोकोत्तर' हो जाते है और लोकोत्तर आह्लाद के कारण बन जाते हैं। अलंकारवादी 'आलकारिक प्रयोगों' में ही कल्पित धर्म के संस्पर्श से 'लोकोत्तरता' देखेंगे, जब कि रसवादी अलकारहीन रसमयी उक्तियों में भी काव्यव्यापार वश अपनी 'लौकिक प्रकृति छोड़कर लोकोत्तराह्लादकरी होने के कारण लोकोत्तर विभावादि रूप में परिणत पदार्थों के कारण 'लोकोत्तरता' का दर्शन करेंगे। ध्वनिवाद के बाद आनेवाले कुंतक दोनों प्रकार की लोकोत्तरता की अपनी कुक्षि में रखनेवाली विशाल 'वक्रता' की कल्पना की और उसे ही काव्य का जीवित कहा। इसी व्यापक दृष्टि से स्वभावोक्ति में भी 'वक्रता' रह सकती है—बशर्ते कि वह चामत्कारिक हो। महिम ने तो कहा ही है कि जब काव्य में कवि की कल्पना वस्तु का प्रत्यक्षायमाण रूप प्रस्तुत करदे– तभी चमत्कार होता है और इस चमत्कार का मूल स्वभावोक्ति ही है– उसे अलकार ही कहना होगा। वस्तु का प्रत्यक्षायमाण रूप वह है–जिसमें उसकी अशेष विशेषताएँ अपनी सूक्ष्मताएँ और समग्रता में उभड़ कर आ गई हों। उन्होंने कवि की उस 'कल्पना' को शिव के तृतीय नेत्र से तुलना की है—जो काव्य में वर्ण्यमान वस्तु के प्रत्यक्षायमाण रूप का दर्शन कर उसे शब्दो द्वारा प्रस्तुत करती है।

इस प्रकार 'वक्रता' की जो यह लम्बी चर्चा की गई–उस संदर्भ में

अलंकारवादियों ने 'वक्रता' के उसी सीमित रूप को अलंकार का मूल माना है—जो रूप-योजना तक प्रस्तुत है और लोकसीमोल्लंघिनी विशेषता को अर्थ में डाल देती है।

ऊपर मैंने 'वक्रता' का दो अर्थों में प्रयोग समर्थित किया है—एक अलंकारवादियों की 'वक्रता'–जो 'अलंकार' भाव का मूल है, दूसरी वक्रोक्ति-वादियो की 'वक्रता'—जो समस्त काव्य के मूल में विद्यमान है। काव्य के मूल रूप में 'वक्रता' अलंकारवादी भी मानते हैं–पर उनका जोर आलंकारिक वैचित्र्य पर ज्यादा है—उसी तरह की 'उक्ति' को वे काव्य मानने के पक्ष में अधिक हैं। यद्यपि 'रस' को वे भी अलंकार के अंतर्गत स्वीकार करते हैं—पर उसे वाच्योपकारक रूप में रुय्यक के अनुसार मानते है। वाच्यार्थगत या शरीरगत सौंदर्य के साधन रूप में वे लोग 'रस' को रखते है। हाँ, भामह की अपेक्षा दण्डी में रस के प्रति अवश्य कुछ अधिक झुकाव है—पर 'रसवदलंकार' से ऊपर 'रस' को ये भी नहीं उठा सके। कुंतक की 'वक्रता' जिस 'लोकोत्तरता' के उन्मेष का साधन है—वह लोकसीमातिवर्ती अलंकारोपयोगो कल्पित धर्मों के रूप में तो है ही, रसानुरूप नियोजित पदार्थों की लोकोत्तर प्रकृति के रूप में भी है। लोक सीमातिवर्ती तत्त्व बढ़ा चढ़ा कर कहे हुए असभव या कल्पित धर्म तो हैं ही, विभावादि के रूप नियोजित पदार्थों की लौकिक प्रकृति के अतिक्रमण रूप में भी हैं। दोनों की 'वक्रता' रसानुगामी ही है—इस प्रकार का वक्तव्य अधिक सूक्ष्म भेद का उद्‌घाटक तो नहीं ही है। वस्तुतः संसार का सारा झमेला शब्दों के संस्पर्श से है–अर्थ अपनी जगह ज्यों के त्यों हैं—जिसे कोई शब्दांतर से कह ले–पर रूपांतरित नहीं कर सकता। आगमिकों की यह स्थापना ससार का मूल शब्द-जाल ही है—बहुत ठीक है।

रहा दूसरा प्रश्न कि अलंकार निर्माण की आंतर प्रक्रिया क्या है—तो इसका उत्तर यही है कि काव्य का प्रतिभा जैसा आंतर व्यापार सहज कवियों में तो रसानुकूल गतिशील होकर अनुकूल अपृथक् यत्नसंपाद्य सुंदर शब्द–योजना और रूप योजना करता जाता है और आभ्यासिक कवि नियमानुरूप प्रयासपूर्वक शब्दार्थ की सुंदर योजना करता है।

आलंकारिकों ने अलंकार के भेद पक्ष से भी विचार किया है। पहले तो अलंकर के दो भेद किये गये है—शब्दालंकार एवं अर्थालंकार। इस वर्गीकरण के आधार के विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है—रुय्यक वर्गीकरण का आधार यदि **आश्रयाश्रयिभाव** मानते हैं तो प्रकाशकार

मम्मट अन्वयव्यतिरेक। रुय्यक का अभिप्राय यह है कि जो अलंकार शब्दाश्रित हों—वे शब्दगत और जो अर्थाश्रित हों—वे अर्थगत। मम्मट का इस विरोध में कहना यह है कि जो अलंकार पर्याय परिवृत्ति को सहन कर सके वह अर्थगत और जो न सहन कर सके—वह शब्द-गत है। पंडितराज ने भी शब्दश्लेष और अर्थश्लेष के प्रसंग में यही कहा है कि वस्तुतः कौन सा धर्म किस आधार में माना जाय—इसका निर्णायक अन्वयव्यतिरेक नहीं होता। अन्वयव्यतिरेक आधाराधेय भाव का नहीं, प्रत्युत कार्यकारण भाव का निर्णायक होता है—तब भी प्रकाशकार के पक्ष से यह कहा जा सकता है कि शब्द एवं अर्थ में से विशेष प्रकार के आलंकारिक चमत्कार में कौन कारण है—इसका निर्णय तो अन्वय व्यतिरेक पूर्वक माना ही जा सकता है। हाँ, जो कुछ लोग यह कहते हैं कि आलंकारिक चमत्कार अपनी प्रतीति के लिए जिसका मुखापेक्षी हो—उसके आधार पर—या उसके नाम पर अलंकार का व्यवहृत करना ठीक है—उसका कहना तो सर्वथा अनुपयुक्त है। यदि ऐसा माना जाय—तो किसी भी प्रकार का श्लेष शब्द-गत नहीं हो सकता। कारण, श्लेष में तो दो-अर्थों के संश्लेष का चमत्कार है—इसका पता अर्थज्ञान पर ही निर्भर है। निष्कर्ष यह कि इनका चमत्कार अर्थ मुखापेक्षी है—तो क्या हर तरह के श्लेष को अर्थालंकार ही माना जाय? कदापि नहीं। अतः वस्तुतः प्रकाशकार मम्मट का ही पथ मान्य है। इसी अन्वयव्यतिरेक का सहारा अलंकार के वर्गीकरण में लेना चाहिए—अर्थात् जिस प्रकार के आलंकारिक चमत्कार का अस्तित्व शब्द एवं अर्थ—में से किसी एक पर निर्भर हो—उसी के द्वारा उस अलंकार का व्यवहार सर्वथा युक्तिसंगत है। **शब्दालंकार** एवं **अर्थालंकार** के अतिरिक्त एक **उभयालंकार** भी माना जाता है—पर उभयालंकार किसे माना जाय—संकर और संसृष्टि को—जहाँ दो से कम अलंकारों का अस्तित्व नहीं है या पुनरुक्तवदाभास-श्लेषमूलक उपमा, रूपक आदि को—जहाँ का आलंकारिक चमत्कार अंशतः शब्द और अंशतः अर्थ पर निर्भर है? कुछ लोग संकर एवं संसृष्टि को ही उभयालंकार मानते हैं और कहते हैं कि यद्यपि यहाँ उभय ही नहीं—उभय या दो से ज्यादा अलंकार समकक्ष रहकर चमत्कार-जनक होते हैं—तथापि 'उभय' से मतलब यह है कि वहाँ उभय या दो का तात्पर्य दो से कम अलंकारों के होने में नहीं है—अधिक हों—तो हों। अतः संकर-संसृष्टि ही उभयालंकार हैं। पुनरुक्तवदाभास या श्लिष्ट उपमा तथा रूपक को उभयालंकार कहने के लिए पहले यह आवश्यक हो कि वहाँ

एकाधिक समकक्ष अलंकार हों—पर समकक्ष एकाधिक अलंकार जहाँ होंगे—वहीं तो संकर या संसृष्टि हो जायगा—क्योंकि यदि एकाधिक अलंकार परस्पर—सापेक्ष रहकर समकोटि का चमत्कार उत्पन्न करें—तो 'संकर' और परस्पर—निरपेक्ष रहकर समकोटि का चमत्कार उत्पन्न करें—तो 'संसृष्टि' कहा जाता है। निष्कर्ष यह कि अनेक अलकारों का एकत्र सद्भाव होने पर भी उनकी दो स्थितियाँ संभव हैं—एक तो यह कि उनमें से एक ही प्रधान हो—और शेष अग अथवा सभी समकक्ष। पहली स्थिति में तो उभयालंकार का सवाल ही नहीं है—कारण, वहाँ प्रधान तो एक ही अलंकार है—अनेक नहीं—ताकि उभयालंकार का व्यवहार हो। अतः दूसरी स्थिति को ही उभयालंकार कहा जा सकता है और वह संकर या संसृष्टि ही हो सकता है।

इसके अतिरिक्त शब्दालकार एवं अर्थालंकार में से पूर्ववर्ती को भोजराज वाह्यालंकार, परवर्ती को 'आभ्यंतर' अलंकार और कुछ एक को वे वाह्याभ्यंतर अलकार कहते हैं—इन्हें समझाते हुए भोजराज विभिन्न दृष्टांत दिये हैं। उन्होंने वाह्य अलंकारों को वस्त्र, माल्य एवं विभूषण से उपमित किया है। आभ्यंतर अलंकारों को दंतपरिकर्म, नखच्छेद एवं अलककल्पना से तुलित किया है। इसी प्रकार वाह्याभ्यंतर की तुलना स्नान, धूपविलेपन से की है। स्पष्ट ही वाह्यवर्ग के अलंकार आपेक्षिक दृष्टि से बहिरंग है। आभ्यंतर अलंकार शरीर से जुटे हुए नहीं—वल्कि शरीरगत हैं। वाह्याभ्यंतर वालो में वाह्य धूपविलेपन को केश-गत कर लेने का प्रयास है।

आनंदवर्द्धन की व्याख्या करते हुए एक जगह अभिनवगुप्त ने सुश्लिष्ट नियोजित अलंकार की तुलना 'कुंकुमपीतिका' से की है और अंततः उसे शरीर से भिन्न ही बतलाया है [सुकविः विदग्धपुरन्ध्रीवत् भूषणं यद्यपि सुश्लिष्टं योजयति तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसंपाद्या, कुंकुमपीतिकाया इव]। इस प्रकार अलंकार की तुलना केवल कटक, कुंडल से ही नहीं, प्रत्युत अन्य सौंदर्य—प्रसाधनों भी की गई है।

वाह्य या आभ्यतर अथवा शब्द एवं अर्थगत अलंकारों के प्रसंग में 'रसवदलंकार' को कहाँ रखा जाय—उसकी स्थिति कैसी मानी—जाय यह भी आलंकारिकों के समक्ष एक समस्या रही है। यही कारण है कि उस पर अनेक प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं। ध्वनिवाद से पूर्व यह माना जाता था कि किसी भी रूप में जहाँ रस वाच्यार्थ का सौंदर्य वर्द्धन करता है—वहाँ रसवदलंकार और जहाँ रसेतर अलंकार वाच्यार्थ या शारीर सौंदर्य की वृद्धि करता हो—वहाँ अन्य प्रकार के अलंकार होते हैं—पर आनंदवर्द्धन ने इस वर्गीकरण का विरोध करते हुए माना है कि जहाँ प्रधान रूप में रस की स्थिति हो—वहाँ

रसध्वनि, जहाँ व्यक्त रहकर भी अप्रधान रूप से रस अन्य अर्थ का अंग हो—वहाँ रसवदलंकार तथा जहाँ रस की अव्यक्त या अव्यक्ततर स्थिति हो और सारा सौंदर्य या चमत्कार अन्य अभिधेय या अभिधान के आश्रित अलंकारों का हो—वहाँ अन्य प्रकार के अलकार।

आनंदवर्द्धन की इस स्थापना के विरोध में भी दो प्रकार की विचार-धाराएँ लक्षित होती हैं—एक धारा तो 'रसवदलकार' को अलंकार ही नहीं मानती और दूसरी (कुंतक) उसकी व्याख्या ही बदल देती है। रसवदलंकार को कुछ लोग अलंकार इसलिये नहीं स्वीकार करते कि 'अलकार' की परिभाषा ही उस पर लागू नहीं होती। परिभाषा है—जो अंग द्वारा अंगी का सौंदर्य बढ़ावे—वह अलंकार। रस साक्षात् सौंदर्यवर्द्धक है—अंग द्वारा नहीं—यही कारण है—कुछ लोग उसे अलंकार नहीं मानते। साहित्यदर्पणकार ने इस विषय के पक्ष और विपक्ष में कुल चार मत एकत्र किये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) अलकार वे हैं जो वाच्य एवं वाचक को अलंकृत करते हुए रस आदि प्रधानीभूत अर्थ के उपकारक हों—रस तो स्वयं ही वाच्य एवं वाचक के उपकार्य हैं। अतः वे अलंकार कैसे कहे जा सकते हैं?

(२) दूसरे लोगों का विचार है कि वस्तुतः तो रसवदलंकार अलंकार नहीं ही हैं—पर यदि रस किसी अन्य अर्थ को सुदर बना रहा है—सुदर बनाने में साधन हो रहा है—तो उसे महज इसलिए कि परपरा अलंकार रूप में मानती है—हम भी सौंदर्य का साधन होने से लाक्षणिक रूप में साधन मान सकते हैं।

(३) तीसरे लोगों का यह मत है कि वस्तुतः रसादि पदार्थों का उपकारक ही मुख्यतः अलंकार कहा जाना चाहिए—वाच्य—वाचक की शोभावर्द्धना का कोई अर्थ नहीं है—उसके कारण किसी अलंकार को अलंकार कहना अजा-गलस्तन को स्तन कहने की भाँति है। इस मत में भी रसवदलकार गौण रूप में ही मान्य है।

(४) अभियुक्तों का मत तो यह है कि स्वकीय-व्यंजक शब्दार्थ से उपकृत रहकर भी जो रसादि वाच्य—वाचक को सुंदर बनाता हुआ (अंग द्वारा) प्रधानीभूत अन्य रसादि का उपकारक हो—उसे ही वस्तुतः अलंकार मानना चाहिए।

इन चार मतों में पहला तो रसवदलंकार का विपक्षी है—दूसरा और तीसरा उसे गौण रूप में (मुख्यतः नहीं) अलंकार मानते हैं। चौथा उसे भी अन्य अलंकारों की भाँति मुख्यतः अलंकार मानता है।

कुंतक ने रसवदलंकार संबंधी समस्तपूर्ववर्ती मान्यताओ का खंडन करते हुए यह कहा है कि रसवदलकार का अर्थ वह अलकार है जो रस की तरह हो। अर्थात् जिस प्रकार रस काव्य में रसवत्ता का विधान तथा सहृदय को आह्लाद प्रदान करता है—उसी प्रकार जो अलंकार उक्त दोनों प्रयोजन निष्पन्न करे—वही रसवदलंकार है। पूर्ववर्ती अलंकार रसवत् का अर्थ 'रसयुक्त' किया करते थे–कुतक ने 'रसवत्' का अर्थ 'रस की तरह'— माना है। अलकार को रस की तरह या रसवत् होने में दो कारण बताये है— (१) रसवत्ता लाना, (२) सहृदयाह्लाद। इस दृष्टि से कुंतक ने रसवदलंकार को समस्त अलकारो का जीवित बताया है और साथ ही साथ काव्य का अद्वितीय सार भी।

शब्दालंकार एवं अर्थालंकार में से अधिकांश आलंकारिकों ने अर्थालंकार को ही अतरंग माना है। यही कारण है कि अवान्तर वर्गीकरण संबंधी विचार इसी का किया गया। रुद्रट से पूर्व अर्थालंकारों का विभिन्न वर्गों में उल्लेख होता आ रहा था–जो वैज्ञानिक या यौक्तिक दृष्टि से किसी एक आधार पर प्रतिष्ठित नहीं माना जाता था। रुद्रट पहले आलंकारिक हैं जिन्होंने विभिन्न आधारों पर अलंकारों को वर्गीकृत किया। उनके द्वारा आविष्कृत आधार चार हैं–वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। वैसे तो इस वर्गीकरण के संबंध में अनेक बातें कहीं जा सकती हैं परंतु एक तर्क तो यही है कि क्या 'अतिशय'— केवल कतिपय अलकारो में ही है? ऐसे ही कुछ कारणों से असंतुष्ट रहकर रुय्यक आदि परवर्ती आलंकारिकों ने भी विभिन्न आधारों पर वर्गीकरण किये– फिर भी यह वर्गीकरण तात्त्विक नहीं. बल्कि काम चलाऊ ढंग का ही रहा। कारण भी तो है। सबसे पहली बात यह है कि जब तक समस्त अलंकारों की सीमा और प्रकृति स्पष्ट न होगी—तब तक सबका वर्गीकरण कहाँ संभव है? जहाँ तक सीमा और प्रकृति का संबंध है—वही सभव नहीं, कारण यह है कि यदि अलंकार 'वाग्विकल्प' 'भंगीभणिति' 'वाग्वैचित्र्य'—ही है–तो वह प्रतिभा के आनन्त्यवश स्वयं अनन्त है। अतः सीमाज्ञान के अभाव में वर्गीकरण ही संभव नहीं है। दूसरे जो वर्ग स्थापित किये गये है—उनमें अद्यावधि कल्पित सभी अलकार समा भी कहाँ पाये हैं? कितने भी 'वर्ग' बना लेने के बाद 'अन्य वर्ग' 'अवशिष्ट वर्ग'–जैसा वर्ग बना ही रहता है। मानवीय मनः स्थितियों की भी कोई सीमा नहीं है कि उनके आधार पर ही वर्गीकरण किया जाय? वस्तुतः संसार का प्रत्येक पक्ष अपने में असीम है–क्योंकि उसका स्रोत 'प्रकृति' अपने में अथाह है। तब क्या मान लिया जाय कि वर्गीकरण

संबंधी प्रयास निरर्थक हैं? नहीं, ऐसा तो इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि कुछ दूर तक समझने समझाने में उनका उपयोग है ही। अतः जितनी दूर तक उनकी उपयोगिता है–उतनी दूर तक उन्हें निरर्थक कैसे कहा जाय? अर्थालंकारों के अतिरिक्त शब्दालंकार भी हैं–जिनके वर्गीकरण का प्रयास डा० रसाल ने किया है–पर उसमें भी अनेक त्रुटियाँ हैं (इस विषय पर विस्तृत विचार मैंने अपने 'काव्यालंकारसारसग्रह तथा लघुवृत्ति व्याख्या' नाम की कृति में किया है–जिज्ञासु वहीं देखें)।

सस्कृत आलंकारिकों ने अलंकार के प्रयोजन पक्ष से सामान्यतः और विशेषतः–दोनों ही रूपों में विचार किया है। कहा गया है कि सामान्य उक्ति से काव्यात्मक उक्ति का भेदक तत्त्व है–काव्योचित–सौंदर्य। इसी सौंदर्य के स्रोत रूप में अलंकार की कल्पना सभी ने की है। वस्तुतः काव्य न तो केवल दर्शन है और न केवल भाव–दर्शन और भाव जब सुन्दर 'वर्णना' का आकार ग्रहण करते हैं तभी काव्य का जन्म होता है। तौत का कहना बहुत ही समुचित है–"यावज्जाता न वर्णना" अलंकारवादी एवं रीतिवादी–दोनों ही 'अलंकार' को 'सौंदर्य' का साधन मानते हैं–पर अलंकार्य मानते हैं–शब्दार्थ को–जो काव्य का शरीर है। ध्वनिवादियों ने 'सौंदर्य' का संबंध माना काव्य की 'अत्मा'–ध्वनितरस–से। 'आत्मा' जब 'उचित' आकार ग्रहण करता है तो अनायास अपने-अपने स्थान पर अलंकार अर्थ को सुंदर बनाते हुए आ बैठते हैं। ध्वनिवादी तो मानता ही है कि अलंकारों की सार्थकता और उसका प्रयोजन रस–निष्पत्ति ही है। वक्रोक्तिवादी कुंतक ने भी करीब-करीब इसी तरह की बात कही है। रसवदलंकार का विवेचन करते हुए वे कहते ही हैं—यह अलंकार समस्त अलंकारों का उपजीव्य और काव्य का सार है। अर्थात् रस-निष्पत्ति में अलंकारों का परम प्रयोजन वक्रोक्तिकार को भी अभीष्ट है। इस प्रकार सामान्यतः काव्योचित 'सौंदर्य' का साधन तो सभी मानते हैं—पर ध्वनिवादी उनकी प्रशस्त सार्थकता व्यंजक के सुंदरीकरण द्वारा मूल प्रतिपाद्य अर्थ की उत्कृष्ट प्रतीति कराने में मानते हैं।

सामान्यतः ही नहीं, पृथक्-पृथक् भी अन्य अलंकारों के प्रयोजन पक्ष से विचार किया गया है। सादृश्य या उपमा को लें–वह अधिकांश अलंकारों में व्याप्त है। उपमा का सहारा हम इसलिए लेते हैं कि प्रस्तुत संबंधी अनुभूति को हृदयांतर में संक्रांत करने के लिए यही एक रास्ता है। सदृश अप्रस्तुत को लाकर प्रस्तुत में जो उत्कर्ष द्रष्टा को मालूम हुआ है–उसी का अनुभव

कराना उपमा-प्रयोक्ता का लक्ष्य है। 'अनन्वय' में प्रयुक्त अप्रस्तुत का प्रयोजन 'वर्ण्य' की अनुपमता या अतुलनीयता प्रतीत करानी है। 'उपमेयोपमा' में प्रयुक्त अप्रस्तुत यह बताना चाहते हैं कि समस्त सृष्टि में ये ही दो वस्तुएँ परस्पर समान कही जा सकती हैं-तीसरा कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है-जिससे उसकी तुलना की जा सके। सादृश्य का आतिशय्य-प्रत्यायन रूपक एवं उससे भी बढ़कर अतिशयोक्ति में होता है। सादृश्यमूलक कतिपय अलंकार ऐसे भी हैं—जिनके द्वारा प्रतिपाद्य की प्रतीति की विशदीकरण ही लक्ष्य होता है—अर्थान्तरन्यास, दृष्टांत, उदाहरण-ऐसे ही अलंकार हैं।

इस प्रकार यदि एक ओर 'सादृश्य' द्वारा हम अप्रस्तुत के सहारे प्रस्तुत का भावानुरूप उत्कर्ष—बोध कराना चाहते हैं, तो दूसरी ओर 'असमानता या 'विरोध' द्वारा प्रस्तुतगत वैचित्र्य का बोध कराना चाहते हैं। 'विरोध' की भाषा का सहारा 'समानता' की भाषा की भाँति वैदिक-साहित्य से ही चला आ रहा है। परमतत्त्व-गत वैचित्र्य या अनिर्वचनीयता प्रदर्शित करने के लिए सर्वदा उपनिषत्कारों ने विरोधाभास का सहारा लिया है—'तदेजति तन्नैजति' ऐसे ही उदाहरण है। दूसरी ओर हिंदी तक चले आइए—घनानंद की 'उजरनि बसी है'' 'कचाई पाक्यो'—जैसी उक्तियाँ वर्ण्य-गत वैचित्र्य को निष्पन्न करने के लिए प्रयुक्त हुई है।

इसी प्रकार समानता और असमानता से भिन्न आधार पर भी प्रतिष्ठित अलंकारों का सामान्यतः उत्कृष्ट प्रयोजन यही लक्षित होगा कि वे वर्ण्य को भावानुरूप उपस्थित कर सकें। यदि अलंकार कथन की एक भंगी है—तो उनकी सार्थकता यही है कि वक्तव्य को भावानुरूप हृदयांतर में संक्रांत कर देने में सहायक हों।

संस्कृत के आलंकारिकों ने स्थल-स्थल पर अलंकार विवेचन के प्रसंग में शब्द-शक्तियों की भी चर्चा की है। सामान्यत 'अलंकार' को शरीर-धर्म अर्थात् वाच्य-वाचक का धर्म, अभिधान, अभिधा-वैचित्र्य, अभिधाप्रकार कहा गया है- पर विशेषतः विवेचन करते हुए उन लोगो ने अलंकारों में शब्द-बोध की प्रक्रिया दिखाई है और तदर्थ शब्द-शक्तियों के उपयोग की प्रक्रिया भी निदर्शित की है। 'मुख्यार्थ-बाध' हीन आलंकारिक प्रयोगो में 'अभिधा' का प्रयोग होगा। 'उपमा' इसका उदाहरण है—जहाँ उपमान से उपमेय की समता का अभिधा द्वारा ही बोध हो जाना संभव है। श्लेषालंकार में भी जो अनेक-अर्थ उपलब्ध होते हैं—वे अभिधाशक्ति से ही—अन्यथा वहाँ 'श्लेष' ही न होगा। श्लेष के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ के दोनों अर्थ समकक्ष हों और साथ प्रतीत

हों—क्योंकि दोनों अर्थों की समान उपयोगिता है। यदि एक अर्थ 'अभिधा' से और दूसरा 'व्यंजना' से मिला—तो वहाँ ध्वनिकाव्य की स्थिति होगी—श्लेषालंकार की नहीं।

इसी प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के जो शुद्धा एवं गौणी नामक भेद हैं—उनमें से गौणी के सारोपा एवं साध्यवसाना लक्षणा का रूपक एवं अतिशयोक्ति में पूर्णतः उपयोग है। वहाँ लक्षणा के इन्हीं रूपों का उपयोग है। शुद्धा के 'उपादान' एवं 'लक्षण' लक्षणा नामक दो भेदों का उपयोग लक्षणामूलध्वनि में है—पर 'सारोपा' एवं 'साध्यवसाना' का कुछ लोग 'हेतु' नामक अलंकार में मानते है। अभिधा की अपेक्षा 'लक्षणा' का उपयोग 'अलंकारों' में अधिक होता है—कारण है सर्वत्र 'अतिशय' का होना—मुख्यार्थ या व्यवहारोपयोगी स्थूल अभिधेय अर्थ का अतिक्रमण होना। उक्त अलंकारों के अतिरिक्त सभी विरोध-मूलक अलंकारों में प्रायः 'लक्षणा' द्वारा ही संगत अर्थ-योजना हो पाती है। कहीं-कहीं अवश्य विना लक्षण के भी कार्य चल जाता है। 'विषमय यह गोदावरी अमृतन के फल देति'—में 'विषमय' का असंगत एवं संगत दोनों ही अर्थ लक्षणा-निरपेक्ष है।

'लक्षणा' के अतिरिक्त 'आक्षेप,' समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, सूक्ष्म आदि कितने ऐसे अलंकार हैं—जहाँ 'व्यंजना' का उपयोग किये बिना हम अभीष्ट अर्थ तक नहीं पहुँच सकते।

इसके साथ यह भी ज्ञातव्य है कि शब्द-शक्तियों का सारा सौष्ठव अपने यहाँ अलंकारों में ही सीमित नहीं किया गया है—अलंकारों से पृथक् उनका अपना स्वतंत्र महत्त्व और सौष्ठव भी बताया गया है। उत्तम काव्य के प्रभेद 'व्यंजना' पर ही आधारित है—वह चाहे 'अभिधामूलक' हो या 'लक्षणा—मूलक'। मध्यम या गुणीभूतव्यंग्य में भी उभयविध व्यंजना का ही सौष्ठव है। यहाँ तक कि ध्वनिवादियों का तो यह सिद्धांत है कि काव्य का ऐसा कोई 'सौष्ठव प्रकार' ही नहीं है जहाँ व्यंजना का आंशिक संस्पर्श न हो। काव्योचित—रमणीयता विना व्यंजना के सम्पर्क से संभव ही नहीं है—उन्हीं में से कतिपय को 'अलंकार' नाम दे दिया गया है। आनंद-वर्द्धन ने कहा है—सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम्। तदिदं काव्यरहस्यं परमिति सूरिभि र्विभावनीयम्" (तृतीय उद्योत, ध्वन्यालोक)।

इस प्रकार संस्कृत के आलंकारिकों में भरत ने मुख्यतः अभिनय पर विचार करते हुए प्रासंगिक रूप में कतिपय अलंकारों का उल्लेख किया। अलंकार

संबंधी विभिन्न पक्ष सर्वथा अविवेच्य रहे। श्रव्य काव्य की दृष्टि से पुनः विचार आरम करनेवालो में अलंकारवादियों ने 'अलंकार' की नितात व्यापक व्याख्या प्रस्तुत की और उसे शरीर—सौंदर्य का मूल स्रोत माना! पूर्वागत लक्षणों का उसी में संभाव्य-स्तर तक अंतर्भाव किया गुण से उसका या तो अंतर ही न कर सके या किया भी तो वह व्यामुग्ध-बुद्धि का विजृम्भण मात्र। वस्तुतः ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्योचित—सौदर्य का काव्यात्मा (रस) से संबंध स्थापित करते हुए यह बताया कि अलंकारों की अलंकारता उसी के अनुरूप स्वतः नियोजित हो जाने में है। इन्हीं लोगों ने व्यवस्थित रूप से 'गुण' एवं 'अलंकार' का अंतर बताते हुए यह कहा कि गुण आत्मा (रस) का धर्म और अलंकार शरीर (शब्दार्थ) का धर्म है। सौदर्य के उन्मीलन में दोनों का उपयोग है। इसके साथ—साथ प्रयोजन सगत अर्थ तक पहुँचने की शाब्दी प्रक्रिया का भी पुष्कल विचार तो प्रस्तुत किया ही—उसके अवान्तर वर्गीकरण पर भी अपना बौद्धिक प्रकाश प्रक्षिप्त किया है।

(ख)

संप्रति यह देखना है कि आधुनिक विद्वानो ने इस विभिन्न पक्षीय पुरातन चितन को कितना आगे बढ़ाया है! बढ़ाया भी है या नहीं? और यदि बढ़ा हुआ हम देखते हैं तो वह केवल पुरातन चितन का नया आवरण—नया ढंग ही है या कुछ नया तत्त्व भी—नई दिशा भी?

युगोचित नवीनशैली और नवीन पदावली के आवरण में प्राचीन चिंतनाओं और तत्त्वों को उपस्थित करना भी उसे बढ़ाना ही है। बढ़ाना इसलिये है कि यदि यह युगोचित आवरण न दिया जाय—तो अतत्त्वदर्शी पुरानी खाल को उपेक्षा की दृष्टि से देखने के कारण उसमें पड़ी हुई तात्त्विक वस्तु को भी छोड़ देंगे—फलतः वह आगे न बढ़ पायगी। उदाहरणार्थ 'रस' नाम से चिढ़ने वाले पर हृदयवाद का समर्थन करनेवाले अत्तत्वदर्शियो को फटकारते हुए शुक्ल जी ने ठीक ही बताया है कि 'रस' हृदय की रम्य विभूति का ही, काव्यो का ही काव्योचित—परिणाम है। विभावादि पुराने शब्दों से चिढ़ने वालो के लिए उस शब्द को छोड़कर पर उसी के 'अर्थ' को बोधित करने वाले नये शब्द को गढ़ना पड़ता है। निष्कर्ष यह कि काव्य-शास्त्र संबंधी नवीन—चितन का विकास नवीन शैली और नवीन चिंतन के आलोक में प्राप्त कुछ नये तथ्यो के रूप में हुआ है।

ये नवीन—चिंतक 'वैज्ञानिकता' बनाम आधुनिकता से सम्पन्न हैं। इसलिये वे 'आस्था' का आवरण अपने विवेचन में हटा देते है और तटस्थ

तथा यौक्तिक—आधार पर पुरानी चीजो की ग्राह्यता अग्राह्यता का युगोचित शैली में युगानुरूप विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। साथ ही वैज्ञानिकता के ही कारण देश—देश के व्यवधान का अभाव उनके चिंतन में व्यापकता ला देता है। अपने देश की चिंतन प्रक्रिया की तुलना भी वे विदेशीय चिंतन से करते चलते है। इस संदर्भ में आने वाले 'अलंकार'—चिंतक मनीषी (जिनसे हिंदी के मनीषी भी प्रभावित है) पी० वी० काणे, डॉ० डे०, डा० राघवन् आदि उल्लेखनीय और मार्गदर्शी है। इन लोगों ने आधुनिक ढंग से वैज्ञानिक और ऐतिहासिक शैली में प्राचीन चिंतन को आगे बढ़ाया और पश्चिमी ढंग से वस्तुओं को सोचने विचारने का मार्ग दिखाया। इन लोगों में से प्रतिनिधि रूप में डा० राघवन् की कुछ स्थापनाओं का उल्लेख कर हिंदी के चिंतकों पर आ जाना उचित होगा। उन्होंने ऐतिहासिक क्रम से विभिन्न काव्यात्मवादियों के अलंकार सबंधी चिंतन को प्रस्तुत करते हुए उसके स्वरूप, साहित्यिक उपयोगिता अनुपयोगिता, वर्गीकरण तथा कतिपय प्रमुख अलंकारो के प्रयोजन पर तो हृदय-ग्राही विवेचन प्रस्तुत ही किया है—स्थल—स्थल पर मिलते जुलते पश्चिमी विवेचको के मत भी प्रस्तुत किये हैं। इस प्रकार इन मार्गदर्शी विद्वानो और अपनी मौलिक चिंतन शक्ति—दोनो का सहारा लेकर हिंदी के मनीषियों ने भी अलंकार—चिंतन की धारा को अग्रसर बनाया है।

आचार्य रामचंद्रशुक्ल ने अपनी सैद्धांतिक और प्रायोगिक विवेचनाओ में अलंकार संबंधी विवेचन प्रस्तुत किये हैं—जिसमें अलंकार स्वरूप निर्माण व्यापार, वर्गीकरण तथा उपयोगिता के पक्षों से किया गया चिंतन उपलब्ध होता है। अलकारो के आविष्कार के मूल का चिंतन करते हुए शुक्ल जी का कहना है कि "सूक्ष्मदृष्टि वालो ने काव्यों के सुंदर—सुंदर स्थल चुने और उनकी रमणीयता के कारणो की खोज करने लगे। वर्णन शैली या कथन पद्धति में ऐसे लोगो को जो-जो विशेषताएँ मालूम होती गईं—उनका वे नामकरण करते गये" (चिंतामणि) वे ही अलंकार है। इस प्रसंग में शुक्ल जी के अनेक आक्षेप हैं—पहला यह कि क्या काव्यों के सभी रमणीय स्थल ढूंढ लिए गए—वर्णन की सभी प्रणालियाँ निरूपित हो गईं? और दूसरा यह कि जो स्थल रमणीय लगे क्या उनकी रमणीयता का कारण वर्णन-प्रणाली (अलंकार) ही है? तीसरे यह कि जो अलंकार हैं भी क्या वे सबके सब वर्णन प्रणाली ही हैं? उनकी दृष्टि में प्राचीन अव्यवस्था के स्मारक स्वरूप स्वभावोक्ति, अत्युक्ति एवं उदात्त आदि कुछ अलंकार ऐसे है—जो वर्ण्य-वस्तु से संबद्ध हैं—वर्णन-प्रणाली से नहीं।

पहले दो प्रश्न तो भारतीय प्राचीन आलकारिको ने भी उठाये हैं और कहा है कि 'वाग्विकल्प' 'भंगीभणिति' 'उक्तिवैचित्र्य'—ही अलकार हैं और उनकी कोई सीमा नही है और न हो सकती है—कारण है कवि की विधायक प्रतिभा का आनन्त्य। दूसरे प्रश्न का उत्तर काव्यात्मवादी चिंतन में सन्निहित है—जहाँ रमणीयता के स्रोत अलंकार से भी पृथक् तत्त्वों में बताये गये हैं। समस्तविध रमणीयता का स्रोत उक्ति भगी ही नहीं है और भी है। ध्वनिवादी तो काव्य-सौंदर्य का मूल 'प्रतीयमान अर्थ' को ही मुख्यतः बताते हैं—जो अलंकारों को भी अपेक्षित हैं। तीसरा प्रश्न कुछ अवश्य नया जान पड़ता है। शुक्ल जी का कहना है कि कुछ अलंकार वर्ण्य वस्तु के रूप में भी है—जैसे, स्वभावोक्ति, अत्युक्ति एवं उदात्त आदि। पर विचार करने पर इनमें भी चमत्कार पैदा करने की स्वाभाविक वर्णन प्रणाली, अतिशय गर्भ प्रणाली तथा औदात्य की उत्कर्ष व्यंजक प्रणाली ही मूल स्रोत जान पड़ती है। यदि इन स्थलों का चमत्कार वर्ण्य वस्तु ही चमत्कारकारी है—तो निर्दिष्ट शैली शून्य रूप से उन वस्तुओं के कथन में भी चमत्कार होना चाहिए—पर है क्या ? बात विचारणीय तो है ही। स्वभावोक्ति में ऐसी भंगी पकड़ी जाती है कि वस्तु का प्रत्यक्षायमाण रूप खड़ा हो जाता है। सवाल यह है कि यहाँ वस्तु का प्रत्यक्षायमाण रूप चमत्कार का स्रोत है या उस प्रकार से कहने का ढंग ? शुक्ल जी का आशय यह है। विचार करने पर यह भी प्रतीत होता है कि वस्तु का प्रत्यक्षायमाण रूप ही—जो परोक्ष प्रत्यायक शब्द द्वारा सामान्यतः संभव नहीं है—ग्राहक कल्पना का विषय बनकर चमत्कार पैदा करता है। लेकिन यह भी तो कहा सुना जाता है कि यह इसी कवि की उक्ति का वैशिष्ट्य है जो वस्तु को प्रत्यक्षायमाण कर देता है। ऐसी गिनी चुनी विशेषताओं को सक्रम सजाकर उपस्थित करने की इसी की ऐसी अभूतपूर्व **वर्णन भंगिमा** है कि वर्ण्य-वस्तु की समा बाँध देती है। तो क्या इन स्थलों की **वर्णनभंगिमा** का चमत्कार-सृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है ? क्या इसको बिलकुल महत्त्वहीन कह देना सहृदयता है ? विज्ञजन ही सोच सकते हैं।

अलंकारों के स्वरूप के सबंध में शुक्ल जी ने कहीं तो प्राचीन आचार्यों के भाँति उसे 'काव्य का शोभाकर धर्म' कहा है, कहीं 'वर्णन प्रणाली' कहा है और कहीं 'सुन्दर अर्थ की शोभा बढ़ाने वाले धर्म' के रूप में। पर इन तीनों में उनका संरम्भ 'वर्णन प्रणाली' के ही चामत्कारिक पक्ष पर है। उपर्युक्त तीन रूपों में से पहला अलंकारवादियों के अनुरूप, तीसरा

रीतिवादी वामन के अनुरूप और दूसरा ध्वनिवादियों के अनुरूप अलंकार का स्वरूप है। ध्वनिवादियों की ही भाँति ये यह भी मानते हैं कि अलकारो की रसानुरूप सहज योजना की जानी चाहिए। वे अलकारों की उपयोगिता पर विचार करते हुए कहते हैं 'किसी भाव या मार्मिक भावना से असपृक्त अलंकार चमत्कार या तमाशे हैं"। शुक्ल जी मानते हैं कि—'वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है (२) कभी उसके रूपरंग या गुण की भावना को उसी प्रकार के और रूपरंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्मवाली और—और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है (३) कभी बात को भी घुमा फिराकर कहना पड़ता है—इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग (उनकी दृष्टि में) अलंकार कहलाते हैं"। इस उद्धरण से शुक्ल जी की अलकार के स्वरूप, उपयोगिता एवं वर्गीकरण—सबधी विभिन्न धारणाएँ सामने आ जाती है। स्वरूप और उपयोगिता की बात ऊपर भी कही गई है—अतः अवशिष्ट वर्गीकरण के संबंध में नए ढंग से सोचते हुए उन्होंने अप्रस्तुतयोजनामूलक (२) वाक्यवक्रतामूलक एवं (३) वर्णविन्यासमूलक तीन वर्गों की ओर इंगित किया है। डा० राघवन् ने साम्यमूलक (२) वैषम्यमूलक एवं अन्य जैसा त्रिविध वर्गीकरण किया है। दोनों के पहले भेद एक ही हैं।

शुक्ल जी ने 'अलंकारवाद' के पर्याय रूप में 'चमत्कारवाद' का विचार करते हुए यह कहा है चमत्कारवादी 'उक्ति-वैचित्र्य' को ही काव्य मानते हैं-उन्हें यह (स्वीकार) नहीं है कि वह उक्ति वैचित्र्यात्मक काव्य मर्मस्पर्शी भी हो।

इसी के साथ उन्होंने 'रसात्मक बोध के विविध रूप' में शब्द-शक्तियों की भी चामत्कारिक प्रयोगों में क्या स्थिति है—इस प्रश्न पर विचार किया है। उन्होंने कहा है कि काव्य में सारा रूप–विधान कल्पना का कार्य है। "भाषा-शैली को अधिक व्यंजक, मार्मिक और चमत्कारपूर्ण बनाने में भी कल्पना ही काम करती है। कल्पना की सहायता यहाँ पर भाषा की लक्षणा और व्यंजना नाम की शक्तियाँ करती हैं"।

आचार्य शुक्ल के अनन्तर नव्य शास्त्रीय समीक्षक एवं स्वच्छंदतावादी समीक्षकों ने 'अलंकार' पर अपने कुछ विशिष्ट चितन प्रस्तुत किये हैं—। नव्य शास्त्रीय चिंतकों में आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र एक उल्लेखनीय

आचार्य हैं । इन्होंने अपनी विभिन्न कृतियों में प्राचीन आचार्यों के विचारों का मार्मिक रहस्योद्‌घाटन किया है। स्वरूप एवं उपयोगिता के संबंध में तो प्राचीन भारतीय आचार्यों तथा शुक्ल जी के विचार को ही व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करते हैं—पर वर्गीकरण के क्षेत्र में उन्होंने अपने मौलिक चिंतन से प्राचीन आचार्य के सूत्रों को पर्याप्त आलोकित किया है। इस विषय में 'भूषण' की भूमिका तथा 'वाङ्मय विमर्श' का 'अलंकार' शीर्षक विवेचन द्रष्टव्य है। रुय्यक द्वारा प्रस्तावित अर्थालंकारों के सप्तधा वर्गीकरण को आधार बनाकर उनके अंतर्गत पड़नेवालों अलंकारों का बहुत ही मर्मस्पर्शी भेदकतत्त्व शास्त्रीय ढंग से व्याख्यात हुआ है। उदाहरणार्थ, उन्होंने यह कहा कि सादृश्यमूलक अलंकारों के मध्य में 'उपमा' है—जिसके एक ओर उपमान एवं उपमेय में भेद की और दूसरी ओर अभेद की स्थिति बढ़ने लगती है—फलतः एक ओर 'व्यतिरेक' और दूसरी ओर 'रूपक' आता है। इसी प्रकार दूसरी दृष्टि से देखें तो एक ओर उपमेय की प्रधानता (अनन्वय) और दूसरी ओर उपमान की प्रधानता होने लगती है (अतिशयोक्ति का प्रथम भेद)—
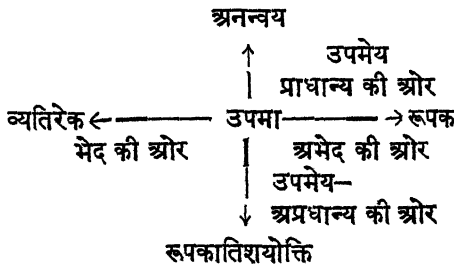
इसी प्रकार उन्होंने विरोधमूलक अलंकारों में भी तीन स्थितियाँ बताईं—कहीं तो द्रव्य, जाति, गुण एवं क्रिया का पारस्परिक विरोध (विरोधाभास) (२) कहीं कारण और कार्य को लेकर विरोध (३) तथा कहीं कारण और कार्य के गुण और क्रिया में (विषम आदि)। फिर प्रत्येक के अंतर्गत आने वाले अलंकारों का भी पारस्परिक अंतर बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

इसी प्रकार अन्यविध आधारों पर भी प्रतिष्ठित अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया है।

स्वच्छंदतावादी चिंतकों में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डा० नगेंद्र मुख्यतः उल्लेखनीय हैं। आचार्य वाजपेयी ने कहा है कि "वास्तव में रस के

मनीषियों द्वारा काव्य के भावविनियोग या आनंद पक्ष पर इतने विस्तार-पूर्वक ध्यान दिया गया है कि उसके अवश्यंभावी परिणाम के रूप में अन्य पक्ष उपेक्षित से हो गये हैं। कदाचित् इस प्रकार दोष के निराकरण के लिये अन्य सिद्धांतों की अवतारणा हुई। उदाहरणार्थ, अलकार मत के प्रणेताओं के द्वारा काव्य के सौंदर्य-पक्ष पर सुविस्तर रूप से विचार किया गया। "अलंकार सामान्य रूप में वह काव्य-कल्पना है जो एक ओर कविता की संपूर्ण रूप योजना को समाविष्ट करती है और दूसरी ओर वह अलंकरण के कुछ विशिष्ट रूपों का निर्देश करती है"। इस प्रकार उनकी धारणा है कि अलंकारवादियों ने अलंकार को सौंदर्य (एवं समस्त सौंदर्य साधन) का पर्यायवाची बनाकर उसके व्यापक अर्थ की उत्कृष्ट व्यंजना की है। उनके मत से काव्य का अलंकार सिद्धांत उसके कल्पना पक्ष का ही विचार है और 'कल्पना' काव्य की प्रथम या अतरंग क्रिया है। काव्य में 'कल्पना' के अनंतर 'अभिव्यंजना की स्थिति' और 'प्रेषणीयता' की समस्या आती है। इस प्रकार पंडित जी के मत से अलंकारवादी रूपविधायिनी कल्पना की काव्य में सर्वोच्च प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। काव्य की आत्मा यही अलंकार या रचना का कल्पना सौंदर्य है। वे अलंकार शब्द का दूसरा (सीमित) अर्थ कल्पना द्वारा समाहित रूप या अर्थ संबंधी चमत्कार मानते हैं। इस प्रकार आचार्य वाजपेयी की 'अलंकार' के संबंध में जो मौलिक देन है—वह है भारतीय अलंकारवाद या अलकार-चितन को पश्चिम के काव्य संबंधी रूप विधायिनी कल्पना-सिद्धांत के पास ले जाकर उसका विवेचन प्रस्तुत करना—उसी आलोक में अलंकारों का नवीन एवं युगोचित पदावली में विश्लेषण करना। यद्यपि इस दिशा का उद्घाटन आचार्य शुक्ल ने ही अपनी विवेचनाओं में यत्र-तत्र प्रस्तुत कर दिया है—पर आचार्य जी की यह विवेचना उसको सौंदर्यशास्त्रीय गहराई मात्रा में और अधिक प्रदान करती है। आचार्य जी ने भारतीय अलंकारवादियों की ही तरह 'अलंकार' शब्द के प्रयोग का प्रयोग दो अर्थों में स्वीकार किया है—(१) कल्पना शक्ति की समस्त रूप-सृष्टि (२) अलंकरण के कुछ विशिष्ट रूप। पहला व्यापक और दूसरा सीमित है। पहले में सौंदर्योचित समस्त रूप-सृष्टि का व्यापक रूप है—दूसरे में सीमित अलंकारों की स्थिति है। वामन ने भी 'सौंदर्य और अलंकार' को परस्पर पर्याय बताते हुए व्यापक और सीमित अर्थों में सौंदर्य-साधन अलंकार की विवेचना प्रस्तुत ही की है। इतना अवश्य है कि कल्पना रूप-विधात्री शक्ति है—अतः अर्थालंकारों का समावेश तो

वहाँ हो जाता है—पर शब्दालंकारों की बात पर बल नहीं दिया गया लक्षित होता। हो सकता है कि जिस प्रकार भामह ने अपने यहाँ के एक आलंकारिकों का यह मत दिया है कि वे लोग केवल रूपकादि अर्थालंकारों को ही अंतरंग होने के कारण विशेषतः उल्लेखनीय मानते थे—उसी प्रकार रूपविधात्री कल्पना के सौंदर्योचित सीमित अलंकारों में ये भी अर्थालंकारों पर ही बल दे रहे हों। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी शब्दालंकार की अपेक्षा अर्थालंकार को अंतरंग माना ही है। अस्तु।

डा० नगेन्द्र ने भी 'रीति काव्य की भूमिका में अलंकार पक्ष से पुष्कल विचार प्रस्तुत किये हैं। वहाँ अलंकारों के स्वरूप, वर्गीकरण एवं उपयोगिता के संबंध में उनकी जो उल्लेखनीय विशेषता है वह है मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन पक्षों के विश्लेषण की। अपने विवेचन में यदि एक तरफ ये संस्कृत के आचार्यों की विभिन्न परिभाषाओं और विवेचनाओं का आरंभ में सहारा लेते हैं—तो दूसरी ओर 'चमत्कारवाद' शीर्षक शुक्ल जी के विश्लेषण में अलंकर-वादियो के काव्य-गत 'उक्ति वैचित्र्य' की महत्ता का भी अपने यहाँ उल्लेख करते हैं। डा० साहब ने अपना झुकाव शुक्ल जी की ही भाँति अलंकारों के भाव प्रेरित रूप की ओर दिखाया है। इन सब परम्परागत विवेचनाओं के पुनरुपस्थापन के अनंतर जो अपनी मौलिक विशेषता प्रदर्शित की है—वह है अलंकारों के वर्गीकरण और उनकी रस-प्रतीति में उपयोगिता की। डा० साहब ने आलंकारिक प्रयोगों के मूल में रहनेवाली मनः स्थितियों का उल्लेख करते हुए उसी के मूर्तरूपों की भी चर्चा की है और बताया है कि उन्हीं मूर्त आधारों पर अलंकारों को विभक्त किया जा सकता है। मूल मानस स्थितियाँ हैं—स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा तथा कौतूहल और इन्हीं के मूर्त्त आधार हैं—साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार। इन्हें यों कहा जा सकता है।

मानसरूप—(१) स्पष्टता, (२) विस्तार, (३) आश्चर्य, (४) अन्विति, (५) जिज्ञासा, (६) कौतूहल।
मूर्तरूप—साधर्म्य, अतिशय, विरोध या वैषम्य, औचित्य, वक्रता, चमत्कार।

इन मूर्त आधारों में अतिशय, वक्रता तथा चमत्कार को डा० साहब ने पूर्व प्रचलित अर्थों की अपेक्षा सीमित अर्थ में लिया है—अतः इन आधारों को कोई संकीर्ण नहीं कह सकता। उन्होंने 'अतिशय' का अर्थ 'लम्बी चौड़ी बात करना', 'वक्रता' का अर्थ 'बात को घुमा फिराकर कहना', तथा 'चमत्कार' का अर्थ 'बुद्धि कौतुक' किया है। पर इन सीमित अर्थों को ध्यान में रखकर भी अतिशय, वक्रता तथा चमत्कार को अतिरिक्त वर्ग के अलंकारों से सर्वथा

व्यावृत्त रखना थोड़ा दुष्कर कार्य है। दूसरी बात है कि फिर अलंकारमात्र को अलंकार होने के लिये जिस 'औचित्य' की अपेक्षा रसवादी आचार्यों ने स्वीकार की है—उसे भी सीमित अर्थ का कहना चाहिए था। साधर्म्य एवं वैषम्य का उल्लेख तो सभी पूर्वागत आचार्यों ने भेदक आधार के रूप में उल्लेख किया है।

दूसरी मौलिकता है अलंकारों की रसात्मक मनः स्थिति में उपयोगिता और उसकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया। डा० साहब मानते हैं कि व्यावहारिक दृष्टि से अलंकारों की उपयोगिता है—उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने में। इसी प्रसंग में उन्होंने कहा है कि रस मन की वह अवस्था है जिसमें हमारी मनोवृत्तियाँ अन्वित हो जाती हैं—आलंकारिक प्रयोग इस अन्विति में और गहराई ला देते हैं। निस्संदेह यह विवेचन हृदयग्राही है—पर इसके साथ ही अनेक ऐसे विंदु भी हैं—जहाँ मतभेद की गुंजाइश है।

डा० साहब की दूसरी नवीनता है भारतीय एवं यूरोपीय आलंकारिक विवेचनाओं का तुलनात्मक विश्लेषण। इस तरह के विचार 'अलंकार और अलंकार्य का भेद' तथा 'भारतीय और यूरोपीय अलकारशास्त्र'—आदि विभिन्न शीर्षकों से दिये गये वक्तव्य में प्रमुखरूप से मिलता है।

इस प्रकार हिंदी में इधर-उधर और भी फुटकल-विवेचन किये गये हैं—जिसमें कुछ थोड़ा-बहुत खंडन-मंडन भी है—पर उनमें किसी नई दिशा का उन्मीलन नहीं है। पश्चिमी साहित्य के सम्पर्क से कतिपय नये अलंकारों की भी प्रायोगिक भूमि पर अवतारणा हुई है। छायावाद युग से ही इस तरह के प्रयोगों की प्रचुरता आरंभ हो जाती है। काव्य में नई-नई प्रवृत्तियाँ भी पुरातन प्रयोगों के विरोध में आयी हैं—पर काव्य में कला-पक्ष का वस्तु पक्ष से काव्योचित मेल किसे अस्वीकृत है? पुरातन अप्रस्तुतों का बहिष्कार हो सकता है, घिसे-पिटे रास्तों को छोड़ा जा सकता है—पर मूल कलात्मक या प्रभावोत्पादक काव्योचित सरणि किसे अस्वीकरणीय हो सकती है? उसे 'अलंकार' कहना नयी रुचि को न रुचे—नामान्तर दे लें, पर मूल अर्थ का क्या बिगड़ता है? विवाद अर्थ के संबंध में होता है—'शब्द' के नहीं। क्या अधुनातन 'बिम्ब' और 'प्रतीक' काव्योचित अभिव्यक्ति की सरणि (अलंकार) नहीं हैं? सरणि में नवीनता और रोचकता लायी जाय—इससे विरोध किसका? सवाल इतना ही है कि उसका संबंध काव्य की भावात्मक भूमिका से कितना विच्छिन्न हो रहा है।

इस प्रकार निस्सदेह हिंदी में सैद्धांतिक और प्रायोगिक भूमियों पर अलंकार का नए ढंग से, नए तथ्यों से सवलित रूप में श्लाघ्य विवेचन होता जा रहा है। पर इतना अवश्य है कि नवीनता एवं मौलिकता का अतिरेक कहीं-कहीं काव्य की वास्तविक भावात्मक भूमिका से कलापक्ष को दूर लिए जा रहा है।

पश्चिमी अलंकार-साहित्य का उद्भव, विकास और विवेचन

भारतवर्ष में अलंकारों का उद्भव उक्ति को काव्यात्मक रूप देने के लिये अपेक्षित तत्त्वों की खोज के रूप में हुआ था—सौंदर्योन्मीलन के साधन के रूप में हुआ था। पर उत्तरोत्तर सौंदर्योद्घाटक तत्त्वों की तारतमिक विवेचना के प्रसग में रसवादी और ध्वनिवादी आचार्यों ने उसका एक संयत और सीमित रूप ही स्थिर किया। कतिपय भारतीय आचार्यों ने तो अलंकार और सौंदर्य को पर्याय ही मान लिया था। पर एक दूसरी दृष्टि से उसे साधन भी माना था। साधन रूप में उसके व्यापक और सीमित रूप की भी विवेचना की थी—यह सब बातें साथ-साथ चल रही थीं। परवर्ती भारतीय आचार्यों ने, जैसा कि ऊपर कहा गया है—सौदर्य का संबध शरीर से न जोड़कर आत्मा से जोड़ा और यह बताया कि शरीराश्रित होकर भी ये अलंकार आत्म-गत सौदर्य की अभिव्यक्ति में ही अपनी सार्थकता प्राप्त करते हैं।

यूरोप में इनके उद्भव और विकास की परिस्थितियाँ और कारण भिन्न थे। वहाँ पर वाग्मिताशास्त्र के विशेषज्ञों ने अलंकार-निरूपण का श्लाघ्य प्रयास किया है। वाग्मिता का प्रभाव समस्त ग्रीक साहित्य में सराहा गया है। लोक प्रसिद्ध नेता नेस्टर (Nester , मेनेलायस (Menelaus , ओटिस्सेयस (Otysseus) सभी प्रवक्ता राजनीतिज्ञ और योद्धा भी थे। वाग्मिता के इस प्रभाव को देखकर विद्वानों ने इसका विवेचन आरंभ किया और धीरे-धीरे अरस्तू के समय में आकर सर्वमान्य शास्त्रों में वाग्मिताशास्त्र भी एक प्रतिष्ठित और मान्य विषय हो गया। इसी के अंतर्गत वाग्मिता को इच्छानुसार प्रभावोत्पादक बनाने के लिये अलंकारों की भी प्रासंगिक विवेचना आरंभ की गई।

अन्य लेखकों ने यह लिखा है कि अरस्तू की आज अनुपलब्ध पर उद्धरणों से ज्ञात एक विशेष कृति में एम्पेडोएलेस (Empedoeles) नामक व्यक्ति का उल्लेख किया गया है और कहा गया है कि यही व्यक्ति वाग्मिताशास्त्र का आरंभक है। यद्यपि इस शास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा तो उसने नहीं दी पर माना जाता है कि यह बहुत बड़ा प्रवक्ता था। यह भी कहा जाता है कि Metapher या रूपक का आविष्कार इसने ही किया था। वाग्मिताशास्त्र को एक कला के रूप में विकसित करने का श्रेय था—कोरेक्स (Corex) को। यह सिराक्यूज (Syracuse) का निवासी था। ४६६ ई० पूर्व का यह वह समय था कि जब उसने इस विद्या को विकसित करने में योग दिया था। इसी समय वहाँ गणतंत्र (Democracy) की स्थापना हुई थी। फलतः यहाँ के पूर्वनिर्वासित व्यक्ति लौटने लगे थे और लौटने पर अपनी पुरानी भूमि की माँग भी करने लगे थे। इस माँग की पूर्ति मुकदमे द्वारा ही संभव थी। मुकदमों की इस बाढ़ में तर्क-संगत प्रवचन ही सहायक हो सकते थे। इस कार्य के लिए वकीलों की आवश्यकता महसूस हुई। वे लोग भी तैयार होने लगे। उन्हे शिक्षित और अभ्यस्त करने के लिए शास्त्र की भी आवश्यकता हुई। कोरेक्स ने (Rules for arrangement) तर्कात्मक प्रवचन की क्रमिक—स्थापना सबंधी नियम बनाये। उसने प्रत्येक वक्तव्य के पाँच भाग बनाये—(i) Proem भूमिका (ii) Narrative विवरणात्मक ढंग से वक्तव्य की स्थापना (iii) Arguments तर्क योजना (iv) Subsidiary remark आनुषगिक निर्देश (v) Peroration निष्कर्ष। इसी व्यक्ति ने Topic of probability का निर्माण किया, जो अलंकार का एक चिरंतन तथा महत्त्वपूर्ण अंग था।

कोरेक्स का ही शिष्य था—टिसियाज (Tisius) जिसने Topic of probability का और विकास किया। इसका निवास स्थान था Gorgias of Leontini। इसने ४७२ ई० पू० में ही अपनी वाग्मिता से एथेंस के लोगों को पूरी तौर पर मुग्ध कर रखा था।

एथेंस को पहले प्रवक्ता और वाग्मिताशास्त्र के प्रस्थापक एण्टीफोन (Antiphone) का यह कार्य था कि वह न्यायालय मे बोलने के लिये लेख लिख दिया करता था। आईसोक्रेटीज ने तो वाग्मिताशास्त्र का उपयोग राजकार्य के लिए भी आरंभ किया। इसने अनेक अच्छे प्रवक्ता और लेखक तैयार किए। इसने करीब अर्द्धशतक तक अपना शिक्षालय स्थापित रखा और चलाया (३६६ से ३४० ई० पू० तक)।

३३० या ३२० ई० पू० के बीच अरस्तू ने स्वयं Rhetoric नाम की कृति को जन्म दिया। साहित्यिक दृष्टि से इसे शुष्कतम ग्रंथ माना जाता है। वाग्मिताशास्त्र श्रोता के समस्त हार्दिक और बौद्धिक जगत् को अपनी ओर आकृष्ट कर लेने की कला है। वाग्मिताशास्त्र का अभिन्न अग है—तर्क। [पर आगे चलकर इसने अपना पृथक् अस्तित्व कायम कर लिया] यह माना जाता था कि तर्कशास्त्र पर अधिकार रखने वाला व्यक्ति ही वाग्मिताशास्त्र पर पूरा अधिकार रख सकता है। वाग्मिताशास्त्र के चार प्रमुख अग हैं—(१) सत्य एवं न्याय की रक्षा (It is a corrective) (२) श्रोता को अनुकूल बना लेना (Instructive) (३) वक्ता के विरोध में प्रतिवक्ता द्वारा दिये गये तर्क (suggestive) (४) तथा अपना बचाव (Defensive)। इन चतुर्विध दिशाओं से समन्वित वाग्मिताशास्त्र का प्रमुख लक्ष्य यह है कि वह व्यक्ति को बता दे कि वे कौन-कौन सी प्रमुख शक्तियाँ है—जिनसे वक्ता लोगों को प्रभावित कर सकता है। कहा गया है—"The purpose of Rhetoric is not to persuade, but it is the faculty of discerning in every care the available means of pursuation"

अरस्तू के अनंतर हरमैगोरस (११० ई० पू०) ने इस शास्त्र को और पुष्ट बनाया। समसामयिक सिसरो ने इसे और समृद्ध किया। क्विंटिलियन (६०ई०) तथा समसामयिक हरमोजिस (Hormogenes) लाजाइनस (२६० ई०) एफ्थोनियस (४ थी शताब्दी) आदि ने उसमें और प्रगति की।

रोमन साम्राज्य के प्रथम ४०० वर्षों में वाग्मिताशास्त्र का बड़ा उदग्र प्रचार रहा। (११७ ई० से ८ ई० तक) हेड्रियन और एण्टोनाइंस के राज्यकाल में वाग्मिताशास्त्र ने अपना स्थान पर्याप्त महत्त्वपूर्ण बना लिया था। उन दिनों ग्रीक-स्कूलों में Rhetoric के Chairs होते थे। इसकी शिक्षा के लिये उन दिनों दो विभाग बनाये गये थे—सॉफिस्ट एवं पोलिटिकल। पहले के अन्तर्गत साहित्यिक अलकरण—कला और दूसरे के अंतर्गत राजनैतिक-अलकरण-शैली का अध्ययन—अध्यापन किया जाता था। पहले विभाग का महत्त्व दूसरे की अपेक्षा कहीं अधिक माना जा रहा था। इसके साहित्यिक विभाग को समुन्नत बनाने में डिओक्रिजोस्टम (प्रथम शताब्दी) एलिमस अरिस टीडस (दूसरी शताब्दी) थेमिस्टियस (चौथी शताब्दी) हाइमेरियस और लाइबेनियस जैसे विद्वानों का पर्याप्त योग रहा।

४–५ वीं से १६ वीं शती के मध्यकालीन ऐसे प्रमाण मिलते है जिनसे यह सिद्ध होता है या पता चलता है कि उन दिनों सात Liberal-arts माने गये थे—इनमें से Rhetoric एक था। उन दिनों B A. से पूर्व के चार वर्षों में तीन प्रमुख विषय ग्रामर, लॉजिक, रेटारिक—थे, पर M A. के तीन वर्षों में इनके अतिरिक्त चार और विषय जोड़े गये, जो यों हैं—सगीत, गणित, रेखागणित तथा ज्योतिर्गणित। ऑक्सफोर्ड तथा केम्ब्रिज में भी Rhetoric महत्त्वपूर्ण विषय था। इस मध्यकाल के वाग्मिताशास्त्र के मनीषियों में मार्टियानस कैपेला और कैसियोडोरस तथा इसीडोरस का प्रमुख स्थान माना जाता है।

१६ वीं शती के पुनर्जागरण काल में एक बार पुनः इस शास्त्र ने जोर पकड़ा। लेओनार्ड काक्स (Leonard-cox १६ वीं शती), टामस विल्सन, टांकुलियन और कौरसेलेस आदि विद्वानो की रचनाओं ने इस विषय को लुप्त अवस्था से प्रकाश-अवस्था में लाने का प्रयास किया।

१८ वीं शताब्दी से इस शास्त्रीय शाखा का ह्रास शुरू होता है। इस शास्त्र का शिक्षक लिखित विषयों का सुधार मात्र करने में लगा दिया गया था। पर उसका पद बहुत दिनों तक चलता रहा। इसी कारण फिर महान् प्रतिभाएँ इधर अधिक उन्मुख नहीं हो रही थी। हाँ, १६ वीं शताब्दी में फिर भी इस विषय पर कुछ समस्याएँ प्रस्तुत की जा रही थी। 'बेकन' के संग्रह इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। ब्लेयर के Rhetoric का पर्याप्त समादर हुआ है। ह्वाटली की भी इसी विषय से संबद्ध एक रचना है—"Elements of Rhetoric" जिसमें ऐतिहासिक ढंग से पर्याप्त अच्छी विवेचनात्मक समीक्षा है।

आज यद्यपि प्रेस की श्रेष्ठतम व्यवस्था ने इस शाखा का महत्त्व कम कर दिया है—फिर भी इस जनतत्र और जनता के महत्त्व के युग में इस शाखा की उपादेयता बनी ही रहेगी।

वाग्मिताशास्त्र (Rhetoric) के विशेषज्ञों ने अलंकार-निरूपण का श्लाघ्य प्रयास किया है। समस्त वर्तमान-साहित्य ओजस्वी भाषण की शक्ति मानता है। उदाहरण के लिए होमर ने एकिलीज को शब्दों का प्रयोक्ता (Speaker of words) एवं कार्यकर्त्ता (Doer of deeds) कहा है। वेस्टर के मेनेलांस (Menelans) एवं ओडिसियस वक्ता होने के साथ ही राजनीतिज्ञ एवं सैनिक भी हैं। फिर पेरिक्लीज का भड़कीला भाषण अरिस्टोफेंस एवं यूरीपिडीज का कथानक हो गया है। स्वभावतः इन महान् वक्ताओं के

प्रभाव के कारण सफल भाषण-कला के लक्षणो की खोज हुई। विशेषतः अरस्तू के समय से भाषण की कला एवं पद्धति विद्या की प्रमुख शाखा समझी जाने लगी। वक्तृत्वकला या वाग्मिताशास्त्र में चार बातो का विचार होता है—

(क) मनुष्य की समझ या विचार को उद्‍बुद्ध करना।
(ख) मानव की इच्छाशक्ति का उद्‍बोधन।
(ग) शैली—जिसमें अलंकार भी आते हैं।
(घ) वक्तव्य वस्तु या कथन।

साम्प्रतिक लेखकों की यह धारणा है कि वाग्मिताशास्त्र मुख्यतः गद्य-निर्माण (Prose-composition) से संबध रखता है। इस 'गद्यनिर्माण' की परिधि में प्रवचन एवं लेखन—दोनो का समावेश है। इस गद्य-रचना के दो रूप हैं—Logical तर्कशास्त्रीय एवं Literary साहित्यिक। प्रथम के दो लक्ष्य है–Persuasion प्रभावोत्पादन तथा Exposition स्पष्टीकरण। साहित्यिक रचना भी दो प्रकार की होती है—कथनात्मक तथा विवरणात्मक। यह शाखा शब्द-चयन विषयक विश्लेषण को भी अपना क्षेत्र समझती है। मूलतः वाग्मिता का मतलब है जन-भाषण द्वारा लोगो को अपनी ओर खींच लेनेवाली कला। आज इस शब्द का थोड़ा और विस्तृत अर्थ में प्रयोग होने लगा है और आज यह प्रवचन एवं लेखन की समस्त कलाओं एवं विधियो को अपने अंतर्गत समझता है। आज वाग्मिताशास्त्र के दो मूल भेद किये जाते हैं—Prose-composition गद्य-रचना तथा Prose-diction शब्द चयन। गद्य-रचना के भी दो रूप हैं—(१) व्यवहारोपयोगी गद्य रचना। (२) आनदप्रद गद्य रचना। पहला तर्कशास्त्रीय रचना है और दूसरी साहित्यिक-रचना है। रचना में सीधे प्रभावोत्पादन की क्षमता तथा तेजी कैसे आती है—इसी प्रसग में अलकार-विवेचन की बात उठ खड़ी होती है।

अधिक प्रभावशालिता लाने के लिए बोलने की सामान्य तथा सादी सरणि से हटकर भिन्न (चामत्कारिक) पथ का अनुसरण ही अलंकार है—"A Figure of speech is a deviation from the plain and ordinary way of speaking for the sake of greater effect."

भारतीय आचार्यों ने भी 'अलंकार' का मूल 'वक्रता' को माना है और 'वक्रता' का स्वरूप यही बताया है कि शब्द और अर्थगत 'वक्रता' उनको लोकोत्तर-स्थिति ही है। कुंतक की 'वक्रता' तो बहुत व्यापक वस्तु है—पर

सामान्य-अलङ्कृति के रूप में उसका स्वरूप यही बताया है कि 'प्रसिद्ध शब्दार्थों-पनिबंधव्यतिरेकता' ही वक्रता है। शास्त्रीय या तार्किक और लोक-व्यवहार की वचन-सरणि से भिन्न-सरणि ही साहित्यिक अभिव्यक्ति की सरणि है और यही साहित्यिक अभिव्यक्ति की विशेषता है। इस प्रकार उक्त परिभाषा भारतीय धारणा से बहुत बेमेल नहीं है—लगभग मिलती जुलती ही है।

जहाँ तक इन अलंकारों के वर्गीकरण की बात है अलेक्जेण्डर वेन ने अपनी 'रेटारिक' में इस विषय पर पर्याप्त विचार प्रस्तुत किये हैं—उन्होने बताया है कि अलंकारों का वर्गीकरण मानवीय–समझ (Human-understanding) की त्रिविध प्रमुख वृत्तियों के आधार पर किया गया है—

(क) Discrimination या विवेक या भेदक वृत्ति। इसी के अंतर्गत Contrast वैषम्य एवं Relativity सापेक्षता का भी स्थान रखा गया है।

(ख) Similarity या साम्य—जिसके अंतर्गत Feeling of Agreement अर्थात् साधारण्य बोध की बात आती है।

(ग) Retentiveness स्मृति या संचयन एवं धारणा की क्षमता। इसी के लिए Acquisition शब्द का भी प्रयोग किया गया है। अंतिम वृत्ति के संबंध में यह कहा जा सकता है कि जिन वस्तुओं का संस्कार सहगामिता के साथ ग्रहण किया जाता है उनमें से एक के दर्शन या ज्ञान से तत्संबद्ध अन्य वस्तु का स्मरण हो आना सहज है। सिंहासन से राजा का स्मरण हो आना सरल है। यह सब पुरातन अनुभव-जनित संस्कारों को सम्हाल रखनेवाली मानवीय स्मृति-शक्ति या धारणा शक्ति से ही तो संभव है।

उपर्युक्त तीन वृत्तियों में से द्वितीय मनोवृत्ति पर आधारित अलंकारों की संख्या पर्याप्त है। इसलिए पहले उन्हीं का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। भारतीय आचार्यों ने भी सादृश्यमूलक अलकारों की संख्या अधिक मानी है—

साम्यमूलक अलंकार—

सृष्टि में दृश्यमान भिन्न-भिन्न आकृति के पदार्थों में भी ऐसे साधारण धर्म विद्यमान रहते हैं कि उनके द्वारा हम अनुभव को समृद्ध करने के लिए एक सुसंगत ढंग से संबद्ध करके अपने मस्तिष्क में स्थिर कर लेते हैं। फलतः उससे हमारी व्यावहारिक यात्रा अच्छी तरह से चल जाती है। इसी प्रवृत्ति से यदि हमें कोई अनजान वस्तु दूसरे को समझानी होती है—तब साधारण विशेषता से सम्पन्न दूसरी ज्ञात वस्तु को लेते हैं और उसके द्वारा

अपना विचार दूसरे को बोधगम्य करा देते है। मान लिया किसी बच्चे को पृथिवी का रूप समझाना है—तो गेंद से समानता बताकर हम यह कह सकते हैं कि पृथिवी बिलकुल गेंद के समान है। अनुमान और तर्क मे भी कभी-कभी साम्य का सहारा लिया जाता है।

औपम्य या सादृश्य के दो रूप हैं—व्यावहारिक या असाहित्यिक (Literal) तथा (२) साहित्यिक (Literary)। अस्पष्ट का स्पष्टीकरण पहले का लक्ष्य है और वाग्मिताशास्त्र में असाहित्यिक औपम्य का इतना ही प्रयोजन है। साहित्यिक औपम्य के दो लक्ष्य होते हैं—स्वरूपबोध (Under-standing , तथा भावोत्तेजन (Feeling)। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अलंकारमात्र (साहित्यिक) का यह लक्ष्य बताया है। वेन का विचार है कि स्वरूप-बोध की दृष्टि से वाग्मिता का संबंध (औपम्य से) तथा भावोत्तेजन की दृष्टि से काव्य का संबंध (औपम्य से) अधिक है वस्तुतः उसने यह भी माना है कि दोनो लक्ष्य एकत्र भी हो सकते हैं और अलग-अलग भी। इसी आधार पर औपम्य के दो भेद भी कर लिए गये हैं—Intellectual तथा Emotional—बौद्धिक एवं भावात्मक।

बौद्धिक-औपम्य—जब बुद्धि को उत्तेजित करने के लिए बौद्धिक-औपम्य का प्रयोग किया जाता है—तब उसमें तीन प्रयोजन निहित होते है—स्पष्टता (Clearness), सुबोधता (Simplicity) तथा प्रभावशालिता (Impressiveness)। इनके प्रयोग के समय तीन बातों का ध्यान आवश्यक है—

(i) मूलभाव को श्रोता तक संक्रांत करने के लिए प्रबल उपमान का प्रयोग।

(ii) प्रकरण और प्रसंग को देखकर साम्य का स्थापन।

(iii) वह प्रतिपादन इस प्रकार का न हो कि श्रोता का बौद्धिक केंद्रण मूल विषय से हट जाय।

आचार्य आनदवर्द्धन ने भी अलंकारो के नियोजन के विषय में क्या-क्या ध्यान में रखा जाय—इस पर काफी अच्छा विचार किया है। इन्होंने तीन बातों को ध्यान में रखने को कहा है—उन्होंने छः बातें आवश्यक बताई हैं—(१) अंग रूप से विधान (२) अङ्गी रूप से विधान का अभाव (३) अवसर पर उचित अलंकार का ग्रहण (४) अवसर पर गृहीत अलंकार का त्याग (५) गृहीत अलंकार के अतिनिर्वाह की अनाकांक्षा तथा (६) निर्व्यूढ अलंकार योजना का भी पुनः-पुनः प्रत्यवेक्षण। इस प्रकार दोनो द्वारा

कहे हुए नियमों पर ध्यान दिया जाय—तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे लोग लगभग एक ही से नियम बता रहे है। मि० बेन ने बर्ड्सवर्थ द्वारा 'डेफोडिल' के वर्णन के प्रसंग में असंख्य कुमुदिनियों की तुलना जो स्वर्गंगा से की है—उसे वे आदर्श मानते हैं। इसी प्रकार आनंदवर्द्धन ने भी कालिदास के उस श्लोक को उद्धृत किया है जिसमें कामी दुष्यन्त ने शकुतला पर मँडराते हुए भौरे की अपने से तुलना करते हुए उसके भाग्य की सराहना की है।

भावात्मक औपम्य— (Emotional-similarity) लोक या काव्य—दोनों जगह जब भी हम भावों के उत्तेजन के उद्देश्य से औपम्य का उपयोग करते हैं तब बौद्धिक औपम्य से भिन्न प्रयोजन और भिन्न उपकरण हो जाते हैं। वर्ण्य-वस्तु के सीधे उपस्थापन से जब हम उससे संबद्ध अपनी भावानुभूति को हृदयान्तर तक संक्रांत करना चाहते हैं तो सशक्त और सबल अप्रकृत का सहारा लेना चाहते है। जैसे—अरस्तू का एक उदाहरण है—"न्यायप्रियता ध्रुवतारे से भी दीप्तिमती है।"

कभी-कभी हमारे उपमान दुर्बल भी होते हैं और प्रायः अगोचर भावों को बोध-गम्य करने के लिए जब गोचर उपमान लिए जाते हैं—तब भी सबाद दोनों का हो ही जाता है, जैसेः—प्रेम लाल गुलाब की तरह है अथवा मधुर संगीत की तरह है। यहाँ यद्यपि गुलाब में प्रेम की सी तीव्रता, घनता आदि गुण नहीं है फिर भी काव्यीय सौदर्य का मूल पारस्परिक संवाद अवश्य विद्यमान है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दुर्बल को सामने रखकर भी वर्ण्य की सबलता उभाड़ी जाती है।

भावों की घनता की स्तर-वृद्धि के लिए जब औपम्य का उपयोग किया जाता है तब चमत्कार की सृष्टि भी उद्दिष्ट रहती है। बौद्धिक औपम्य की भाँति भावात्मक औपम्य के लिए भी तीन बातें अपेक्षित होती हैं—

(१) जो भी मूलभाव हो उसके समशील किंतु सबल भाव (उपमान) प्रयोग में लाए जाएँ।

(२) यहाँ का औपम्य अत्यंत स्फुट न हो।

(३) उपमानों के द्वारा निःसीम ऊँचाई न प्रदर्शित की जाय—औचित्य और अनुपात हो।

इन सबके साथ ही यह भी आवश्यक है कि चमत्कार सृष्टि के लिए

नवीनता तथा दूर की सूझ होनी चाहिए। औपम्य जितना ही समशील और संवादी होगा—उतना ही प्रभावशाली होगा। इस प्रसंग में विसंवाद सदा घातक होता है। जहाँ केवल भावात्मक औपम्य लाना हो—वहाँ बौद्धिक औपम्य का अभाव अनुकूल ही होता है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि उन दोनों का मिश्रण नहीं होता। जैसे—संगीत, देवता का करुण गान है। "The Music, yearning like a god in pain."

औपम्य के स्रोत—

स्वर्ग या नभोमण्डल—औदात्य, विस्तार, भय, सम्मान आदि के लिए प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार भौम पदार्थों में भी २३-२४ चीजें परिगणित की गई हैं।

साम्यमूलक अलकारो के प्रकार—

Metaphor या रूपक या लक्षणाश्रित अलंकार—The Metaphor is a comparision implied in the mere use of a term. मेटाफर वहाँ होता है जहाँ अप्रकृत बोधक शब्द के प्रयोग के मूल में साम्य की भावना निहित हो। जैसे—He bridles his anger—उसने गुस्से पर लगाम लगा ली। His victory is brilliant—उसकी विजय शानदार है।

भारतीय दृष्टि से ऐसे प्रयोगों में गौणी सारोपा लक्षणा का प्रयोग किया गया है। गुस्से पर लगाम कसना गुस्से को काबू में कर लेना ही तो है। निष्कर्ष यह कि लगाम कसने का लक्ष्यार्थ है—काबू में करना।

मेटाफर प्रायः पद तक अथवा अधिक से अधिक वाक्यांश तक विस्तृत हो सकता है। यहाँ व्याकरणिक रूप में बिना किसी परिवर्तन के एक सशक्तता आ जाती है। (Understanding) बोध, (Feeling) भाव तथा (Agreeable surprise) चमत्कार के आधार पर मेटाफर का वर्गीकरण किया जाता है। जैसे—

पदगत प्रयोग
(i) भावी घटनाएँ अपनी छाया पहले से ही फेंकने लगती हैं। [बोध]
(ii) वह सूचना उसके हृदय के लिये भयंकर खंजर थी। [भाव]

वाक्यांश गत प्रयोग
(iii) The eternal flood,
Slave to the mother of the month
[चमत्कार]

अर्थात् शाश्वत उत्कूल जलप्रवाह मास-जननी का दास है। शेली ने Tide के लिए इस वाक्यांश का रूपकात्मक प्रयोग किया है।

संज्ञा-कोश को सशक्त और समृद्ध करने का स्रोत है—मेटाफर।

उदाहरणार्थ—The Head of a family, state (Govt.), Taste in arts, Warm-colour, False-notes, Light (ज्ञान), Passion (आग), Gloom (अवसाद), Ray of hope, Shade of doubt, Light of fancy, Flash of Wit. आदि जाने कितने शब्दों में मेटाफर या लक्षणा का संबल लिया गया है। वस्तुतः अंग्रेजी भाषा में लाक्षणिक चपलता बहुत अधिक है ही।

साहित्यिक प्रयोगों तक ही नहीं, संगीत तथा अन्य ज्ञान की शाखाओ में भी लाक्षणिक-प्रयोग फैले हुए हैं। उदाहरणार्थ, अर्थशास्त्र (Economics) ही को लें—श्रम-विभाजन (Division of labour)। इसी प्रकार संगीतशास्त्र का भी एक लाक्षणिक प्रयोग है–Scale–स्वरग्राम या आरोहावरोह, साम्यमूलक प्रयोग।

इन लाक्षणिक प्रयोगो के कतिपय दोष भी हैं। इन प्रयोगों में भाव या विचार कभी इस प्रकार संक्षिप्त या अस्फुट और संकीर्ण या भ्रामक रूप मे जान पड़ते है—कि ग्राहक वक्ता के मूल भाव या विचारों को ठीक-ठीक पकड़ नहीं पाता। उदाहरण लें—To kindle a seed—यहाँ उपमानगत सादृश्योत्थापक साधारण धर्म-बहुत अनुरूप और उचित नहीं है।

(ii) कभी-कभी एक ही व्यापार के लिए अनेक लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग हो जाता है—जिसके कारण अभीष्ट अर्थ तक पहुँचने में काफी कठिनाई अनुभूत होती है। जैसे—I bridle in my struggling muse with pain, that longs to launch in to a bolder strain" इसमें रेखांकित तीन लाक्षणिक शब्द एक ही व्यापार के लिए प्रयुक्त हैं।

(ii) तीसरा दोष यह भी है कि लाक्षणिक प्रयोगों में कभी-कभी अनपेक्षित विस्तार दिखाई पड़ने लगता है—जिसके कारण अभीष्ट अर्थ तक पहुँचने में कठिनता महसूस होने लगती है। उदाहरण लें—"एक बार यदि ज्वार में साहस करके बह गये—तो वह ज्वार भाग्य के चरमशिखर पर पहुँचा देगा, अन्यथा अवनति की अंधी खाई में ही लुढ़के पड़े रहोगे'–यहाँ 'रूपक' का अनपेक्षित विस्तार या निर्वाह अड़चन पैदा करता है।

उपमा (Simile)

A simile consists in the formal or allowed comparision of one thing to another अर्थात् एक वस्तु से दूसरी वस्तु की समता जहाँ औपचारिक अथवा वाच्यरूप में कही गई हो।

'मेटाफर' में औपम्य अंतर्निहित रहता है--पर उपमा में स्पष्ट तथा वाच्य रहता है। इसके वाचक शब्द है—So, As, Like, Resemble इत्यादि। फिर भी इनका रहना अनिवार्य नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि अप्रकृत तथा प्रकृत का प्रयोग अवश्य किया गया हो।

वाच्योपमा—He stood like a gaint.

प्रतीयमानोपमाः—

He who ascends to mountain-tops shall find
The loftiest peak most wrapt in clouds and snow
He who surpasses or subdues mankind
Must look down on the hate of those below.

'मेटाफर' की अपेक्षा उपमा प्रायः लम्बी होगी। उपमा का यह स्वभावगत वैशिष्ट्य है कि वह प्रायः गुँथी होती है और विवरणों का अविच्छिन्न प्रवाह बना रहता है। रूपक या मेटाफर की ही भाँति उपमा के वर्गीकरण के भी वे ही तीन आधार—(i) Understanding (ii) Feeling (iii) Agreeable-surprise माने गये हैं—

(i) Understanding या बोधवृत्ति :—इसका एक उदाहरण बेंथन (Benthan) से लिया गया है, जिसका आशय यों है—"जिस प्रकार त्वरित एवं मंद गति से चलनेवाले जहाजों में से मंद गति वाले जहाजों के साथ ही काफिला चलता है उसी प्रकार कक्षा में तेज और मंद छात्रों में से मद छात्र के ही अनुसार अध्यापक को प्रायः चलना पड़ता है।"

(ii) Feeling या भावात्मक वृत्ति—विशेषतः 'उपमा' इस क्षेत्र में 'मेटाफर' से अधिक सशक्त है। कारण यह है कि उपमा में विस्तार की अधिक गुंजाइश है जब कि मेटाफर थोड़े ही शब्दों में अपना काम कर लेता है। इसका उदाहरण यों है—

Life is as tedious as a twice told-tale,
Vexing the dull ear of a drowsy man.

पर इस विस्तार से कई अवांछित स्थितियाँ भी उत्पन्न हो सकती है। कभी अतिरिक्त विस्तार, कहीं न्यून पदार्थ और कही सभव है उस विस्तार में मूल धारा ही विच्छिन्न प्राय हो जाय। मैकबेथ से ही एक उदाहरण लें—

Pity, like a new-bornbabe
striding the blast.

भला बच्चा कैसे चलेगा ?

(iii) Agreeable-surprise—चामत्कारिक-वृत्ति

इस श्रेणी की उपमाएँ उपर्युक्त दोनों विधाओं की अपेक्षा ज्यादा होती हैं। कीट्स ने इस प्रकार की एक उपमा आठ पंक्तियों में प्रस्तुत की है। वहाँ, निःस्तब्ध-वातावरण में एक शब्दोच्चार से भंग होने वाली शांति के लिए एक सौंदर्यमय चित्र प्रस्तुत किया गया है।

Allegory-अन्यापदेश—इसमें एक लंबी और अविच्छिन्न परम्परा रूपकों की चलती है। एक अप्रकृत-व्यापार की लड़ी साम्य के आधार पर प्रस्तुत की व्यंजना करता है। Pilgrims Progress तथा Fairy Queen एवं Bible के Parable इसके उदाहरण हैं। परंतु सभी Parables इसके उदाहरण नहीं हो सकते। बेन ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—"When a comparision is protracted and sustained through numerous details, it is named an allegory"

अवशिष्ट उपमा के प्रकार—

(१) सामान्य के लिए विशेष का कथन—"रोटी के लिए मरता हूँ"—में 'रोटी' सामान्य भौतिक आवश्यकताओं के लिए प्रयुक्त है। भारतीय दृष्टि से यह एक लाक्षणिक प्रयोग मात्र माना जायगा और वह भी रूढ़ लक्षणा से संबद्ध।

(२) विशेषीकरण की प्रक्रिया का चरमरूप—जब हम किसी व्यक्ति विशेष के नाम से प्रासंगिक गुणों का बोध कराना चाहते हैं—तो वहाँ यह स्थिति होती है! जैसे, गाँधी का गला घोंटा जा रहा है। यहाँ 'गाँधी' शब्द का प्रयोग 'सत्य और अहिंसा' जैसे गुणों के लिए किया गया है।

(३) व्यक्ति के लिए जाति का कथन—इसका प्रयोजन है बात को वैदग्ध्यपूर्ण ढंग से कहना। जैसे, Deranged for mad
Departed for dead आदि।

(४) सूक्ष्म के लिए स्थूल का कथन या अमूर्त के लिए मूर्त का प्रयोग—He kept the fool within

(५) स्थूल या मूर्त के लिए सूक्ष्म एवं अमूर्त—हमारी अहिंसा आज संसार से उठ गई।

(६) असंख्येय को संख्येय—"A great man is eight times a man."

(७) उत्कर्ष प्रदर्शनार्थ संज्ञा विशेष का प्रयोग—A man of quality, A man of taste.

(२) सहगामिता पर आश्रित अलंकार :—

सहगामिता (Contiguity) पर आश्रित अलंकारों में या तो किसी सहवर्ती का नाम या अंगभूत वस्तु का नाम लिया जाता है और उसी द्वारा संबद्ध का बोध करा दिया जाता है।

✓सहवर्ती (Metonymy) :—It has several verities determined by the character of the accompaniment made use of

(क) सहवर्ती के भेद—(1) जब हम किसी चिह्न, प्रतीक अथवा सहवर्ती तत्व का नाम लें, जैसे—'राजसत्ता' का बोध कराने के लिए राजमुकुट, राजसिंहासन अथवा राजदंड का कथन।

(ii) कभी-कभी 'कर्ता' के स्थान पर 'करण' का नाम ले लिया जाता है। जैसे, Cowley ने क्रामवेल के लिए लिखा है—

He set-up parliaments by the stroke of his pen and scattered them with the breath of his mouth.

(iii) आधेय के लिए आधार का कथन—

उन्हें देखने के लिए सारा शहर उमड़ पड़ा। यहाँ शहर के आदमियों की जगह 'शहर' शब्द का ही प्रयोग किया है।

(iv) कारण के लिए कार्य का कथन—

रास्ता काफी छायादार है। यहाँ वृक्षों से दोनों ओर घिरा हुआ है—ऐसा न कहकर 'छायादार'–है–यह कहा गया है।

(v) निर्मित या कृति के लिए निर्माता का कथन—

"शिशुपालवध' में लिखा है'—की जगह 'माघ में लिखा है"—ऐसे प्रयोग भी चलते हैं।

(vi) चित्तवृत्ति के आलम्बन की जगह चित्तवृत्ति का ही कहना—ये तो मेरी प्रसन्नता हैं।

✓(ख) Synechdoche

(i) अग से अंगी का बोध कराना—वहाँ बहुत से हाथ काम कर रहे थे।

(ii) अंगी द्वारा अंग का बोध—हँसता हुआ वर्ष (बसंत के लिए)

(iii) उपादान के लिए उपादेय का प्रयोग—खड्ग के लिए लोहा का प्रयोग। युद्ध में लोहे बरस रहे थे।

(iv) सिक्के के लिए मूल धातु का प्रयोग

(ग) विशेषण-विपर्यय—वास्तविक विशेष्य से हटाकर जब दूसरे शब्द से विशेषण को संबद्ध कर दिया जाय।

(घ) सहगामी परिस्थितियों द्वारा वस्तु कथन—धक्कामार वक्ता।

(ङ) लाक्षणिक शब्द कभी-कभी इतने रूढ़ हो जाते हैं कि वे कोष मे वाचक शब्दों की श्रेणी में परिगणित होने लगते हैं और कभी-कभी आलकारिक पर्यायमात्र बन कर रह जाते हैं। जैसे, List के लिये Roll। भारतीय दृष्टि से ये प्रयोग निरूढ़ा लक्षणा के उदाहरण हैं।

ऐसे लक्षक शब्दों में जब तक वाच्यार्थ सॉस लेता रहता है तब तक उसका प्रयोग निम्नाकित रूप में होता रहता है जैसे Rank शब्द है—इसका प्रयोग फौजी सिपाहियों के लिए तो होगा, पर 'बैरक' में बैठे हुए लोगों के लिए कठिन है।

इन प्रकारों का सहारा लेने से शब्द के अर्थ प्रगुणित हो जाते हैं। पर ऐसे प्रयोगों से अस्पष्टता (Ambiguity) बढ़ती और स्पष्टता (Clarity) कम होती है।

(३) विरोधमूलक अलंकार

अतर या वैषम्य से भी अभिव्यंजक अपने भावों एवं विचारों की स्पष्ट अभिव्यंजना कर लेता है। इसके प्रभेद इस प्रकार हैं—

Antithesis—Antithesis in its fullest sense, consists in explicity stating the contrast implied in the very meaning of a term or a fact अर्थात् यदि किसी शब्द में निहित अंतर्विरोध हो तो उसे स्पष्ट कर दिया जाय। इसके विभिन्न रूप यों होंगे—

(क) जातिगत विरोध—'गति के लिए कहा जाय "मस्ती नहीं काट रहा हूँ।" आनंद के लिये कहा जाय—"दुःख नहीं है"

(ख) व्यक्तिगत विरोध—प्रकाश और गर्मी, प्रतिभा और निर्णय—यहाँ विरोध तो नहीं है—पैर भेद अवश्य है।

(ग) किसी शब्द के अर्थ को सीमित करने के लिये किसी दूसरे पारिभाषिक शब्द का प्रयोग जैसे वह नौकर (servant) आपका क्रीतदास (slave) तो नहीं है।

(घ) भावोत्तेजनार्थ कभी-कभी भावात्मक वैषम्य प्रदर्शित किया जाता है—

यहाँ एक ऐसा भी निष्प्राण या दुर्बल व्यक्ति है मृत्यु) जो बड़े-बड़े विजेताओं को ठण्डा कर चुका है।

बेन ने यह भी बताया है कि लौकिक वक्तव्यों में जो वैषम्य दिखाया जायगा वह दुःखोत्तेजक हो सकता है, परंतु काव्य में उसकी स्थिति अवांछित है। इस प्रकार अब तक के निरूपित अलंकारों का ब्यौरा यों हुआ—
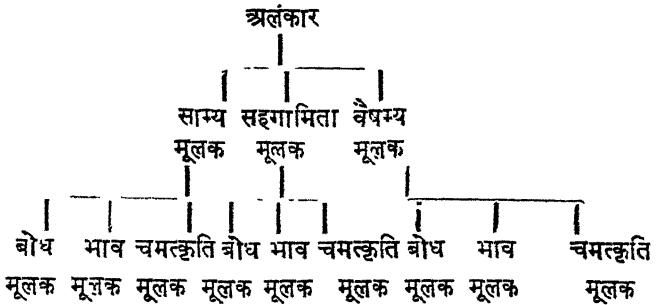
इसके अतिरिक्त भी अन्य अलंकारों का वर्णन किया गया है। जैसेः—

१—(क) Epigram एपिग्राम—

"The Epigram is an apparant contradiction in language, which by causing a temporary shock rouses our attention to some important meaning underneath."

एपिग्राम भाषा-गत आपाततः भासमान विरोध है, जो क्षणभर के लिए एक विस्मय में डालकर राह में निहित किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ग्राहक को आकृष्ट करता है। जैसेः—

(1) The Child is father of the man–(Wordsworth)

(ii) Identical Assertion—में भी शब्दों के प्रयोग से एक क्षणिक स्तब्धता पैदा की जाती है जैसेः—

What I have written, I have written.

(iii) Seeming Irrelevent—आपाततः असंबद्ध–प्रतीति जैसे—अनजाने प्रदेश में जहाज डूब जाने के कारण निस्सहाय व्यक्ति जिस टापू पर उतरा–वहाँ फाँसी के तख्ते पर लटका हुआ एक आदमी पहले से ही पड़ा था। उसे देखकर उसने कहा—"सभ्य प्रदेश में आ गया हूँ।"

(iv) प्रसिद्ध लोकोक्ति को उलट देना (The turning of a familiar saying in to some contradictory or

unexpected shape) जैसे:—All men are born unequal.
The survival of the unfittest.

(v) शब्दच्छल (Play upon words):—

प्रश्न—Is life worth living ?

उत्तर:—That depends on the liver (जीनेवाला, यकृत्) यह भेद एपिग्राम का कोई भेद नहीं है। यह अलंकार शाब्दिक चमत्कार पर आधारित है। प्राचीन साहित्य में यह Pun बहुत था पर संप्रति इसकी स्थिति केवल हास्यमय प्रसंगों में ही की जाती है।

२—(ख) वाक्य का संक्षेपीकरण The condenced-sentence):— This is an artificial abbreviation of the structure, apparently involving impropriety or incongruity.

अर्थात् यहाँ कृत्रिमरूप से वाक्य की बनावट में संक्षेपीकरण का एक ऐसा प्रयास होता है जिससे आपाततः अननुरूपता आभासित होती है—पर ध्यान देने पर वह वास्तविकता का आवरण बनना बंद कर देती है। जैसे:— There was not one who enjoyed a life of peace or a natural death शायद ही इस भूतल पर कोई हो जिसने शांतिपूर्ण जीवन का आनंद लिया हो या स्वाभाविक मृत्यु प्राप्त की हो।

३—Innuendoyor = व्याजस्तुति

"Implying a suggesting, instead of stating plainly often increased the effect of what is intended to give either pain or pleasure." अर्थात् जहाँ सुखात्मक या दुःखात्मक वृत्तियों को प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त करने के लिए अपने अभीप्सित वक्तव्य को सरल या अभिधात्मक ढंग से न कहकर भावात्मक और व्यंजक ढंग से कहा जाय। सिडनी स्मिथ ने किसी अर्धपठित पुस्तक के सबंध में पूछने पर कहा—I sincerely hope that it will improve (अर्थात् अब तक अच्छी नहीं लगी)। जब व्यंजकता को साहित्यिक ऊँचाई तक पहुँचा दिया जाता है तब यह अलंकार बनता है। वस्तुतः इस अलंकार का प्रयोग निंदा के प्रसंग में किया जाता है—पर साथ ही यह भी रहता है कि निंदित वक्तव्य को गूढ़ ढंग से व्यक्त करना अभीप्सित हो—स्पष्ट ढंग से नहीं। 'व्याजस्तुति' से मिलता जुलता रूप अवश्य है—पर उसके एक ही उस पक्ष से जहाँ स्तुति द्वारा निंदा व्यक्त की जाती हो। व्यंजना में पर्याप्त गूढ़ता न

होनी चाहिए। भारतीय आचार्यों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि व्यंग्य वही श्लाध्य और उत्तम होता है जो न तो अति स्फुट हो और न तो अति अस्फुट ही। Euphemism यूफेमिज्म।

४—Irony (Verbal, Dramatic)—"It consits in stating the contrary of what is meant there being something in the tone or the manner to show the speakers real drift"

अर्थात् यों तो यहाँ वक्ता का जो अभीप्सित वक्तव्य होता है—उसके विपरीत ही वह बोलता है—पर उसके बोलने के स्वर या ढंग अथवा प्रवाह में कुछ ऐसी विशेषता होती है कि जिससे श्रोता उसकी तह में निहित भाव की ओर बढ़ जाता है। जैसे:—"निस्सन्देह, आदमी तो तुम्हीं हो, तुम्हारे साथ सारी बुद्धिमत्ता मर जायगी।"

५—Interrogation :–With a view to imperessiveness we often employ the form of interrogation without meaning to an actual question.

प्रभावोत्पादकता लाने के लिए प्रायः हम कभी बिना वास्तविक प्रश्न द्योतक स्थिति के ही वाक्य को प्रश्नात्मक आकार दे दिया करते हैं। इसका उपयोग वाग्मिताशास्त्र के लिए पर्याप्त होता है। Old Testament एवं New Testament में इसका उपयोग ज्यादा हुआ है। ग्रीक वाग्मिताशास्त्र में इस अलंकार का बहुत अधिक समृद्ध रूप मिलता है।

O cuckoo! Shall I call thee bird?
Or but warbling voice?

इस अलंकार के कई उपयोग हैं—(१) किसी बात को बोध गम्य बनाने के लिए, (२) संदेह-निवारणार्थ, (३) अनिवार्य स्थिति को स्पष्ट करने के लिए, (४) तीव्र भावना व्यक्त करने के लिए।

(६) Exclamation—Under sudden or intense emotion, our language becomes abrupt, inverted or elliptical.

आकस्मिक या घनीभूत उत्तेजनाओं के अवसर पर हमारी भाषा सहसा फूट पड़ती है और सहसा फूट पड़ने के कारण कभी टूटी-फूटी, कभी उलटी और कभी गोलमटोल हो जाती है। जैसे—

Oh, Ah, dead, long dead, long dead.

(७) Apostrophy:—Under great intensity of emotion, we may address the absent as if present."

कभी-कभी हम भावावेश में अनुपस्थित व्यक्ति को भी इस प्रकार संबोधन करते हैं जैसे—वह विद्यमान ही हो।

वेन जानसन ने शेक्सपियर के लिए लिखा है—

"Soul of the age!
The applause, delight, the wonder of our stage!
My Shakespere rise."

(८) Vision—This is allied to apostrophy and consists in the vivid representation of the absent as if present to the sense.

यह उपर्युक्त अलंकार से मिलता-जुलता है। इसमें भी अविद्यमान वस्तु का इस प्रकार सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किया गया रहता है जैसे इंद्रियों के समक्ष विद्यमान वस्तु का ही विवरण दिया जा रहा हो। जैसे—

I saw a vision in my sleep,
That gave my spirit strength to sweep आदि

(९) Hyperbole (अत्युक्ति)—This is an effect gained by magnified things beyond their natural bounds.

इसके लिए तीन अनिवार्य शर्तें हैं—(१) चमत्कार जनक हो, (२) वास्तविकता पर परदा न डाले तथा (३) भाषा में रोचकता हो।

वड्सवर्थ ने वसंतदिवस के लिए कहा है—One moment now may give us more than fifty years of reason आदि।

(१०) Climax—वक्तव्य को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए एक विशेष क्रम से, एक विशेष पृष्ठभूमि में वक्तव्य को रखना।

किसी व्यक्ति के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए हम कहें—

निष्ठुर ......क्रूर......नृशंस......राक्षस......

पुराने लोगों ने और भी अलंकारों की चर्चा की थी, पुनरावृत्ति के भय से वेन ने उनका पुनः उल्लेख नहीं किया। कुछ अन्य साधारण अलंकार इस प्रकार हैं—

(१) Reiteration (Repetetion) वीप्सा-अलंकार—इसके अनेक भेद हैं—

(क) Palilogia अथवा Anadiplosis,—Simple repetetion of the same word—एक ही शब्द को दुहराना

O, earth, earth, earth,
Bear the world of lord

(ख) Epanaphora:—आरंभिक वाक्याश की आवृत्ति—वारेन हेस्टिंग्स के संबंध में वक्तृता है जिसमें हर बार "I impeach him" को दुहराया गया है।

(ग) Antistrophe—अंतिम वाक्य-खंड की आवृत्ति

Wit is dangerous
Eloquence is dangerous
A talent for abstraction is dangerous

(२) Asyndeton (संयोजक अव्यय का अभाव) वक्तव्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाय कि वह जीवंत हो उठे

(३) Polysyndeton—[पूर्वोक्त अलंकार का विपरीत] आवश्यकता से अधिक अव्यय लगाना और प्रत्येक पर जोर देना—इसका लक्ष्य है।

मिल्टन का एक उदाहरण है.....Pursues his way
And swims, or sinks or wades, or creeps or flies

(४) Epanorthosis:—The correction of an inadequate expression by one more exact or powerful.

यहाँ उत्तरोत्तर के कथन से वक्तव्य में गहराई लाई जाती है।

जैसे—War is the work
The element or rather the sport and triumph of death

(५) Litots or Meiosis—यहाँ ऐसा लगता है जैसे बात बहुत हलके ढंग की कही गई है, पर वहाँ व्यंजना प्रबल एवं सशक्त अर्थ की रहती है।

रीतिवाद

'काव्य-रीति' का हिंदी-साहित्य के इतिहास के संदर्भ मे चाहे जो अर्थ हो—पर भारतीय साहित्य-शास्त्र में 'रीति' शब्द का अर्थ है—काव्याभिव्यक्ति या काव्यनिर्माण के लिए गृहीत काव्योचित पद-रचना। इस अर्थ में जब भारतीय साहित्य शास्त्रियो के रीति संबधी ऐतिहासिक विकास-क्रम पर हम दृष्टिपात करते हैं—तो यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि उसका विवेचन मूलतः तीन भूमियों पर हुआ है—प्रादेशिक, वैषयिक एव वैयक्तिक या स्वभावगत।

प्रादेशिक-भूमि-पर काव्य-रीति के स्वरूप-निरूपण का अर्थ है—प्रदेश-भेद से अभिव्यक्ति-पद्धति का भेद। यह अनुभवसगत तथ्य है कि व्यक्ति-व्यक्ति की भाषा पर प्रादेशिक प्रभाव अवश्य पडता है। खासकर जब थोड़ा विस्तृत पैमाने पर दो प्रदेशो की भाषाओं का तुलनात्मक विवेचन किया जाय—तो दोनो का न केवल भाषा वैज्ञानिक या व्याकरणिक वैषम्य ही लक्षित होता है—वरन् अभिव्यक्ति पद्धति में भी कुछ न कुछ वैशिष्ट्य लक्षित होता ही है। इस प्रकार पूर्ववर्ती आचार्यों ने देश भेद से काव्योचित पद रचना के वैशिष्ट्य का जो विचार प्रस्तुत किया है—वह काव्यरीति का प्रादेशिक भूमिका पर किया गया विचार है। इस प्रकार का विचार न केवल आलंकारिको ने ही किया वरन् कवियों ने भी प्रसग वश प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ महाकवि बाण ने कहा कि उदीच्य के कवियों की पदरचना में श्लेषबाहुल्य, प्रतीच्य की काव्योचित पद योजना में अर्थ संबंधी सौष्ठव, दाक्षिणात्यों में उत्प्रेक्षा का बाहुल्य और गौड़ काव्यों में अक्षराडम्बर प्रायः अधिक लक्षित होता है।

कवियों के अतिरिक्त आलंकारिकों को जब हम देखते हैं—तो पाते हैं कि भामह ने भी काव्योचित 'मार्ग' का प्रादेशिक भूमिका पर विचार किया है। उन्होंने काव्य में दो ही मार्गों का उल्लेख किया—पहला वैदर्भ और दूसरा गौड़। वैसे तो भरत नाट्य शास्त्र में भी देश भेद से आवन्तिका, पांचाली दाक्षिणात्या एवं औड्रमागधी जैसी प्रवृत्तियों का उल्लेख है—पर बाद के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि अब विशेषकर केवल दक्षिण एवं पूर्व की काव्य-शैली को ही शब्द एवं अर्थ सबंधी विशेषताओं से भिन्न बनाकर विवेचन होने लगा था। भामह ने उन लोगों की मान्यता पर आक्षेप किया है जिन लोगों ने यह माना है कि वैदर्भ ही प्रशस्त मार्ग है और गौड़ीय नहीं।

उन्होने माना है कि दोनों ही अवसरोचित विशेषताओं से सम्पन्न होकर प्रसंशनीय हो सकते हैं। माना कि 'वैदर्भ' में प्रसन्न, ऋजु, कोमल एवं श्रुतिपेशल पद रचना होती है—पर यदि वहाँ साभिप्राय पदावली और काव्योचित वाँकपन न हो तो यह मार्ग किस काम का ? और गौड़ मार्ग में भी सुंदर समुचित एवं प्रसन्न अर्थ योजना हो तो क्या वह काम का न होगा ? भामह के संबंध में एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि काव्य मार्ग के निरूपण प्रसंग में परवर्ती आलंकारिकों की भाँति 'गुण' का उल्लेख निरूपण काव्य-मार्ग के वैशिष्ट्य-निरूपण में नहीं किया।

इसी प्रादेशिक भूमिका पर विचार करने वालों में दण्डी भी हैं—पर वे भामह से कई बातों में भिन्न भी हैं। यद्यपि भामह की भाँति इन्होंने भी वैदर्भ एवं गौड़—नाम के दो मार्गों का उल्लेख किया है—पर सबसे पहले आचार्य कदाचित् दण्डी ही हैं जिन्होंने गुणों को काव्य-मार्ग की असाधारण विशेषता के रूप में उल्लिखित किया। उन्होने 'काव्य-मार्ग' का विश्लेषण करते हुए यह बताया कि उन मार्गों का वैशिष्ट्य अलंकारों पर निर्भर है—पर वे अलंकार दो प्रकार के हैं—कुछ साधारण और कुछ असाधारण। असाधारण अलंकार को ही 'गुण' बताया है और इन्हीं कतिपय गुणो के कारण गौड़ एवं वैदर्भ का पारस्परिक भेद स्थिर हो पाता है। दण्डी ने जिन दसगुणो की स्थिति वैदर्भ मार्ग में माना है उन्हीं का 'गौड़' में वे प्रायः अभाव मानते हैं—यही कारण है कि भामह के विपरीत वे वैदर्भ को गौड़ से प्रशस्त मार्ग मानते हैं। तीसरी विशेषता दण्डी की यह भी है कि वे स्वभाव भेद से काव्यमार्ग के अनंत्य का उल्लेख करते हुए भी यह मानते है कि सामान्यतः उसके दो ही भेद हो सकते हैं।

इसी भूमिका पर काव्य-मार्ग को 'रीति' नाम से काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित करने वाले आचार्य है—वामन। वामन ने यद्यपि काव्य की उपादेयता 'अलंकार' के कारण मानी है और सौंदर्य के पर्याय रूप में उसका प्रयोग किया है—पर यहाँ अलंकार शब्द नितांत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया है। अलकार 'सौंदर्य' के अर्थ में ही नहीं—'सौंदर्य-साधन' के अर्थ में भी उनके द्वारा प्रयुक्त हुआ है। सौंदर्य-साधन के अंतर्गत दोषाभाव, गुण एवं अलंकार सीमित अर्थ में शव्दार्थालंकार—इन तीनों का उन्होने ग्रहण किया है। फिर गुण एवं अलंकार में यह अन्तर भी स्वीकार किया है कि पहला सहज सौंदर्य का स्रोत है और दूसरा सहज सौंदर्य की परिवृद्धि में सहायक है। वस्तुतः दोनों में आपेक्षिक महत्व 'गुण' को ही है—क्योंकि इसके अभाव में काव्यो-

चित सहज-सौंदर्य का अभाव होगा और काव्योचित सहज-सौदर्य के अभाव में पद-रचना काव्य ही नहीं हो सकती। अतः एक क्रम से इन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि काव्य में 'गुण' की स्थिति किसी भी उक्ति को काव्यात्मक उक्ति के रूप में परिणत करने के लिए नितांत आवश्यक है। इस क्रम को देखते हुए यह विरोधाभास स्वयं शांत हो जाता है कि एक ही आलकारिक 'अलंकार' एवं 'गुणमयी पदरचना' अर्थात् 'रीति'-दोनों की एक साथ और अविरोधी रूप में काव्य का मूलतत्त्व किस प्रकार कह रहा है? एक तरफ वे 'काव्यं ग्राह्य मलंकारात्' कह रहे हैं और दूसरी ओर 'रीतिरात्मा काव्यस्य'—इसका समन्वय और समाधान पथ क्या है? पर जब हम यह देखते है कि 'अलंकार' के ही अंतर्गत 'गुण' को रखकर उसे काव्य के लिए अनिवार्य सहज सौंदर्य का स्रोत बताते हैं—तो उनकी बात स्पष्ट हो जाती है और सारा विरोधाभास शांत हो जाता है।

वामन ने वैदर्भ एवं गौड़ की जगह 'पाञ्चाल' नामक और एक और काव्य रीति को प्रादेशिक-भूमिका पर ही स्थापना की। इसी प्रसंग में उन्होने 'रीति' का स्वरूप बताते हुए कहा है कि 'रीति ही काव्य की आत्मा' है और 'रीति, विशिष्ट पद रचना' है। इस रीत्यात्मक पदरचना के वैशिष्ट्य का निमित्त है—गुण। गुण संख्या में कुल २० है—दस शब्दगत एवं १० अर्थगत। नाम है—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कांति एवं समाधि। ये ही दस गुण शब्द के भी है और अर्थ के भी—परंतु लक्षण दोनो के अलग-अलग है। इन समग्र बीस गुणों से विशिष्ट पदरचना 'वैदर्भी' रीति है। ओज एवं कांति से सम्पन्न गौड़ीया है और माधुर्य तथा सौकुमार्य से सम्पन्न पाञ्चाली। इन तीनों में काव्य की आत्मा वस्तुतः 'वैदर्भी' रीति ही है—वही तात्त्विक रीति है—अवशिष्ट दोनों रीतियाँ अतात्त्विक हैं। अतः कवि इनका अभ्यास 'वैदर्भी' में पारंगत होने के लिए करे। परवर्ती आचार्यों में एक तो इनके टीकाकार तिप्पभूपाल और दूसरे अलंकार संग्रहकार अमृतानंदयोगिन् ही हैं जो वामन के अनुयायी दिखाई पड़ते हैं, ये लोग भी रीति को आत्मा मानते है।

जहाँ तक वामन का अन्यविध काव्यगत तत्त्वों से संबंध है—यह कहा जा सकता है कि उन्होने 'अलंकारों (सीमित अर्थ में—शब्दार्थालंकार) को काव्योचित सौंदर्य 'गुण' की अपेक्षा परवर्ती या पृष्ठवर्ती स्थिति मानी है। गुण यदि काव्योचित सहज सौंदर्य के स्रोत हैं तो अलंकार उस मूल एवं सहज सौंदर्य के उत्कर्षक। 'रस' की चर्चा यद्यपि विभिन्न प्रसंगों में की है,

परंतु 'कांति' (दीप्तरसत्वं कांतिः) के अंतर्गत 'रस' को रखकर भी कांतिमती गौड़ीया को अतत्वभूत कहना 'रस' के प्रति उनकी सम्मानजनक दृष्टि का सूचक नहीं है। यद्यपि 'काव्येषु दशरूपकं श्रेयः''—कहते हैं वामन—परंतु दशरूपकों के श्रेयस्त्व का सूचक भी 'रस' को वे नहीं मानते। उनका तो यह ख्याल है कि 'चित्रपटवत्' दृश्य काव्य में गद्य एवं पद्यबद्ध समस्त अन्य-विध काव्यरूपों का एकत्र मिश्रण यहाँ उपलब्ध हो जाता है—अतएव दृश्य काव्य मनोहारी होता है। निष्कर्ष यह कि रस के संबंध में उनकी मान्यता अच्छी नहीं कही जा सकती। 'वक्रता' का जहाँ तक संबंध है—वे पूर्ववर्ती एव परवर्ती आचार्यों से अपना अस्तित्व इस विषय में भी पृथक् कर लेते हैं। उनका कहना है "सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः''—सादृश्य-मूलक लक्षणा ही वक्रता है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने समस्त अलंकारों के व्यापक मूल के रूप में 'वक्रता' की चर्चा की थी। परवर्ती आचार्यों में से यदि एक ओर कुंतक काव्य की आत्मा के रूप में 'वक्रोक्ति' का नाम लेते हैं तो दूसरी ओर शब्दालंकार के एक भेद के रूप में भी 'वक्रोक्ति' का नाम लिया जाता है। भोज ने भी 'लक्षणा' को वक्रोक्ति का जीवित कहा है—पर समस्त 'लक्षणा' को—न कि केवल सादृश्यमूलक लक्षणा को। 'ध्वनि' के समानार्थी तत्त्वों का अस्तित्व गुण एवं अलंकारो के अंतर्गत ही सीमित मानते हैं। इस प्रकार अन्यविध काव्यतत्त्वीय धारणा वामन की यही है।

वामन के बाद आनेवाले ध्वनिवादी आचार्य आनंदवर्द्धन ने काव्य-मार्ग की संज्ञा प्रादेशिक भूमिका और गुणात्मक आधार—सभी नयी दृष्टि से विवेचित किये सबसे पहली बात तो यह कि जहाँ पूर्ववर्ती आचार्य इसे 'मार्ग' या 'रीति' या 'वर्त्म' कहते थे—वहाँ आनंदवर्द्धन ने उसकी जगह 'संघटना'—शब्द का प्रयोग किया। जहाँ पूर्ववर्ती आचार्यों ने इसका विवेचन एक प्रादेशिक वैशिष्ट्य के रूप में किया था—वहाँ इन्होंने 'रस' [या 'विषय] की दृष्टि से वैषयिक भूमिका पर उसका उपयोग बताया और विश्लेषण प्रस्तुत किया। जहाँ पूर्ववर्ती आचार्यों ने गुणों के द्वारा काव्यमार्ग का स्वरूप और वैशिष्ट्य निरूपित किया—वहाँ इन्होंने सामासिकता या असामासिकता के आधार पर उसका विवेचन प्रस्तुत किया। आनंद ने बताया कि काव्य में संघटना रसों की दृष्टि से तीन रूपों में हो सकती है—यदि माधुर्यगुण सम्पन्न रस हैं तो असमासा या अल्पसमासा, यदि ओजो गुण सम्पन्न रस हैं—तो समासा या दीर्घसमासा और मिश्र स्थिति में मध्यसमासा संघटना का विधान हो सकता है। इसी प्रसंग में उन्होंने इसके अपवाद पर

भी विचार किया है। कहा है कभी-कभी काव्यरूप वर्ण्य विषय तथा वक्ता के औचित्य का अनुरोध मानकर पूर्वोक्त नियम में शिथिलता भी लाई जा सकती है। काव्य रूप अर्थात् दृश्यकाव्य की दृष्टि से लें तो रौद्र रस के प्रसंग में भी दीर्घसमासा रचना शिथिल हो सकती है। कारण यह है कि दृश्यकाव्य का सर्वस्व 'रस' है। रस की उत्कृष्ट प्रतीति अर्थ प्रतीति की शीघ्रता पर निर्भर है। सामासिक पदावली विभावादिरूप अर्थ तक पहुँचने में बाधा डाल सकती है--अतः उसे शिथिल करना काव्यरूप की दृष्टि से एक उचित बात है। इसी प्रकार माना कि वर्ण्यविषय कोई भयावह वस्तु हो तो उसकी भयावहता को शब्द द्वारा भी ध्वनित करना उचित है-अतः वीर वीभत्स एवं रौद्र का प्रसंग न रहने पर भी सामासिक संघटना आवश्यक और उचित है। ऐसे ही भीम जैसा वक्ता किसी भी रस का प्रसंग हो—अपने ओजस्वी व्यक्तित्व के औचित्य के अनुरोध से सामासिक बंध का ही प्रयोग करेगा। हाँ कुछ स्थल ऐसे भी हो सकते है जहाँ इन सबका एकत्र बलाबल सोचना पड़े तो यह सब कवि की प्रतिभा पर है कि वह प्रसंगोचित सोच लें।

इसी प्रसंग में आनंदवर्द्धन की संघटना के विषय में यह भी एक प्रश्न खडा होता है कि आखिर ये महाशय संघटना का गुण से कोई संबंध मानते हैं या नहीं, पूर्ववर्ती आचार्य तो मान रहे थे। इस विषय पर भी विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि इनसे पूर्ववर्ती लोगो में से यदि अलंकारवादी गुण एवं संघटना को अभिन्न मानते थे, तो रीतिवादी संघटना में गुण की स्थिति मानते थे-पर इन दोनो का ही मत इसलिए अग्राह्य है कि दोनों के ही मतों में संघटना की भाँति गुणों का भी विषय अनियत हो जायगा। अतः उक्त दोनों ही मत सर्वथा ग्राह्य नहीं है। फलतः आनंदवर्द्धन का विचार यह है कि गुण को संघटनाश्रित न मानकर संघटना को ही गुणाश्रित मानना संगत है। संघटना को गुणाश्रित मानने का मतलब यह है कि संघटना का विधान गुणानुरूप हो। निष्कर्ष यह कि ये भी गुण और संघटना का संबंध मानते हैं—परंतु पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न। हाँ, ध्वनिकार ने यह भी कहा है कि यदि संघटना के विनियोग को भी नियम बद्ध कर दिया जाय-तो शेष दो मतों को भी अभ्युपगम सिद्धांत के अनुसार माना जा सकता है।

इस प्रकार यद्यपि ध्वनिकार ने काव्यमार्ग संबंधी चिंतन को प्रादेशिक भूमिका से विच्छिन्न कर दिया था--फिर भी अनेक विचारक ऐसे हैं जो अभी भी प्रादेशिक आधार पर नव-नव काव्यमार्गों का निर्माण करते जा रहे थे। रुद्रट ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने एक तरफ रसौचित्य की दृष्टि से काव्य-

रीतियों की चर्चा की और दूसरी ओर प्रादेशिक भूमिका पर 'लाटी' नामक चौथी काव्यरीति की भी सृष्टि की। आवन्तिका और मागधी-नामक दो और रीतियों का उल्लेख भी भोज ने इसी पृष्ठभूमि पर किया। निष्कर्ष यह प्रादेशिक भूमिका पर बहुत बाद तक विचार होता रहा—यद्यपि ध्वनिकार ने उसकी धारा बीच से भंग कर दी थी।

प्रादेशिक एवं वैषयिक भूमिका से हटकर कुतक ने कवि के **स्वभाव** के आधार पर पुनः 'मार्ग' नाम से काव्य-मार्ग का विवेचन किया। उन्होंने बताया कि कुछ कवि सहज प्रतिभा से सम्पन्न होते हैं और कुछ व्युत्पत्ति एवं अभ्यास से उत्पन्न होने वाली उत्पाद्य प्रतिभा से पहले का मार्ग रसमय होने से **सुकुमार मार्ग** कहा गया है और दूसरे का मार्ग कुछ व्युत्पत्ति और अभ्यास से उत्पन्न चामत्कारिक सरणि स्वीकार करने से 'विचित्र मार्ग'। एक तीसरा मार्ग 'मध्यम' भी माना गया है—जहाँ दोनों तरह के स्वभाव का मिश्रण हो सकता है। पूर्ववर्ती आलंकारिको की भाँति इन्होंने भी इन मार्गों के दो सामान्य और चार विशेष गुण बताये हैं। सामान्य गुण हैं—औचित्य एवं सौभाग्य और विशेषगुण हैं—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य एवं आभिजात्य।

इन त्रिविध भूमिकाओं के संबंध में यह विचार करना आवश्यक जान पड़ता है कि इनमें से किसका महत्त्व स्वीकार्य है। सबसे पहले प्रादेशिक या भौगोलिक भूमिका को लें—यद्यपि कुंतक ने इसका खंडन किया है और कहा है कि देश-देश के सामाजिक आचारों की भाँति काव्य-गत रीति विधान वाह्य-परम्परा मात्र-सापेक्ष नहीं है—उसका सबंध कवि की आतर शक्ति से है। अतः प्रादेशिक दृष्टि से काव्य मार्ग का विचार ठीक नहीं। यद्यपि इस संबंध में कुंतक ने अपना एकांत निर्णय दे दिया है—फिर भी अनुभव सगत और परम्परागत तथा सर्वस्वीकृत प्रादेशिक प्रभाव को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह अवश्य है कि काव्य मार्ग केवल इसी वैशिष्ट्य पर आधारित नही है। पर काव्य में रस की उपासना करने वाला—वर्ण्य विषय को महत्त्व देने वाला तदर्थ 'विशेष' या 'व्यक्ति' की अपेक्षा 'सामान्य' या 'जाति' की ओर झुकने वाला भारतीय आचार्य काव्यमार्ग की वैषयिक भूमिका को छोड़ ही नहीं सकता। वैषयिक भूमिका से काव्य-मार्ग पर विचार करनेवाले ध्वनिवादियों ने 'वक्तृ-स्वभाव' का भी ध्यान रखा ही है। कम से कम भारतीय दृष्टि काव्य में 'विषय' की अपेक्षा 'व्यक्ति' को अधिक महत्व तो नियमतः नहीं दे सकती। यद्यपि कुतक ने कवि-स्वभाव को महत्त्व दिया—पर अंततः कवि की प्रतिभा—सहज एवं सायास—द्वारा

'मार्ग' के वैशिष्ट्य का निरूपण करते हुए भी अंततः रसमयी सहज प्रतिभा का मार्ग एवं वैचित्र्योपासक उत्पाद्य प्रतिभा के मार्ग—जैसा वर्ण्य-नियंत्रित वर्गीकरण ही स्वीकार किया। 'स्वभाव' की चर्चा करते हुए भी मार्ग को 'सामान्य' एवं विशेष गुणों' द्वारा विषयोन्मुख कर ही दिया। इसीलिए डा० डे का यह कहना कि व्यक्तित्वाधारित पश्चिमी शैली का विषयाधारित पूर्वी रीति से ऐक्य-स्थापन संगत नहीं है—बहुत कुछ साधार कथन है। दण्डी एवं कुंतक यद्यपि एक तरफ यह कहते हैं कि कवि स्वभावभेद से काव्यमार्ग के अनन्त भेद हैं--फिर भी वे लोग क्रमशः दो या तीन भेदों की ओर ही मुड़ जाते हैं और अनायास भारतीय प्रकृति उनके काव्यमार्ग विवेचन को विषय-विजड़ित कर देती है। इसलिये इन तीनों आधारों में मुख्यता 'विषय' की है। 'विषय' विषयी या व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत है—अतः 'व्यक्ति के स्वभाव' का भी आपेक्षिक अवस्थान मानना गलत नहीं है। परन्तु यदि 'विषय का उल्लंघन करता हुआ काव्यमार्ग को बदलने लगेगा तो कवि अपने प्रतिपाद्य का समुचित निर्वाह नहीं कर सकता। अतः काव्यमार्ग के प्रसंग में 'स्वभाव' को 'विषय' नियंत्रित होना ही पड़ेगा। हाँ, जहाँ 'स्वभाव' ही वर्ण्य हो—वहाँ की बात अलग है। प्रादेशिक विशेषता का महत्त्व इन दोनों की अपेक्षा कम है। इस प्रकार इन तीनों आधारों का तारतमिक स्थिति यही जान पड़ती है। प्रादेशिक भूमिका के दुर्बल होने पर भी बाद तक के आलंकारिक इसी दृष्टि से अनेक रीतियों का उल्लेख करते गए है। रुद्रट की लाटी तथा भोज की आवन्तिका एवं मागधी ऐसी ही हैं।

अब तक के आचार्यों की जिन तीन भूमिकाओ की चर्चा की गई है—इन लोगों में से कुछ ने काव्य मार्ग का आधार 'गुण' को और कुछ ने 'समास' को माना है—पर एक वर्ग ऐसा भी लक्षित होता है जिसने इनके अतिरिक्त अन्य तत्त्वों को भी आधार बनाया है। उदाहरणार्थ, इस वर्ग में राज-शेखर, भोज, अग्निपुराणकार एवं बहुरूप मिश्र को लिया जा सकता है जिन लोगों ने गुण एवं समास के अतिरिक्त योगवृत्ति एवं उपचार तथा अनुप्रास आदि को भी रीतियों के पारस्परिक भेदक तत्त्व के रूप में उल्लिखित किया है। उदाहरणार्थ, बहुरूप मिश्र ने दशरूपक की टीका करते हुए यह कहा है कि इन चार रीतियों का पारस्परिक अंतर १) समास तारतम्य (२) उपचार तारतम्य (३) बंध सौकुमार्य आदि के तारतम्य (४) अनुप्रास भेद (५) एवं योगादि शक्ति के भेद वश किया जा सकता है। राजशेखर ने तीन रीतियों का अंतर इस प्रकार व्यक्त किया है—

गौड़ी	पांचाली	वैदर्भी
समास	ईषदसमास	असमास
अनुप्रास	ईषदनुप्रास	स्थानानुप्रास
योगवृत्ति परम्परा	उपचार	योगवृत्ति

अग्निपुराणकार का क्रम इस प्रकार है—

पांचाली	गौड़ीया	वैदर्भी	लाटीया
उपचारयुता	दीर्घविग्रहा	उपचारविवर्जिता	अनतिगूढ़ उपचारिता
		अथवा	
मृद्वी	अनवस्थित संदर्भा	अल्पोपचारयुता	स्फुट संदर्भा
ह्रस्वविग्रहा		नातिकोमलसंदर्भा	नाति विग्रहा
(लघुसमास)		मुक्त विग्रहा	

डा० राघवन ने विद्वत्तापूर्वक विश्लेषण करते हुए कहा है कि अग्निपुराणकार ने संभवतः इस अंश को भोज से उधार लिया है। भोज के श्रृंगार प्रकाश का विवेचन कुछ इसी प्रकार का है। देखिये—

पांचाली	गौड़ीया	वैदर्भी	लाटीया
अनति दीर्घसमास	अति दीर्घसमास	असमास	ईषत्समास
अनति स्फुट बंध	परिस्फुट बंध	अतिसुकुमार बंध	अनतिसुकुमार बंध
उपचार वृत्ति	नात्युपचार वृत्ति	अनुपचार वृत्ति	नात्युपचार वृत्ति
पादानुप्रास	पादानुप्रास योग	स्थानानुप्रास योग	लाटानुप्रास योग
योगरूढ़ि	योगरूढ़िपरम्परागर्भता	योगवृत्ति	रूढ़ि

इन पाँच भेदक तत्त्वों में से चार का संबंध तो किसी न किसी प्रकार पूर्वोक्त गुणों में ही हो जाता है। उपचार वृत्ति दण्डी का समाधि गुण ही है। समास दण्डी-प्रोक्त ओज गुण से संबद्ध है। बंध का भी वहीं अंतर्भाव है। अनुप्रासादि अलंकारों को भी सामान्य अलंकार के अंतर्गत दण्डी ने काव्य-मार्ग के प्रसंगों में कह ही दिया है। अभिधा के योग एवं योगरूढ़ि—जैसे प्रभेदों की सत्ता यौगिक, योगरूढ़ एवं रूढ़ अभिधायक शब्दों के साथ ही है। इस प्रकार इन लोगों का अंतर्भाव गुणगर्भ भौगोलिक भूमिका वाले काव्य-मार्ग निरूपणपरक वर्ग में समझना चाहिए। इस प्रकार अब तक विवेचित विषय को इस प्रकार रखा जा सकता है।

वादी	संज्ञा	संख्या	भेदक आधार	भूमिका
अलंकारवादी	मार्ग या वर्त्म	२	इतर एवं गुण	भौगोलिक
रीतिवादी	रीति	३	२० गुण	,, ,,
रस एवं ध्वनिवादी	संघटना	३	समास	वैषयिक
वक्रोक्तिवादी	मार्ग	३	गुण	वैयक्तिक
अन्य		४ से ६ या उनसे भी अधिक	मिश्रित विभिन्नतत्त्व	भौगोलिक

इस प्रकार जिस मार्ग, रीति एवं संघटना का इन विभिन्न भूमिकाओं पर विचार होता आ रहा था—मम्मट ने उसे अत्यंत सीमित रूप में रखा है। रीति के साथ–साथ पूर्वाचार्यों ने प्रवृत्ति एवं वृत्ति का भी विचार किया है। वाग् विन्यास का संबंध 'रीति' से, वेषविन्यास का 'प्रवृत्ति' से और चेष्टा-विन्यास का संबंध वृत्ति से माना जाता रहा है। कतिपय आचार्यों ने बुद्धयारंभ अनुभाव के अंतर्गत इन तीनों की चर्चा की है। ध्वन्यालोककार ने 'वृत्ति' को शब्दगत एवं अर्थगत माना है। शब्दगतवृत्ति ही परुषा, उपनागरिका और कोमला के रूप से विवेचित हुई है। मम्मट ने क्या उद्भट ने ही वृत्त्यनुप्रास के अंतर्गत इन तीनो वृत्तियो की चर्चा की है। मम्मट का कहना है कि उक्त तीनो वृत्तियाँ कुछ लोगो के मतानुसार हैं। यहाँ तक आकर रीति शब्दालंकारा-न्तर्गत अनुप्रास के भी एक भेद (वृत्त्यनुप्रास) के भेद रूप में सिमिट गई है। इस प्रकार यहाँ तक यह स्पष्ट कर दिया गया कि रीति के स्वरूपगत विकास का ऐतिहासिक क्रम क्या है और रीतिवादी वामन के अनुसार रीति का स्वरूप प्रभेद तथा अन्यकाव्यीय तत्वों की स्थिति क्या है।

सम्प्रति प्रसंगतः यह भी बतला देना आवश्यक समझता हूँ कि पश्चिमी विवेचकों में भी उक्त तीनों भूमिकाएँ उपलब्ध होती हैं। भौगोलिक भूमिका पर वहाँ भी वैदर्भ एवं गौड़ की भाँति एटिक एवं एशियाटिक शैली का उल्लेख हुआ है। एथेंस के आसपास की काव्य शैली एटिक और अन्य संबद्ध एशियाई काव्यशैली एशियाटिक कही जाती है। सिसरो एवं होरेस आदि ने इसका उल्लेख किया है। बाद में पाञ्चाली की भाँति······शैली का उल्लेख किया गया। वैषयिक भूमिका पर तो यूनानी, रोमी, फ्रेंच एवं इंगलिश आलंकारिकों ने पर्याप्त विस्तारपूर्वक विचार किया है। उदाहरणार्थ, अरस्तू को ही लें—उन्होंने ही काव्य शैली का विषयानुरूप विचार करते हुए यह बताया है कि उसमें चार दोषो का अभाव और

स्पष्टता तथा औचित्य नामक दो गुणों का होना अनिवार्य है। वैयक्तिक भूमिका पर शैली के विचारों की प्रतिध्वनि Style is the man himself जैसे वाक्यों में पर्याप्त मिलती है। वैसे रोमेंटिक युगीन विचार तो काव्य शैली में वैयक्तिक वैशिष्ट्य के उद्घाटक ही हैं।

वामन की भाँति काव्य में रीति की व्यापक स्थिति का भी उल्लेख रैले एवं वाल्टर पेटर ने पर्याप्त मात्रा में किया है।

रीति संबंधी विवेचन के प्रसंग में एक प्रश्न और भी उठाया जाता है और वह यह है कि 'रीति' एवं 'शैली' कहाँ तक समान या असमान हैं? डा० डे का यह वक्तव्य है कि 'रीति' एवं 'शैली' सर्वथा असमान तत्त्व हैं। कारण यह कि 'रीति' का विवेचन विषयमुखी है और 'शैली' का व्यक्तिमुखी। उन्होंने कहा है—'It should be observed that the torm Riti is hardly epuivalent to the English word style, by which it is often rendord, but in which here is always a distinct subjection valuation." आगे चलकर उन्होंने यह भी कहा है—'But, at the sama time, the Riti is not, like the style, the expression of poetic individuality as is generally understood by western criticism, but is in merely the out word presentation of its beauty called forth by a harmonious combination of more or less fixed Litrary excellences."

डा० राघवन् ने भी कहा है कि अंग्रेजी की Style और संस्कृत की 'रीति'—को जो समान नहीं समझा जाता, उसके दो कारण हैं—(i) पहला यह कि अंग्रेजी Style का विचार नितांत व्यापक रूप में है वहाँ संस्कृत की 'रीति' का कतिपय नियत 'गुणों' पर विवेचन है। दूसरा यह कि भारतीय आलंकारिकों ने 'रीति' को २, ३, ४ या ६ तक ही कहा है और कुछ विशेष विषयो से उन्हे संबद्ध किया है जब कि अंग्रेजी Style का संबध मुख्यतः निर्माता के व्यक्तित्व से संबद्ध किया गया है। पर ध्यान देने पर पता लगता है कि ये आधार नितांत शिथिल हैं। डा० राघवन् का कहना है कि पूर्वी एवं पश्चिमी आचार्यों को 'रीति' एव "Style" संबंधी विवेचन का सिंहावलोकन किया जाय तो निस्संदेह ऐसे तथ्य सामने आते हैं कि जिनके आधार पर यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि रीति एवं स्टाइल का पर्याय रूप में प्रयोग करना कोई गलती नहीं है। ऊपर दिखाया

ही गया है कि 'रीति' के भेदक एवं स्वरूपाधायक विशेषताओं में शब्द-शक्तियाँ (रूढ़ योग आदि अभिधा तथा उपचार आदि लक्षणा) अलंकार, गुण, रस, दोष, दोषाभाव, ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य—का विभिन्न-विभिन्न रूपों में उल्लेख हुआ ही है—अतः उपर्युक्त पहली धारणा तो शिथिल है ही, दूसरी धारणा भी इसलिए शिथिल है कि भारतीय आचार्यों ने भी यह माना है रीतियाँ २, ३, ४ या ६ ही नहीं है—बल्कि ये उतनी ही हैं—जितने कवि—अर्थात् अनन्त। ऊपर के इतिहास से यह भी स्पष्ट है कि रीति के संबंध में एक तरफ उसके व्यापकतम स्वरूप का भी विचार है और दूसरी ओर अत्यंत सीमित। यहीं यह भी दिखाई पड़ता है कि 'एक तरफ उसका विषय—परक और दूसरी तरफ उसका व्यक्ति—परक निरूपण है। अतः 'रीति' एवं 'Style' को पृथक्-पृथक् कहना बहुत असंगत नहीं जान पड़ता।

डा० राघवन् के ही अनुरूप डा० नगेंद्र के भी विचार हैं। वे भी डा० डे० के अनुकूल खुले रूप से नहीं है। अपने 'रीति' संबंधी विवेचन में उन्होंने स्पष्ट विरोध तो किया है—पर निष्कर्षों में डा० डे के अनुरूप भी कह गए हैं। उनका कहना है कि Style या शैली के दो पक्ष हैं—व्यक्ति पक्ष एवं विषयपक्ष या व्यक्तितत्त्व एवं वस्तुतत्त्व। पहले के भी दो पक्ष माने हैं—कवि का आत्माभिव्यंजन या उसका आत्माभिव्यंजक रूप और दूसरा पात्र का परिस्थिति के संदर्भ शैली का सामंजस्य। इस प्रकार यदि शैलीगत वस्तुपक्ष की दृष्टि से जब वे 'रीति' की एकता पर विचार करते हैं तो कहते हैं कि जिस प्रकार पश्चिमी आचार्य इस दृष्टि से नादसौंदर्य, बौद्धिक तत्त्व एवं रागात्मक तत्त्वों का उल्लेख करते हैं उसी प्रकार भारतीय आचार्य भी उन्हीं चीजों का वर्ण या शब्दगुम्फ, गुण एवं अलंकार तथा रसादि के रूप में रीति का विश्लेषण करते ही हैं। जहाँ तक व्यक्तित्त्व की दृष्टि से एकता का संबंध है—उस दृष्टि से भी रीति और शैली का कोई खास अंतर नहीं है। रोमैण्टिक युग के बाद तो पश्चिम के आचार्यों ने भी व्यक्तितत्त्व पर ज्यादा ध्यान दिया है। भारतीय आचार्यों में दण्डी एवं कुंतक ने तो कहा ही है। लेकिन इसके साथ डा० नगेंद्र यह भी मानते हैं कि शैली अपने अत्यधिक आधुनिक रूप में जितनी व्यक्तिमुखी होती जा रही है—भारतीयों की प्राचीन 'रीति' उतना व्यक्ति-मुखी नहीं है। मैंने अपना विचार इस संबंध में पहले ही दे दिया है—अतः उसे पुनः दुहराने की कोई आवश्यकता नहीं।

सामान्यतः यह स्वीकार किया जाता है कि ध्वनि संप्रदाय के आविष्कर्ता और प्रथम व्याख्याता आचार्य आनंदवर्द्धन हैं। यद्यपि कुछ लोग 'ध्वन्यालोक' के कारिकांश का प्रणेता किसी अन्य व्यक्ति (सहृदय) को स्वीकार करते हैं और उसकी वृत्ति का प्रणेता आनंदवर्द्धन को। पक्ष विपक्ष में अनेकविध तर्क भी दिये गये हैं—किंतु मेरा विचार उन विद्वानों के पक्ष में है जो कारिका और वृत्ति का प्रणेता एक ही व्यक्ति को स्वीकार करते हैं। विशेष गहराई में जाने का तो यह अवसर नहीं है—पर संक्षेप में एक तर्क यह दिया जा सकता है कि स्वयं अभिनवगुप्त ने द्वितीय उद्योत की व्याख्या करते हुए एक जगह कहा है—"वृत्तिकारेण सता कारिकाकारेण एवमुच्यते..." अर्थात् कारिकाकार ही वृत्तिकार होकर इस प्रकार की बात कह रहा है। अभिनवगुप्त के इस साक्ष्य पर यह कहा जा सकता है कि कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही हैं—फलतः दोनों आनंदवर्द्धन की ही कृतियाँ हैं। इस प्रकार निष्कर्ष यह कि आनंदवर्द्धन ध्वनिसिद्धांत या ध्वनिमत के प्रथम प्रस्थापक हैं।

आनंदवर्द्धन ने 'ध्वनि' का इतिहास बताते हुए यह कहा है कि विद्वान् वैयाकरणों ने ध्वनि का सम्यक् आम्नान या व्याख्यान बहुत पहले ही कर दिया था, पर उनके अनुयायी आलंकारिकों ने उस सूक्ष्मेक्षित का पर्याप्त पल्लवन नहीं किया था। वैयाकरणों के स्फोट सिद्धांत में ध्वनि सिद्धांत के अनुरूप सूक्ष्म संकेत विद्यमान हैं।

स्फोट-सिद्धांत वैयाकरणों का सुप्रसिद्ध सिद्धांत है। पातञ्जलमहाभाष्य की व्याख्या के प्रसंग में प्रदीपकार कैयट ने कहा है कि स्फोट सिद्धांत का सविस्तर निर्वचन वाक्यपदीय में किया गया है। वाक्यपदीय में स्फोटग्रहण में उपयोगी ध्वनि के रूप कहे गये हैं—प्राकृत एवं वैकृत। प्राकृत ध्वनि वह है जिससे उपरक्त होकर परिच्छिन्न रूप में खंडरूप में स्फोटात्मक शब्द का ग्रहण होता है और वैकृत ध्वनि वह है जिसके कारण खंड स्फोट में द्रुतत्व, विलम्बित्व, ह्रस्वत्व एवं दीर्घत्व जैसे स्थितिभेद की प्रतीति होती है। ध्वनि की इस द्विरूपता (प्राकृत एवं वैकृत) की चर्चा संग्रहकार व्याडि ने भी की है। उन्होंने कहा है—

> "शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
> स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ॥

निश्चय ही इस विवेचन में भी प्राकृत ध्वनि को शब्द ग्रहण में निमित्त मानकर यह संकेतित किया गया है कि ध्वनि एवं शब्द में अंतर है। वैयाकरणों ने इसी ध्वनिग्राह्य शब्द को ही 'स्फोट' कहा है। 'स्फोट' शब्द का प्रयोग व्याडि ने किया था या नहीं इसका तो पता नहीं चलता—पर उससे जो ध्वनि प्रकाश्य अर्थ गृहीत होता है—उसकी स्थिति व्याडि ने स्पष्ट स्वीकार की है। लगता है कि उन दिनों स्फोटस्थानीय संज्ञा शब्द ही प्रचलित थी। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी पस्पशा आह्निक में ध्वनि और 'शब्द[1]' को भिन्नार्थक रूप में प्रयुक्त किया है। वैयाकरणों के विरोध में मीमांसक प्रवर उपवर्ष ने भी कहा है—'वर्णा एवतु शब्दः—अर्थात् जहाँ वैयाकरण (स्फोटात्मक) शब्द को अखंड स्वीकार करते है—ध्वन्युपरक्त खंड रूप में गृहीत मानते हैं—वहाँ मीमांसक उस शब्द को—ध्वनि प्रकाश्य शब्द को—वर्णात्मक ही मानना चाहते हैं। इस लम्बी चर्चा का निष्कर्ष यह कि जिस माध्यम से अर्थग्रहण होता है—वह 'शब्द' ध्वनि या नाद से प्रकाश्य है। ध्वनि एवं शब्द में इस प्रकार अंतर है। वैयाकरण इसी ध्वनिप्रकाश्य 'शब्द' के लिए 'स्फोट' संज्ञा का प्रयोग करते हैं और काफी पुराना इस अर्थ का अस्तित्व समझ में आता है—मीमांसक उसी का विरोध करते हुए स्फोट की जगह 'वर्ण' का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इस प्रकार 'स्फोट' शब्द चाहे जब आया हो—पर उससे अभीप्सित अर्थ का अस्तित्व ई० पू० शताब्दी में ही आ चुका था।

इस ऐतिहासिक चर्चा के अनंतर संप्रति स्फोट के स्वरूप पर भी विचार संक्षेप में कर लेना चाहिए। विचार के इस सदर्भ में कई पक्ष प्रस्तुत हैं—जैसे, स्फोट के मानने की आवश्यकता, स्फोट का स्वरूप, स्फोटात्मक शब्द के ग्रहण की प्रक्रिया तथा स्फोट के प्रभेद।

कतिपय दार्शनिक स्वीकार करते हैं कि अर्थ का ग्रहण जिस माध्यम से होता है—वह कानों द्वारा सुनी जानेवाली ध्वनियो की समष्टि है। वैयाकरण इससे असहमत हैं। वे कहते हैं कि अर्थग्रहण श्रूयमाण ध्वनि समष्टि से संभव नहीं है, बल्कि उसके द्वारा श्रोता-गत व्यक्त मध्यमानाद का प्रकाश्य एक भिन्न ही शब्द है, जिसे 'स्फोट' सज्ञा दी जा सकती है—उसी से अर्थग्रहण या अर्थबोध संभव है। यहाँ सहज ही प्रश्न उठ खड़ा होता है कि श्रूयमाण ध्वनि समष्टि को अर्थबोध में निमित्त न मानकर

१—ज्वलितः आकाशदेशः शब्दः

एक अप्रसिद्ध और जन सामान्य में अप्रचलित भिन्न ही प्रकार के शब्द की कल्पना अकारण क्यों की जाय? वैयाकरण श्रूयमाण ध्वनि समष्टि से भिन्न स्फोटात्मक शब्द को अर्थबोध का साक्षात् माध्यम मानने के लिये कई कारण बताते हैं। पहला कारण यह है कि जो लोग श्रवणगोचर ध्वनि को अर्थबोधक मानते है उन्हें यह बताना होगा कि वे किसी पदात्मक ध्वनि समष्टि की व्यष्टि-ध्वनि को अर्थबोधक मानते हैं या समष्टि ध्वनि को? यदि व्यष्टि ध्वनि को अर्थबोधक मानेंगे तो अवशिष्ट ध्वनियाँ निरर्थक होंगी—फलतः ध्वनि समष्टि को ही अर्थबोधक मानना होगा। ध्वनि समष्टि के पक्ष में अड़चन यह है कि एक साथ सभी ध्वनियाँ गृहीत नहीं हो सकतीं क्योंकि पूर्ववर्ती ध्वनि उत्तरवर्ती ध्वनिश्रवण काल में अपना अनुभवात्मक श्रावणप्रत्यक्ष) रूप खो चुकी रहेगी—और स्मृति का विषय बन चुकी होगी। निष्कर्ष यह कि एक पदात्मक समष्टि के रूप में ध्वनि समष्टि का एक साथ श्रावण प्रत्यक्ष के विषय रूप में स्थिति सभव नहीं है। फिर यही कहा जा सकता है पूर्व पूर्व वर्णों या वर्णात्मक ध्वनियों के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के सहारे श्रूयमाण अंतिम ध्वनि ही अर्थ का बोध करा सकती है। लेकिन यह भी पक्ष सुविचारित नहीं है—कारण यह है कि संस्कार के रूप में पड़ी हुई ध्वनियाँ स्मरण के रूप में अनुभूत क्रम से भिन्न क्रम में भी आ सकती है। यह देखा भी जाता है कि स्मरण द्वारा व्यक्ति अविकल रूप में पहले की सुनी हुई बात को उसी क्रम में नियमतः उपस्थित या स्मृत नहीं कर पाता—स्मरण में क्रम बदल भी जाता है। किंतु वैयाकरणों का कहना है कि प्रत्येक श्रोता का उक्त क्रम के विपरीत यह अनुभव है कि माध्यम शब्द में क्रम का भी कोई विपर्यय नहीं होता। फलतः श्रूयमाण ध्वनि समष्टि को अर्थबोध के प्रति साक्षात् माध्यम मानने में ये ऐसी अड़चनें प्रस्तुत होती हैं कि उनका समाधान संभव नहीं है। दूसरा अनुभव विरोध यह भी है कि श्रूयमाण ध्वनि समष्टि का पृथक्-पृथक् ही ग्रहण होगा और इस प्रकार समस्त ध्वनिसमष्टि अर्थबोध से पूर्व अशतः स्मरण और अंशतः प्रत्यक्ष का विषय होगी—फलतः न तो हम उसे अनुभव के अनुरूप ('एक पद' या 'एक वाक्य') 'एक' कह सकते हैं और न यही कह सकते हैं कि, उसका प्रत्यक्ष एक साथ ही किया। ध्वनिसमष्टि अपने श्रूयमाण रूप में सक्रम गृहीत होती है—अतः उसका अनुभयानुसारी 'एक पद' या 'एक वाक्य' के रूप में ग्रहण करना संभव नहीं है। फलतः यह मान लेना चाहिए कि ये श्रूयमाण ध्वनियाँ अर्थबोध में निमित्त नहीं है—बल्कि इनका उपयोग आकाश की

भाँति सर्व व्यापक स्फोट नामधारी एक भिन्न ही प्रकार के शब्द-ग्रहण में हैं। इन श्रूयमाण ध्वनियों का स्थिर प्रतिबिंब उस व्यापक निर्विशेष स्फोटात्मक शब्द में होता है—अथवा चित्र में जिस प्रकार बिंब का एक स्थिर प्रतिबिंब आ जाता है—कुछ वैसा ही स्थिर प्रतिबिंब वहाँ उभड़ आता है। श्रोता का मन उसी प्रतिबिंबित ध्वनि से रँगे हुए स्फोटात्मक शब्द के उस खंड विशेष का साक्षात्कार करता है। साक्षात्कृत सखंड स्फोट एक पद रूप भी हो सकता है और एक वाक्य रूप भी हो सकता है, एक वर्ण रूप भी हो सकता है। इस प्रकार स्फोटात्मक शब्द के स्वीकार कर लेने पर सारे अनुभव संगत हो जाते हैं। एक पद या एक वाक्य का अक्रमपूर्वक एक साथ साक्षात्कार संभव है। स्फोटात्मक शब्द पूर्व पूर्ववर्ती ध्वनिखंडों से धीरे-धीरे उभड़ता हुआ हलके रूप में—पर अंतिम वर्ण से स्फुट रूप में गृहीत हो जाता है। इसीलिए किसी को दूर से पुकारने में अंतिम ध्वनि-खंड पर ज्यादा बल दिया गया देखा जाता है। इस प्रकार पारमार्थिक रूप में यह स्फोट अखंड ही है, पर प्रक्रिया-निर्वाह की दृष्टि से व्यावहारिक रूप में सखंड भी माना गया है। सखंड रूप में भी तीन व्यक्ति पक्ष से और तीन जातिपक्ष से इसके भेद माने गये हैं—वर्ण, पद एवं वाक्य। अखंड रूप में पद एवं वाक्य—दो ही भेद संभव हैं। इस प्रकार श्रूयमाणध्वनि समष्टि से प्रकाश्य या व्यंग्य शब्द 'स्फोट' कहा जाता है। वैसे स्फोट-सिद्धि के पक्ष में अनेक तर्क हैं—पर संक्षेप में ध्वनि-मत की भूमिका के लिए यहाँ इतना ही विवेचन पर्याप्त है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से स्फोट को इसलिए 'स्फोट' कहते हैं कि उससे अर्थ स्फुटित होता है। इस स्फोट के स्वरूप के विषय में वाक्यपदीयकार ने चार मत दिए हैं—एक मत यह मानता है कि वह वायु की ही परिणति—विशेष है, दूसरा मत मानता है कि स्फोटात्मक शब्द द्रव्य है और उसके भी विशेष परमाणु हैं, जिनसे वह संघटित हुआ है। तीसरा मत मानता है कि वह ज्ञानस्वरूप ही है। पर सिद्धांततः चौथा मत उनका अपना है कि वह अखंड शब्दाभिरूप है।[1]

इस विषय में एक बात और संक्षेप में कह देनी है और वह यह कि श्रूयमाण ध्वनि भी साक्षात् स्फोटात्मक शब्द का व्यंजक या प्रकाशक नहीं है—बल्कि 'मध्यमा' नाद के द्वारा परम्परया व्यंजक है। श्रूयमाण वैखरीनाद प्रसुप्त आग की भाँति सुप्त मध्यमा-नाद को फूत्कृत करता

१—वाक्यपदीय

हुआ उद्दीप्त करता है और उद्दीप्त होने पर यही मध्यमा-नाद स्फोटात्मक शब्द का प्रकाशक या व्यंजक होता है। "पाणिनीय-शिक्षा"—में श्रोतृ-गत मध्यमानाद के उद्दीपक वैखरी (वक्तृगत) की उच्चारण की सारी प्रक्रिया कही[1] गई है। वहाँ कहा गया है कि अंतःकरण अपनी चित्तात्मक वृत्ति से प्रकाश्य अर्थ का अनुसंधान करता है। अर्थ स्फोटात्मक शब्द से निरपेक्ष होकर अनुसहित नहीं हो सकता, फलतः यह मानना पड़ता है कि अनुसंधीयमान प्रकाश्य अर्थ के साथ-साथ स्फोटात्मक शब्द भी स्मृतिगोचर होता है। अर्थानुसंधान के अनंतर अंतःकरण में विवक्षा का उदय होता है और फिर मन के अभिधानात्मक संयोगवश कायाग्नि जाग्रत की जाती है। जगी हुई कायाग्नि मारुत को प्रेरित करती है और वह अग्निसहकृत मारुत ऊर्ध्वसंचार करता हुआ परा, पश्यंती को व्यक्त करता है। फिर वही वायु मध्यमानाद को जाग्रत करता हुआ तदनंतर मूर्धा से टकराकर ध्वनियंत्र की ओर मुड़ता है—वहाँ स्थान एवं करण की सहायता से विभिन्न वर्णात्मक परिणति प्राप्त कर वैखरी रूप में व्यक्त होता है। यही वैखरीनाद श्रोता के अन्तर्गत स्थित मध्यमानाद को उद्दीप्त करता है और उद्दीप्त मध्यमानाद स्फोटात्मक शब्द को व्यक्त करता है। इसी स्फोटात्मक शब्द से अर्थ-बोध होता है। इस क्रम को चित्र द्वारा व्यक्त करना चाहें—तो वह यों होगा।
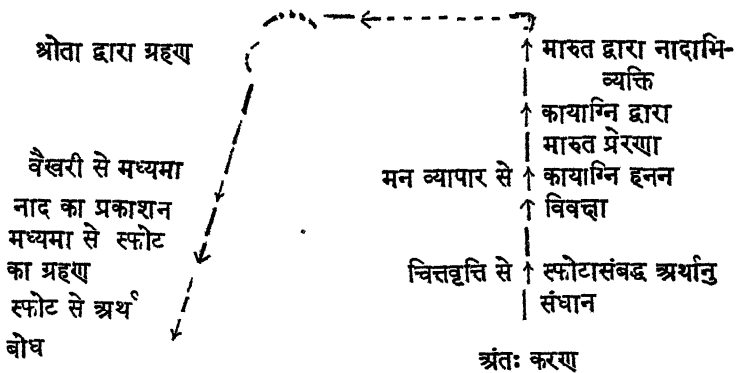
१—आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मंद्रं जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः॥—पाणि॰शिक्षा॰श्लो॰६,७,९

निष्कर्ष यह कि जिस प्रकार मध्यमानाद द्वारा ध्वनि स्फोट का व्यंजक है—उसी प्रकार ध्वनि-सिद्धांत में भी वाचक एवं वाच्य अर्थ प्रतीयमान अर्थ के व्यंजक माने गये हैं और व्यंजन-साम्यवश[1] उन्हें भी ध्वनि कहा गया है। इस प्रकार आनंदवर्द्धन ने ध्वनि-सिद्धांत के मूल स्रोत का सकेत वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धांत में निहित बताया है।

अभिनवगुप्त ने भी ध्वन्यमान या प्रतीयमान अर्थ का अलंकारशास्त्र को ध्यान में रखकर संक्षिप्त इतिहास बताया है। उन्होंने कहा है कि भामह ने अपनी एक कारिका में—"शब्दश्छंदोऽभिधानार्थाः"[2] कहा है। उद्भट ने (अपने भामह–विवरण में) उसमें प्रयुक्त 'अभिधान' शब्द की व्याख्या करते हुए यह बताया है कि भामह उससे केवल अभिधावृत्ति का ही कथन नहीं करते, वरन् गुणवृत्ति को भी अंतर्गर्भित समझते हैं। लक्षणावृत्ति में जिस अनन्यथा प्रकाश्य प्रयोजनांश का अस्तित्व है—वह लक्षक शब्द के एक अतिरिक्त सामर्थ्य से ही प्रकाश्य है। वह अतिरिक्त अर्थ व्यंग या प्रतीयमान अर्थ है और तदर्थ किया गया व्यापार व्यंजना है। इस प्रकार भामह से ही दबे हुए स्वर में व्यग्यार्थ की स्वीकृति की झलक विद्यमान है। इसके अतिरिक्त अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति आदि अलंकारों में भी इस कोटि के स्तर का अर्थ विद्यमान है—भले ही उसे अपनी विवेचन प्रतिभा की कमी के कारण विशेष संज्ञा से अभिहित न किया हो। जो भी हो—अभिनवगुप्त ने अपनी ओर से जो इतिहास प्रस्तुत किया है—वह यह है।

रहा यह कि इन दोनों व्यक्तियो ने जो इतिहास प्रस्तुत किया है—उससे महज इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रतीयमान या व्यग्य अर्थ जैसे स्तर के अर्थ का अस्तित्व तो असंदिग्ध है ही, उसके अनुरूप पड़ने वाले कतिपय सिद्धांत बहुत पुराने समय से चले आ रहे हैं—जिनसे आनदवर्द्धन को इस दिशा में निश्शङ्क चिन्तन के संकेत मिले—परन्तु काव्य के क्षेत्र में अन्य दार्शनिकों से मुठभेड़ करते हुए

१—व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः—ध्वन्यालोक, द्वि० उ०

२—शब्दश्छंदोऽभिधानार्थाः—इत्यभिधानस्य शब्दाद्भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे—"शब्दानामभिधानमभिधा व्यापारः—मुख्यो गुणवृत्तिश्च।" वामनोऽपि सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति इति। तैस्तावद्ध्वनिदिगुन्मीलिता—ध्व० लोचन, प्र० उ०

'व्यंग्य' जैसे अर्थ की सयुक्तिक स्थापना का प्रथम श्रेय तो आनंदवर्द्धन को ही है। यही बात भामहादि से व्यंग्यार्थ का संकेत पाने वाले अभिनव के संबंध में भी कही जा सकती है।

ध्वनितत्त्व के ऐतिहासिक पक्ष पर अशतः प्रकाश डाल लेने के अनंतर इससे संबद्ध अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं—पहला यह कि क्या ध्वनि-मत का आधारभूत यह व्यंग्यार्थ पूर्वस्वीकृत शब्दार्थ (वाच्य, लक्ष्य, तात्पर्यार्थ) से सर्वथा भिन्न है? दूसरा यह कि वह भिन्न है भी तो क्या इतना महत्त्व का है कि उसे काव्य की आत्मा (सारभूत अर्थ) मान लिया जाय।

जहाँ तक प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व का संबंध है—सहृदय काव्य मर्मज्ञों का यह मत है कि यदि वाच्यार्थ से भिन्न किसी अन्यविध गूढ़ अर्थ का संबंध शब्द से न होता तो फलतः सभी शब्दो की सामर्थ्यसीमा वाच्यार्थ-प्रदान तक ही होती—तो काव्य में सभी पर्यायवाची शब्दों की समान ही सत्ता होती—पर विपरीत इसके देखा यह जाता है शब्द मर्मज्ञ कवि एवं सहृदय ग्राहक एक ही अर्थ के बोधक अनेक पर्यायवाची शब्दों में से किसी विशेष शब्द को ही स्वीकार करते हैं। इसका रहस्य क्या है? यदि सभी शब्दों की सीमा वाच्यार्थ ही होती—तो सभी बराबर महत्त्व रखते—किसी एक शब्द को इतना महत्त्व नही दिया जाता। इससे इतना सुस्पष्ट है कि किसी-किसी शब्द में वाच्यार्थ से 'कुछ और' अधिक अर्थ प्रदान करने की क्षमता होती है। उदाहरणार्थ—तुलसीदास की एक पंक्ति लें—"जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं". "—यही 'शरीर' शब्द का प्रयोग ही काव्योचित है—वैदग्ध्यपूर्ण है, उसके 'देह, काय'—आदि पर्यायवाची अन्य रूप नहीं। शरीर, देह, काय आदि अस्थि चर्ममय आकार का बोध कराने में तो समान सामर्थ्य रखते है, परंतु 'शरीर' में स्वगत शीर्यमाणता-उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुखता का जो भाव विद्यमान है—जिस अर्थ की झलक है—वह 'देह' और 'काय' में नहीं है। 'शरीर' शब्द 'शृ विशरणे' से बना है—जिसका अर्थ क्षीण होना है, पर 'देह' और 'काय'—'दिह,' 'चि'—जैसे उपचयार्थक धातुओं से बने होने के कारण उस अर्थ की झलक नहीं दे सकते—अतः वाच्यार्थ की सीमा तक इन तीनो शब्दों में कोई अंतर नहीं है—पर उनके अवयवार्थों को ध्यान में रखने पर कुछ अंतर आ ही जाता है। इस अंतर को ध्यान में रखकर गोस्वामीजी ने कहा कि अविवेकी पुरुष उत्तरोत्तर जीर्ण-शीर्ण होनेवाले शरीर की सेवा में लगे रहते हैं—यही उनका अविवेक है। पर 'शरीर' की जगह

यदि 'देह' या 'काय' शब्द का प्रयोग होता, तो यह अवसरोचित और वक्तव्य का पोषक अभिप्राय ध्वनित न होता। देह और काय तो उपचय (वृद्धि) की ओर बढ़ने वाले हैं—अतः उसका सेवन उतना अविवेक का पोषक न होता। निष्कर्ष यह कि शब्दों में वाच्यार्थ से 'अतिरिक्त अर्थ' दान की भी क्षमता होती है—और जिस शब्द में यह क्षमता होती है—वे ही काव्योचित एवं सहृदय श्लाघ्य शब्द कहे जाते हैं। इसी 'अतिरिक्त अर्थ' को आनंदवर्द्धन 'प्रतीयमान' या 'व्यंग्य' अर्थ कहना चाहते हैं, जिसका अस्तित्व विदग्ध काव्य मर्मज्ञ को मानना ही पड़ता है। इसी 'अतिरिक्त अर्थ' को ध्यान में रखकर शब्द का प्रयोग करने वाला और इसी 'अतिरिक्त अर्थ' को समझने वाला सामान्य बोद्धा से विशिष्ट और विदग्ध माने जाते हैं। इस प्रकार इस अतिरिक्त अर्थ का अस्तित्व स्वीकार कर लेने पर 'वाच्यार्थ' से भेदक और निमित्त भी दिखाई पड़ते हैं। वाच्यार्थ एवं प्रतीयमानार्थ की बोधक सामग्री भिन्न होती है, दोनों की प्रतीति बेला में पौर्वापर्य होता है, दोनों के आश्रय भिन्न-भिन्न होते हैं, दोनों का स्वरूप भेद होता है, दोनों में से प्रतीयमान को ही शीघ्र ग्रहण करने वाला विदग्ध कहा जाता है—इस प्रकार अनेक अंतर हैं।

कुछ लोग इसे 'तात्पर्य' शक्ति का लभ्य मानकर 'तात्पर्यार्थ' नाम देना चाहते हैं, व्यंग्यार्थ नहीं। ऐसे लोग तीन हैं—अभिहितान्वयवादी मीमांसक, "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" (शब्द जिस अभिप्राय से प्रयुक्त हैं उसी के बोध कराने में उन शब्दों का प्रामाण्य है—सार्थकता है—वे ही उन शब्दों के मुख्य अर्थ हैं) ऐसा मानने वाले तथा तात्पर्यशक्तिवादी दशरूपककार आदि। पर अभिहितान्वयवादियो का 'तात्पर्य' भिन्न-भिन्न पदों के अर्थों के बीच होनेवाले 'संबंध' बोध तक ही सीमित है, जिसका बोध वस्तुतः आकांक्षा, योग्यता एवं आसत्ति से ही हो जाता है—अतिरिक्त निमित्त की अपेक्षा नहीं होती। यहाँ 'प्रतीयमान अर्थ' या 'अतिरिक्त-अर्थ'—न तो पदार्थ—पदार्थ का संबंध मात्र है और इसलिए न तो वह तात्पर्यलभ्य है। उसका ज्ञान आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि से सबंधांश बोध के अनंतर होता है—फलतः उसकी प्रतीतिबेला और उपकरण भिन्न है—इसलिए वह अर्थ भी भिन्न है। वे लोग जो यह कहा करते हैं कि शब्द का मुख्य-अर्थ वही है—जिसको लेकर उसका प्रयोग किया गया है—फलतः प्रतीयमान अर्थ ही का बोध कराने के निमित्त से यदि शब्द-प्रयोग है—तो वह मुख्य (अभिधेय-वाच्य) अर्थ ही है, उससे भिन्न नहीं—ठीक नहीं समझते। वस्तुतः इस न्याय-वाक्य का विषय 'विधेयार्थ' है। उस न्याय वाक्य (यत्परः शब्द स शब्दार्थः) से यह कहा गया है कि

विधेयार्थ के ही बोध के लिए वाक्य का मुख्यतः प्रयोग किया जाता है—अतः वाक्य का प्रामाण्य या सार्थक्य उसी अर्थ को लेकर है। 'विधेयार्थ'—वस्तुतः शब्द का अभिधेयार्थ ही होता है, पर प्रतीयमानार्थ विधेयार्थ से भिन्न होता है-क्योंकि वह शब्द की अभिधाशक्ति से प्राप्त नहीं होता। अतः उक्त न्याय से भी प्रतीयमानार्थ में अभिधेयार्थ का भ्रम होना समुचित नहीं है। दशरूपककार 'तात्पर्यशक्ति'—की सीमा 'संबंधाश' एवं 'विधेयांश'—से बहुत आगे बढ़ाकर यह अवश्य मानते है कि जहाँ तक वक्ता का अभिप्राय जाता है—वहाँ तक शब्द की तात्पर्य शक्ति जाती है—परंतु इस तर्क से भी कोई अड़चन नहीं आती। यहाँ तो झगड़ा केवल 'नाम' मात्र का है—वस्तु का नहीं। दशरूपककार प्रतीयमान वस्तु का अस्तित्व खंडित नहीं करते—केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि उसे 'व्यंग्य' न कहकर 'तात्पर्यार्थ' कहा जाय। पर इससे प्रतीयमानार्थ का अस्तित्व तो खण्डित नहीं होता, केवल नाम बदल जाता है। झगड़ा और विवाद नाम के विषय में उतना महत्त्वपूर्ण नहीं होता, जितना नामी या वस्तु के विषय में। आनंदवर्द्धन ने फिर भी नाम की दृष्टि से भी तर्क देते हुए यही कहा है कि प्रतीयमान शब्द का अभिधेयार्थ नहीं होता है, अभिधेयार्थ होगा भी दूसरे शब्द का। इस प्रकार अन्य शब्द के अर्थ का अन्याभिधायी शब्द द्वारा जब प्रकाशन हो—तो वहाँ 'व्यंजन' शब्द का ही व्यवहार सार्थक होगा। प्रकाशक शब्द के लिए व्यंजक और प्रकाश्य अर्थ के लिए व्यग्य शब्द का प्रयोग सार्थक होगा।

इस पर भी यह कहा गया है कि इस कोटि का अर्थ शब्द प्रमाण द्वारा प्राप्त ही नहीं होता, बल्कि अनुमान प्रमाण (या अर्थापत्ति प्रमाण) से मिलता है और जब यह अर्थ शब्द-प्रमाण से नहीं मिला तो शब्दार्थ ही नहीं होगा—फिर शब्दार्थ के एक भेद—व्यंग्यार्थ—की बात कहाँ तक युक्तिसगत होगी! इन लोगों का अभिप्राय यह है कि एक अर्थ से दूसरे अर्थ तक पहुँचना—उसका ज्ञान करना दोनों के बीच होने वाले किसी नियत-संबंध पर ही निर्भर है—अन्यथा किसी अर्थ से किसी भी अर्थ का मिलना संभव हो सकता है और ऐसा होने से एक अनियत स्थिति और अव्यवस्था आ जाएगी। फलतः नियत स्थिति और व्यवस्था के लिए यह मानना ही होगा कि शब्द के अभिधेयार्थ से व्यग्यार्थ नामक अर्थ का कोई नियत-संबंध है, जिसके सहारे हम एक के ज्ञान से दूसरे के ज्ञान तक पहुँचते हैं। नियत-संबंध-सापेक्ष एक अर्थ से दूसरे अर्थ का ज्ञान अनुमिति रूप ज्ञान है। नियत संबंध व्याप्ति है। व्याप्ति के बल पर उत्पन्न बोध

अनुमान प्रमाण से ही संभव है। इस प्रकार वाच्यार्थ के सहारे व्यंग्यार्थ का ज्ञान आनुमानिक प्रक्रिया है, इसे शब्द की किसी शक्ति (व्यंजना) से प्राप्य मानना युक्ति-संगत नहीं है।

पर इस आक्षेप का उत्तर यह है कि यद्यपि आनुमानिक और वैयञ्जनिक प्रक्रियाओं में इतना साम्य अवश्य है कि उभयत्र एक अर्थ से संबंधवश दूसरे अर्थ-बोध तक पहुँचना पड़ता है, परंतु आनुमानिक प्रक्रिया का हेतु सत् हेतु ही होता है, वैयञ्जनिक प्रक्रिया का हेतु हेत्वाभास भी हो सकता है। दूसरा अंतर यह है कि आनुमानिक प्रक्रिया का हेतु स्वतः अनुमान क्षम होता है—पर व्यंजक हेतु वक्ता, बोद्धव्य, देश, काल आदि के वैशिष्ट्य की अपेक्षा करके ही अपना कार्य सम्पन्न करता है। तीसरा अंतर यह है काव्यान्तर्गत वैयञ्जनिक प्रक्रिया चमत्कार पर्यवसायिनी होती है और तर्ककर्कश आनुमानिक प्रक्रिया काव्य की प्रकृति के विपरीत है। इसलिए वैयञ्जनिक प्रक्रिया और आनुमानिक प्रक्रिया को एक करना किसी भी स्थिति में सभव नहीं है। वैयञ्जनिक प्रक्रिया से उपलब्ध अर्थ शब्द की सामर्थ्य से उपलब्ध अर्थ है—वह शब्दार्थ का ही एक भेद है।

पुनः कहा जा सकता है कि शब्द के अभिधाव्यापार एवं वाच्य अर्थ से व्यजना व्यापार और व्यंग्य अर्थ भले ही भिन्न हो, पर लक्षणा व्यापार एवं लक्ष्य अर्थ से इन्हें भिन्न नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि लक्षणा भी मुख्यार्थ के अनभिप्रेत होने पर सक्रिय होती है और व्यंजना भी भी मुख्यार्थ विमुख होकर वक्ता के अतिरिक्त अभीप्सित अर्थ की ओर बढ़ती है। निष्कर्ष यह कि मुख्यार्थबाध उभयत्र जब समान है—तो उस निमित्त से सक्रिय होने वाली शक्ति भी एक ही होगी।

पर इस आक्षेप का उत्तर स्वयं साहित्यदर्पणकार ने यह दिया है कि लक्षणा में 'प्रतीति' का और व्यजना मे 'प्रतीत' का बाध होता है—पूर्वत्र बाधित प्रतीति होती है और उत्तरत्र प्रतीति का बाध होता है। अभिप्राय यह कि लक्षणा में मुख्यार्थ का बाध या अनुपयोग नितांत सुस्पष्ट रहता है—पर व्यंजना में पूर्वापर प्रसंग पर ध्यान देने से पहिले बाध या अनुपयोग की स्फूर्ति नहीं होती। अतः लक्षणा से व्यंजना का कार्य संभव नहीं है। दूसरी बात यह है कि वाच्यार्थ सदैव मुख्यार्थ कहा जाता है और लक्ष्यार्थ अमुख्यार्थ—पर व्यंग्य कभी मुख्य और कभी अमुख्य कहा जाता है—फलतः वह दोनों से एकरूप नहीं कहा जा सकता—दोनों से भिन्न ही कहा जायगा।

इस प्रकार व्यंग्य अर्थ का सद्भाव सहृदयहृदयसाक्षिक है—उसका

अपलाप नहीं किया जा सकता। एक अनुभव-सिद्ध अर्थ की उपेक्षा अपनी ही अधता सूचित करेगी।

यही व्यंग्य अर्थ जब सर्वातिशायी सौंदर्य का स्रोत बनता है—फलतः अन्य अर्थों से प्रधान हो जाता है—तब वही 'ध्वनि' संज्ञा से अभिहित किया जाता है। निष्कर्ष यह कि काव्योचित चारुता सर्वातिशायी स्रोत ध्वनिसंज्ञक वस्तु है। ध्वनि ही तत्त्व है जो किसी भी उक्ति को काव्यात्मक परिणति प्रदान करती है। वही काव्य का सारतत्त्व है। उसी के सम्पर्क से अन्य उपकरण भी चमकने लगते हैं और काव्यगत चारुता के वाहक बन चाते हैं इस प्रकार ध्वनि ही काव्योचित चारुता का मूलाधार होने से वही काव्य की आत्मा है—वही काव्य का सर्वस्व है।

इस सिद्धांत के विरोधियों का यह कहना है कि यदि काव्यगत समस्त उपकरणों की चीर फाड़ की जाय—तो उसमें एक तो शब्द एवं अर्थ मिलेंगे जिन्हें काव्य का शरीर कहा जा सकता है। दूसरे उनके स्वरूप एवं संघटना में चारुताधायक तत्त्व—जिन्हे क्रमशः अलंकार एव गुण कहेंगे। वृत्ति और रीति भी चारुता के स्रोत सुने जाते हैं—परन्तु वे भी विचार करने पर अलंकार एवं गुण से भिन्न नहीं है। वृत्त्युनुप्रास अलंकार के भेद के ही रूप में वृत्तियाँ हैं। रहीं रीतियाँ—सो उनके सबंध में यह कहना है कि रीति भी पूर्ववर्ती आचार्य वामन के अनुसार गुण–समुदायात्मक ही है—उससे भिन्न वह कोई वस्तु नहीं है। निष्कर्ष यह कि काव्य में कुल मिलाकर शरीरस्थानीय शब्द एवं अर्थ तथा चारुता स्रोत गुण एवं अलंकार हैं। ध्वनि जैसी कोई वस्तु सौंदर्य—का स्रोत है ही नहीं और यदि होती और इतना महत्त्वपूर्ण होती तो पूर्ववर्ती आचार्यों ने उसका उल्लेख अवश्य किया होता। तीसरी बात यह भी हो सकती है कि इन्हीं गुणों या अलंकारों में से किसी भेद-प्रभेद का नाम ध्वनि रख दी हो।

पर ये सब ध्वनि-विरोधी तर्क-वितर्क निरर्थक है। पहली बात तो यह है कि जब उपर्युक्त ध्वनि विरोधी चिंतक शरीर, गुण एवं अलंकार के रूपक से काव्य के बाह्य एवं अंतर अवयवों पर विचार करते हैं—तो उन्हें काव्य में किसी शरीरी, गुणी एवं अलंकार्य की भी चिंता करनी चाहिए! दूसरी बात यह है व्यग्य अर्थ के अस्तित्व में जब उक्त उक्तियाँ और सहृदय-धुरीणों के अनुभव प्रमाण हैं—तो उसका अभाव तो नहीं कहा जा सकता। रहा यह कि फिर पूर्ववर्ती आलंकारिकों ने उल्लेख क्यों नहीं किया—तो यह तो सूर्य के अस्तित्व का अंधों के द्वारा किए गए निषेध

की सी बात है। यह भी मानना निराधार बात है कि ध्वनि अलंकार के किसी विशेष प्रभेद का नामांतर है। अप्रस्तुतप्रशंसा, आदि कतिपय अलंकार ऐसे अवश्य है जिन्हे ध्वन्यात्मक कहा जा सकता है—पर ध्वनि की वही सीमा नहीं है। ध्वनि के इतने भेदोपभेद हैं कि अलंकार उसमें समा सकते हैं—पर दो चार इस प्रकार के अलंकारो में महाकाय ध्वनि नहीं समा सकती। इस प्रकार गुण एवं अलंकार के अंतर्गत इसका समावेश नहीं किया जा सकता—उसका स्वतंत्र अस्तित्व है। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि गुण एवं अलंकार से विरहित उक्ति भी यदि प्रतीयमान अर्थ से गर्भित है—तो वह प्रशस्त काव्य की पदवी से परम्परा द्वारा विभूषित किया गया है। दूसरी बात यह भी है कि यदि सूक्ष्मेक्षण किया जाय तो पता चलेगा कि गुण एवं अलंकार स्वयं प्रतीयमानार्थ-संस्पृष्ट रहकर ही चारुता के स्रोत बन पाते है—अतः प्रतीयमान अर्थ को यदि काव्य का सारतत्त्व कहा गया है—तो वह सर्वथा उचित ही है।

भक्तिवादी का कहना है कि प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ यदि मुख्य अर्थ—अभिधेय अर्थ—से भिन्न है—तो अमुख्य अर्थ की ही कोटि में आयगा। अमुख्य अर्थ लक्ष्य—अर्थ है—अतः भक्ति या लक्षणा लभ्य अमुख्यार्थ में ही इसे अंतर्भूत समझना चाहिए इसका पृथक् अस्तित्व नहीं मानना चाहिए। तो ऐसे आक्षेपकों का उत्तर पहले हो दिया जा चुका है और यह कहा जा चुका है कि व्यग्य अर्थ अमुख्य ही नहीं मुख्य या प्रधान भी होता है अत. द्विरूप प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ का एक रूप लक्ष्यार्थ में समावेश नहीं किया जा सकता। दूसरे बाधपूर्वक उन्मीलित होनेवाली लक्षणा की जहाँ झलक भी नहीं रहती—वहाँ भी व्यंजनालभ्य व्यंग्यार्थ का अस्तित्व होता है-इसलिए भी उसे पृथक् मानना होगा।

कुछ विरोधियों का यह कहना है कि प्रतीयमान या ध्वनितत्त्व गुण एवं अलंकार से भिन्न है, लक्ष्यार्थ से भी उसका पृथक् अस्तित्व है—फिर भी वह तत्त्व इतना बहुरूप और सूक्ष्म है—कि उसका स्वरूप निर्वचन बुद्धि द्वारा संभव नहीं है—आनंदवर्द्धन ने इन लोगों का मुँह बंद करते हुए यह कहा है कि जहाँ तक व्यंजना की बहुरूपता का संबंध है—इससे उसके अस्तित्व पर सदेह कहीं किया जा सकता—क्योंकि उसका अस्तित्व अनुभव सिद्ध है। इसके अतिरिक्त जयरथ ने बताया है कि ध्वनि विरोधी १२ हैं—अर्थात् ध्वनि के कुल १२ विरोधी हैं—(१) तात्पर्य (२) अभिधा (३) अजहत्स्वार्था (४) जहत्स्वार्था (५) (६) अनुमान के दो रूप (७) अर्थापत्ति

(८) तंत्र (द्वयर्थक प्रयोग) (९) समासोक्ति (१०) रसकार्यता (११) भोग और (१२) व्यापारान्तरबाधनम्[1] (वक्रोक्ति ?)।

रही बात उसके लक्षण की—उस विषय में यह कहना है कि उसका लक्षण इस प्रकार है—यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः[2] ॥

अर्थात् उस काव्यविशेष को ध्वनि कहा जा सकता है—जहाँ शब्द अपने अर्थ को और अर्थ अपने आप को गुणीभूत स्थिति में रखकर अतिरिक्त की व्यजना करें। व्यंजक शब्द भी होता है और अर्थ भी—पर इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि शब्द अर्थ निरपेक्ष होकर व्यंजक होता है। शब्द व्यंजक होता है—का इतना ही अर्थ है कि वहाँ उसका अर्थ गौण हो जाता है और शब्द प्रमुख हो जाता है और यह स्थिति अविवक्षित वाच्यध्वनि के लिए आती है। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में दूसरी स्थिति है—वहाँ अर्थ स्वयं अपने आपको माध्यम बनाकर मुख्यतः अर्थ की व्यंजना करता है।

इस प्रकार ध्वनि स्वरूप का निर्वचन कर लेने के बाद आनंदवर्द्धन एवं अभिनवगुप्त ने यह भी बताया है कि ध्वनि शब्द का प्रयोग कितने अर्थों में हो सकता है। आनदवर्द्धन ने कहा है—"वाच्यवाचक सम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः[3]।"—अर्थात् वाच्य एवं वाचक, उनसे ध्वनित अर्थ, ध्वनन व्यापार तथा इनकी समष्टि काव्य—ये सभी व्यंजनभाव से संबद्ध होने के कारण ध्वनि कहे जा सकते हैं। अर्थात् व्यंजक, व्यंग्य, व्यंजन तथा इनकी काव्यात्मक समष्टि—सभी को ध्वनि संज्ञा दी जा सकती है।

अभिनवगुप्त ने इस बात का अच्छा विश्लेषण किया है कि इन चारों को क्यों ध्वनि कहना चाहिए'

(क) व्यंग्य अर्थ और ध्वनि

अभिनवगुप्त ने बताया है कि वाक्यपदीयकार की एक कारिका इस प्रकार है—

य: सयोगवियोगाभ्या करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दाः ध्वनयोन्यैरुदाहृताः ॥

१—तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा।
अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्तिसंलंकृतिः ॥
रसस्य कार्यता भोगः व्यापारान्तरबाधनम्।
द्वादशोत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः ॥

२—ध्वन्यालोक, प्र० उ० ३—वही।

यहाँ यह बताया गया है कि स्थान और करण के सयोग और विभाग से जो प्रथम-प्रथम वर्णनिष्पत्ति होती है--वह स्फोट कहा जाता है और श्रोता के कानों तक पहुँचने वाली जो शब्दज शब्द सतति होती है—एक शब्द-लहरी की धक्का से उत्पन्न दूसरी शब्दलहरी होती है--वह ध्वनि कही जाती है। निष्कर्ष यह कि घण्टा के अनुरणन की भाँति जैसे एक तरफ शब्द की पूर्व पूर्ववर्ती लहरियों से धक्का पाकर परस्पर संबद्ध अन्य शब्द सतति उत्पन्न होती जाती है और वह ध्वनि कही जाती है—उसी प्रकार अनुरणनन्याय से वाच्यार्थ बोध के अनन्तर उससे संवद्ध व्यंग्यार्थ बोध उत्पन्न होता है—उसके लिए भी ध्वनि शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। यहाँ मुख्य ध्वनि और लाक्षणिक ध्वनि (व्यंग्य अर्थ) में उपचार का निमित्त सादृश्य इतना ही है कि दोनो ही पूर्ववर्ती वस्तु के संबन्धवश बाद में साकार हो पाये है। यद्यपि अनुरणन का दृष्टात सलक्ष्यक्रमध्वनि (वस्तु ध्वनि एवं अलकार ध्वनि) के लिए ही लागू हो पाता है—तथापि उस साम्य से औपचारिक रूप में व्यवहृत 'ध्वनि' को असंलक्ष्यक्रम ध्वनि (रस ध्वनि) का भी उपलक्षण समझ लेना चाहिए।

(ख) वाच्यवाचकात्मा व्यंजक और ध्वनि

वैयाकरणो ने नाद शब्द वाच्य उन श्रूयमाण वर्णों को ध्वनि कहा है—जिनके पूर्वसहकृत अन्तिम ध्वनि से स्फोट की व्यंजना होती है। भर्तृहरि नेभी कहा है—

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनि प्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

ध्वनिविषयक प्रत्यय दो प्रकार का होता है-उपारव्येय एवं अनुपाख्येय। शब्द स्वरूप के ग्रहण में इन अनुपाख्येय प्रत्ययों का भी उपयोग होता है। ऐसे ध्वनियों शब्द या स्फोट का प्रकाशन होने पर उसका स्वरूप अवधारित हो पाता है।

इस कारिका में शब्द या स्फोट के प्रकाशक या व्यंजक को 'ध्वनि' संज्ञा दी गई है। वाच्य एव वाचक भी व्यंग्य अर्थ के प्रकाशक होते हैं—अतः प्रकाशकता जैसी समान विशेषता के आधार पर इस वाच्य एवं वाचक को भी व्यंजक होने के कारण ध्वनि कहा जाता[1] है।

ध्वनन व्यापार और ध्वनि :—

भर्तृहरि की निम्नलिखित कारिका में कहा गया है कि प्राकृत ध्वनि के लिए किये गये प्रसिद्ध उच्चारण से अधिक या अतिरिक्त व्यापार वैकृत ध्वनि

१—तेन व्यंजकौ शब्दार्थावपि—इह ध्वनिशब्देनोक्तौ—ध्व० प्र० उ० पृ० १३४

के उच्चारण में होता है। यही वैकृत ध्वनि है जिससे ध्वनि में या उससे प्रकाश्य स्फोटात्मक शब्द में द्रुति, मध्यता या विलम्बितत्व की प्रतीति होती है। निष्कर्ष यह कि द्रुतादि जैसे स्थिति-भेद के विभिन्न 'वैकृत' रूप के उच्चारण में स्फोटस्वरूप की व्यजना के लिए किये गये प्राकृत ध्वनि के उच्चारण से अधिक या अतिरिक्त उच्चारण व्यापार होता है–और उसकी संज्ञा ध्वनि दी जाती है उसी प्रकार वाच्यार्थ बोध के लिए शब्द के प्रसिद्ध अभिधा व्यापार से अधिक व्यापार अतिरिक्त अर्थबोध के लिए होता है—और उसकी संज्ञा भी इसी दृष्टांत से ध्वनि दी[1] जा सकती है।

इस प्रकार व्यंग अर्थ, वाच्य एवं वाचक जैसे व्यंजक तथा व्यंजन व्यापार इन चारों के लिये ध्वनि शब्द का लाक्षणिक प्रयोग परम्परागत ध्वनिसंज्ञा के मूल में निहित समान आधारों या समान विशेषताओं पर संभव है। आनंदवर्द्धन ने इनकी समष्टि के लिए भी–समष्टिभूत काव्य के लिये भी ध्वनिसंज्ञा का प्रयोग किया है।[2]

ध्वन्यालोक में कहीं-कहीं 'काव्य' और 'ध्वनि' को एक कहा गया है और कहीं-कहीं भिन्न। जैसे, ('काव्यस्यात्मा–ध्वनिः) काव्य की आत्मा ध्वनि है"— इस वाक्य में काव्य को ध्वनि से भिन्न कहा गया है, पर 'स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः"—उस काव्य विशेष को ध्वनि कहते हैं—इस वाक्य में काव्य और ध्वनि को एक ही कहा गया है। इस आपाततः प्रतीत विरोध को हटाने के लिए यह कहा जा सकता है—जहाँ व्यष्टि (व्यग्य, व्यंजक एवं व्यापार) के लिए ध्वनि का व्यवहार होता है—वहाँ समष्टि से उसका भेद संभव ही है और जहाँ समष्टि (काव्य) के अभिप्राय से ध्वनि का प्रयोग होगा—वहाँ अभेद भी संभव[3] है।

इस प्रकार ध्वनि के विरोधी तर्क, उसका निरसन, ध्वनि की स्थापना, ध्वनि का स्वरूप और प्रभेद तथा ध्वनि सज्ञा का उपचार–बीज–आदि विभिन्न पक्षों से ध्वनि तत्त्व का अब तक विश्लेषण या विचार प्रस्तुत किया गया।

१—शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्नभिद्यते ॥
इत्यस्माभिरपि प्रसिद्धेभ्यः शब्दव्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्य-
लक्षणारूपेभ्योऽतिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्तः ॥—वही

२—एवं चतुष्कमपि ध्वनिः, तद्योगाच्च समस्तमपि काव्य ध्वनिः—वही, पृ० १३५

३—तेन व्यतिरेकाव्यतिरेकव्यपदेशोऽपि न युक्तः।—वही।

संप्रति, ध्वनिमत की और अन्य विशेषताओं पर भी दृष्टिपात करना है—अन्य विशेषताओं में से प्रथम प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ध्वनिमत प्रस्थापक आनंदवर्द्धन के यहाँ 'रस' का क्या स्थान है? इसी के साथ एक दूसरा प्रश्न भी यह लगा हुआ है कि ध्वन्यालोककार ने एक स्थान पर यह बताया है कि (१) काव्य की आत्मा ध्वनि[1] है। (२) दूसरे स्थान पर यह भी प्रस्तुत किया है कि सहृदय श्लाघ्य अर्थ काव्य की आत्मा[2] है जिसके दो भेद होते हैं—वाच्य और प्रतीयमान—अर्थात् काव्य की आत्मा वाच्य और प्रतीयमान दोनों प्रकार के अर्थ हैं। (३) तीसरी जगह यह भी कहा है—"काव्य की आत्मा तो रस[3] ही है।" इसलिये ऊपर जो दो प्रश्न प्रस्तुत किये गए हैं—उनमें से दूसरे का उत्तर पहले आवश्यक है—तभी हम दूसरे की ओर बढ़ सकते हैं। विचारणीय बात है कि उपर्युक्त तीन विरोधी वक्तव्यों में कोई सगति लगाई जा सकती है या परस्पर विरुद्ध होने के कारण तीनो ही अमान्य ठहरा दिया जाय? विद्वानों ने यही निश्चय किया है कि यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इन वक्तव्यों मे एक संगति लगाई जा सकती है और वह इस प्रकार कि इन वक्तव्यो का संदर्भ देखा जाय। उन लोगो का कहना है कि सूक्ष्म-सूक्ष्मतर अर्थ का सहसा निर्देश कर दिया जाय तो व्युत्पित्सु को तत्त्व-बोध होने में कठिनाई होगी। इसीलिए आत्मार्थ के जिज्ञासु वैरोचन को किस प्रकार स्थूल अर्थ से सूक्ष्मतम अर्थ तक सक्रम ले जाया गया—इसका उपस्थापन वेदांतसार में हमें अच्छा मिलता है। वहाँ कहा गया है कि शरीर ही आत्मा है, फिर इंद्रिय, मन, बुद्धि आदि को आत्मा कहते-कहते तर्क वितर्क द्वारा सुनिश्चित अर्थ का निरूपण किया गया है। ठीक ध्वन्यालोककार यहाँ भी एक क्रम से जिज्ञासु को काव्य के आत्मार्थ तक ले जाना चाहते हैं। उन्होने इस सूक्ष्मतम अर्थ को बताने के लिए भूमिका प्रस्तुत करते हुए कहा है कि शब्द तो काव्य का सबसे ऊपरी स्तर है—शरीर की भाँति—आत्मा को उसके आवरण में रहना चाहिए—अतः शब्द से अर्थ की ओर—स्थूल से सूक्ष्म की ओर जब हम बढ़ते हैं तो शब्द के अनंतर एक सामान्यकोटि का असुंदर अर्थ पाते हैं—उससे भी आगे सूक्ष्म अर्थ की ओर बढ़ते हैं—तो सहृदय श्लाघ्य अर्थ की ओर बढ़ते है—जिसके उत्तरोत्तर दो स्तर हैं—वाच्य एवं प्रतीयमान।

१—काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैर्यः समाम्नातपूर्वः"—ध्व०लोक कारिका १

२—योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेतिव्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ वही

३—काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा—वही, कारिका ५

विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वाच्य की सहृदयश्लाघा वाच्य के कारण नहीं है, बल्कि उसके सौंदर्य के कारण है और सौंदर्य का निमित्त उसके भी तह में निहित है—जिसे प्रतीयमान संज्ञा दी जा सकती है। 'जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं'—के द्वारा इस तथ्य का निरूपण पहले किया जा चुका है। अतः दोनों को आत्मा कहना केवल समझाने की दृष्टि से है—स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाने के लिए एक प्रक्रिया के अंतर्गत है। वस्तुतः सहृदय की श्लाघा का आस्पद तो प्रतीयमान अर्थ ही है—वाच्यार्थ तो उससे संवलित होने के कारण श्लाघ्य होता है। अविवेकी आलोचकों का हृदय वाच्यार्थ की संवलना से मुग्ध हो जाता है—वे उस आवरण को चीरकर अंतर में निहित अर्थ के वैशिष्ट्य का उद्घाटन नहीं कर पाते। इसलिए अभिनवगुप्त ने भी कहा है—"तस्य भेदावशौ–इत्युक्तम्, न तु द्वावप्यात्मानौ काव्यस्येति"—अर्थात् उस सहृदयश्लाघ्य अर्थ के दो अंश हैं—वाच्य एवं प्रतीयमान—ध्वन्यालोककार का यही आशय है न कि वे दोनों को काव्य की आत्मा कहना चाहते हैं। निष्कर्ष यह कि यहाँ आनदवर्द्धन प्रतीयमान को ही काव्यात्मा कहना चाहते हैं। प्रतीयमान भी आत्मस्थानीय तभी हो सकता है—जब वह प्रधान हो और प्राधान्य की स्थिति में वह ध्वनि कहा जाता है—इसी अभिप्राय से प्रतिपादन के अगले स्तर पर ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा गया है। ध्वनि के भी तीन भेद है—वस्तु, अलंकार एवं रस। इन तीनों में भी आत्मवत् सारवान तत्त्व है—रसध्वनि। काव्य के लक्ष्य (चर्वणौन्मुख्य) की दृष्टि से काव्य का सारतत्त्व रस ही जान पड़ता है—वस्तु एवं ध्वनि को भी जो रस के साथ-साथ काव्य की आत्मा कह दिया गया है वह औपचारिक है—वास्तविक नहीं। इन दोनों को महज इसलिए आत्मसमकक्ष कह दिया गया है–ये दोनो अंततः रसपर्यवसायी होने के कारण वाच्यार्थ की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं—अभिनव ने इसीलिए कह दिया है—स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रांते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम्, इतिहासवलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थार्थवलाच्च। तेन रस एव वस्तुतः आत्मा, वस्त्वलकारध्वनी तु सर्वथा रस प्रति पर्यवस्येते—इति वाच्यादुत्कृष्टौ तौ इत्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।" (ध्व० प्र० उ० पृ० ८५)। इस प्रकार अततः काव्य की आत्मा 'रस' ही कहा जा सकता है—यही आनदवर्द्धन का प्रप्रिपाद्य है। वाल्मीकिरामायण जैसे आदि काव्य का इतिहास प्रस्तुत करते हुए आनंद ने यही स्थापित किया है कि यही शोक का उत्कृष्ट हार्दिक भूमि पर उफनता हुआ प्रवाह ही उच्छलित होकर जब व्यक्त होना चाहा

तो अनायास वाणी के सहारे साकार हो गया । उचित भी है आत्मा के समकक्ष निरतिशय, अखण्ड, निरवयव एवं सूक्ष्मतर अर्थ 'रस' ही काव्य की आत्मा कहा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि वह कभी काव्य में व्यक्त और कभी अव्यक्त रहता है और अपनी अव्यक्तावस्था में स्थूल स्तर के काव्यस्तरीय चमत्कार के उपादानो को काव्य व्यवहारोचित चारुता का उत्तरदायित्व प्रदान करता है।

कतिपय आधुनिक समालोचकों ने ध्वनि के भेद प्रभेदो को ध्यान में रखकर यह कहना चाहा है कि ध्वनिमत नितांत बौद्धिक प्रक्रिया पर आधारित मत है—परतु इस प्रकार के आक्षेप आनदवर्द्धन के ध्यान में थे इसीलिए उन्होंने कहा है कि उनकी कृति में ध्वनिस्थापन के प्रयास का आपेक्षिक विस्तार देखकर कोई यह न समझे कि उनका लक्ष्य काव्य में ध्वनि का ही सर्वातिशायी महत्त्व स्थापित करना है । उनका ऐसा अभिप्राय कदापि नहीं है। वे कहते है कि ध्वनन् या ध्वनि की स्थापना का इतना वृहत्संरम्भ काव्य की सिद्ध आत्मा 'रस' के ही उत्थापन में है । तुलसी को जिस प्रकार अपने रामचरितमानस में राम का ब्रह्मत्व स्थापन नही भूलता, आनंदवर्द्धन को भी ध्वनि स्थापन के बृहत्समारम्भ के बीच रस की काव्यात्मरूपता भी नहीं भूलती वे बार-बार उसका स्मरण पग-पग पर दिलाते चलते हैं । प्रथम उद्योत में स्पष्ट ही उन्होंने 'काव्यस्यात्मा स (रसः) एवार्थः कहा है द्वितीय उद्योत में दोषाभाव गुण एवं अलंकार की चर्चा भी रसरूप शरीरी, गुणी एवं अलंकार्य की दृष्टि से ही निरूपित किया है। चतुर्थ उद्योत में भी बताया है—

> व्यंग्यव्यंजकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि ।
> रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान्

अर्थात् यद्यपि व्यंग्यव्यंजक भाव का अनन्तविध काव्योचित वैचित्र्य संभव है—परम्परागत कवियों ने उसका उपयोग भी किया है—तथापि आनंद का निर्देश है कि एक कवि को तो काव्यनिर्माण करते समय रस के प्रति ही सावधान होना चाहिए। आनंद ने माना है कवि-कर्म है—विचारवादी संयोजन। निष्कर्ष यह कि आनंदवर्द्धन अपनी समस्त कृति में आद्यो पांत 'रस' के प्रति सजग हैं।

फिर आक्षेपकों का यह प्रश्न उनके समक्ष है कि आनंदवर्द्धन ने फिर ध्वनि के इतने भेद-प्रभेद क्यो दिखाये ? उसका प्रयोजन क्या है ? उपेक्ष्य का इतना विस्तार क्यों ? एक तरफ उसको विस्तार देते हुए भी दूसरी ओर उसको नगण्य कहना कहाँ तक संगत है ?

उक्त प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व थोड़ा प्रभेद का विस्तार भी निरूपित कर लें—

ध्वनि
अभिधामूल (विवक्षितान्यपरवाच्य)
लक्षणामूल (अविवक्षितवाच्य)
असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य (रसभावादि)
संलक्ष्यक्रम
वस्तु से वस्तु
वस्तु से अलकार
पद पदांश वाक्य प्रकरण प्रबध रचना
पदगत वाक्यगत पदगत वाक्यगत
शब्दशक्तिमूल
अर्थशक्तिमूल
उभयमूल
वस्तु से वस्तु
वस्तु से अलकार
वाक्यध्वनि
पदगत वाक्यगत पदगत वाक्यगत
वस्तु से वस्तु
वस्तु से अलंकार
अलकार से अलंकार
अलंकार से वस्तु
स्वतः संभवी व्यंजक
कविप्रौढोक्ति सिद्ध व्यंजक
कविनिवद्ध वक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध व्यजक
पदगत वाक्य गत प्र० गत
स्व० स० क०प्रौ०सि० क० नि० प्रौ०सि०
पद०वाक्य०प्रबध.पद०वा० प्र०
पद० वा० प्र०
पद० वाक्य० प्र० पद० वाक्य०प्र०
स्व० सं० कवि०प्रौ०सि० क०नि०प्रौ०सि० स्व०सं० क०प्रौ०सि० क०नि०प्रौ०सि०
पद०वाक्य०प्र०पद०वाक्य०प्र० पद०वाक्य०प्र० पद०वाक्य० प्र० पद०वाक्य०प्र०पद०वाक्य० प्र०

इस प्रकार अविवक्षित वाच्य के ४, असंलक्ष्य क्रम के ६, संलक्ष्यक्रम में शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ का १, शब्दशक्त्युत्थ के ४ एवं अर्थशक्त्युत्थ के ३६ भेद हुए—जिनकी मिलित संख्या ५१ है। ध्वनि के ये शुद्ध ५१ प्रभेद हैं।

ध्वनि-प्रभेद के इतिहास में भोजराज ने कतिपय अन्य नई संज्ञाओं का प्रयोग किया है—उन्होने भी बताया है कि ध्वनि का रूप अनेक प्रकार का है। सामान्यतः पहले उसे द्विधा विभक्त किया गया है—अर्थध्वनि एवं शब्दध्वनि। अर्थध्वनि के भी दो भेद है—अनुनादध्वनि, प्रतिशब्दध्वनि।

उक्तविध ५१ शुद्ध भेदो के अतिरिक्त इसके संकीर्ण प्रभेद भी किए गये हैं। काव्यप्रकाशकार ने इसके संकीर्ण भेद १०४०४ माने हैं, पर साहित्यदर्पणकार ने कम। दोनों की गुणन प्रक्रिया और उसके मूल में निहित सिद्धांत भिन्न-भिन्न है। फिर भी व्यजक सामग्री के स्वरूप, देश एवं कालगत प्रातिस्विक भेदवश व्यग्य अर्थ अनंतप्रकार का संभव है। आनंदवर्द्धन ने इस प्रकार अनत भेदो की चर्चा स्वयं की है।

इस स्थिति में अब पूर्वोत्थापित प्रश्न पुनः विचारणीय है कि जब व्यंग्य व्यंजक वैचित्र्य को एक ओर आनंद रस की दृष्टि से नितान्त अमहत्त्वपूर्ण घोषित करते हैं—उसकी बौद्धिक प्रक्रिया को आपेक्षिक महत्त्व नहीं देते—तो उसका इतनी संरम्भतापूर्वक प्रतिपादन क्यों करते है?

आनंदवर्द्धन ने स्वयं इसका समाधान किया है और बताया है कि इससे और कुछ नहीं, बल्कि प्रतिभा का आनन्त्य सिद्ध होता है और प्रतिभा के आनंत्य से महाकवित्व की सिद्धि होती है। अर्थात् महाकवि वही है जिसकी प्रतिभा किसी भी वर्ण्य विषय की इयत्ता ही न जाने। वह तभी संभव है जब वर्ण्य की, वर्ण्य की उपस्थापित करने की प्रणाली की इयत्ता न हो और यह बात प्रतीयमान के अनंतानत भेदों की स्थापना मात्र से ही संभव है। निष्कर्ष यह कि ध्वनिवैचित्र्य या व्यंग्यव्यंजकभाव वैचित्र्य की अनंतता का प्रतिपादन उसकी आत्मस्तरीय सारवत्ता के कारण नहीं, बल्कि महाकवित्व सिद्धि के लिए किया गया है।

परवर्ती आलोचको का यह आक्षेप भी कि ध्वनिमत में रस को हजारों प्रभेदों के बीच एक प्रभेद के रूप में रखा गया है और इस प्रकार उसका महत्त्व कम कर दिया गया है—विचारणीय है। रस को एक प्रभेद के रूप में अवश्य रखा गया है—पर उसे सर्वातिशायी और मूर्द्धन्य माना गया है। साथ ही आत्मा के दृष्टांत से यह भी कहा गया है कि जिस प्रकार

लोक व्यवहार में समुचित-आवरण में व्यक्त होने वाली आत्मा की ही चर्चा होती है—सूखे काठ में व्याप्त अव्यक्त आत्मा का नहीं—उसी प्रकार अभिनवगुप्त ने यह भी माना है कि गुणालंकारोपस्कृत शब्दार्थ शरीर में व्यक्त होनेवाली रसमयी आत्मा को ही सर्वातिशायी और महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यह आत्मा जहाँ जितने ही उचित आवरण में व्यक्त होगी वहाँ उतनी ही प्रशस्त समझी जायगी।

इस स्थिति में कभी-कभी अद्यतन समालोचक यह भी प्रश्न करते हैं कि **रस और ध्वनि का *क्या संबंध है ?**

उक्त विवेचन के अलोक में रस और ध्वनि का सबध नितांत स्पष्ट है। यह तो बताया ही जा चुका है कि ध्वनि का प्रयोग चार अर्थों में है १—व्यंजक २—व्यंग्य ३—व्यंजन एवं इनकी ४—समष्टिकाव्य। अपने प्रथम अर्थ में ध्वनि एवं रस का संबंध व्यंग्यव्यंजक भाव संबंध है। ध्वनि इस रूप में रस व्यंजक समस्त उपकरण है। इसी के कारण रस व्यक्त होता है और जब तक इसकी प्रतीति रहती है तब तक रस का भी अपरोक्षानुभूति होती है। कहना चाहिए कि इस कार्य में विभावादि जब तक जीवित हैं तभी तक रस प्रतीति की अवधि है। अपने दूसरे अर्थ में व्यग्य तभी ध्वनि है—जब वह सर्वातिशायी हो। दूसरी बात यह भी है कि सर्वातिशायी होकर भी रस की अपेक्षा व्यापक है क्योंकि ध्वनि में रस, वस्तु एव अलकार सभी का सन्निवेश है अतः सीमित अर्थ में ध्वनि और रस का तादात्म्य या एक रूपता भी है—दोनों में कोई अंतर नहीं। अपने तीसरे अर्थ में—प्रधानीभूत अर्थ के व्यंजक व्यापार के रूप में—इसका रस से यह संबंध है कि एक व्यापार है और दूसरा फल। रस ग्रहण के लिये अभिनवभारती में 'रसन' व्यापार का उल्लेख हुआ है साहित्यदर्पणकार तो 'रसना' व्यापार को ही रसग्रहण का साधन मानते हैं और कहते हैं कि व्यंजना का रसग्रहण के माध्यम रूप में जो कहीं-कहीं उन्होंने उल्लेख कर किया है—वह व्यजनास्थापन की झक के कारण। 'व्यंजना' के प्रति 'रसन' की तुलना में जो कतिपय आचार्य उपेक्षा प्रदर्शित करते हैं उसका कारण यह है कि वे इसमें असंगति देखते हैं। असंगति यह है कि व्यंजना सिद्धार्थ की प्रकाशिका है—और रस प्रतीति से पूर्व सिद्ध है नहीं अतः असिद्ध की प्रकाशिका शक्ति व्यंजना कैसे हो सकती है ? पर यह आक्षेप घर-प्रदीप न्याय से व्यंजना को समझने समझाने वाले देते हैं। व्यंजना को दध्यादि न्याय से ग्रहण करने वाले अव्यक्त दधि का दुग्ध में प्रकाशन माननेवाले रसप्रतीति या रसाभिव्यक्ति में व्यंजना को ही निमित्त मानने में कोई अड़चन

नहीं देखते । अपने चौथे अर्थ में समष्टिभूत काव्य के अर्थ में ध्वनि और रस का आश्रयाश्रयीभाव संबंध कहा जा सकता है । यहाँ आश्रय का अर्थ अधिकरण न समझकर उपजीव्य समझना चाहिए। आश्रय अपने अधिकरण के अर्थ में ग्राहक की आत्मा या अंतःकरण है। रस अपनी आनंद-मयता में ग्राहक की आत्मा से अभिन्न भी दार्शनिक विवेचकों ने कहा है। सक्षेप में ध्वनि और रस का यही संबंध है।

जिस प्रकार अपने यहाँ व्यञ्जक भाषा को काव्य-क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है, उसी प्रकार पश्चिम के काव्याचार्यों ने भी Emo ine Language को पर्याप्त महत्त्व दिया है। जिस प्रकार काव्य में अपने यहाँ इन ध्वनिवादियों के अनुसार प्रसिद्ध अवयवों से अतिरिक्त ललनालावण्य की भाँति प्रसिद्ध शब्दार्थ से अतिरिक्त 'प्रतीयमान' अर्थ को महत्व दिया जाता है उसी प्रकार पश्चिम में भी विभिन्न आचार्यों ने Extra-meaning को (अतिरिक्त अर्थ को) काफी महत्त्व दिया है। काव्यगत सूक्ष्म अर्थों की ओर प्रयाण ध्वनिवादी दिशा की ओर ही प्रयाण है। भारतीय आचार्यों में आनंदवर्द्धन ने आदर्श काव्य के लिए यह आवश्यक माना है—

"प्रसन्नगंभीरपदाः काव्यबंधाः सुखावहाः।'

काव्य-बंध को प्रसन्न और गंभीर होना आवश्यक है। प्रसन्नता वहीं संभव है—जहाँ मूल प्रतिभा में ही उलझन और अस्पष्टता नहीं है। गांभीर्य के लिये भोजराज ने कहा है—'ध्वनिमत्ता तु गांभीर्यम्'—ध्वनिसंपन्न होना ही काव्य का गांभीर्य है। अभिनवगुप्त ने भी उक्त श्लोक की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए यही कहा है कि सुखावह या सुंदरकाव्य के लिए प्रसन्न अर्थात् प्रसादगुण युक्त तथा गंभीर अर्थात् व्यंग्यार्थाक्षेपक पदों का प्रयोग समुचित है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपनी विवेचनाओं में बताया है कि काव्य का सारा सौंदर्य वाच्यार्थ में है, पर जितने उदाहरणों से इस तथ्य को स्पष्ट किया है वे सब किसी न किसी प्रकार व्यंजक वाच्यार्थ के उदाहरण हैं और व्यंजक वाच्यार्थ भी ध्वनि ही है—अतः शुक्ल जी की उक्ति को दूसरी ओर से देखा जाय—तो क्रमागत ध्वनि संबधी धारणा में कोई अंतर नहीं पड़ता।

संस्कृत के लक्ष्यग्रंथो में भी अनेक स्थलो पर वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है—जहाँ वह सामान्यतः वाग्वैदग्ध्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है पर लक्षण ग्रंथों में वह विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रयुक्त हुआ है—यों उन विभिन्न रूपों का संबंध किसी न किसी प्रकार वाणी के वैचित्र्य से ही है। भामह ने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों का मूल माना है और कहा है कि इसके योग के विना किसी भी अर्थ में विभावन की क्षमता ही नहीं आ सकती। यद्यपि कतिपय विद्वान् भामह की 'अतिशयोक्ति' और वक्रोक्ति में यह अंतर बताना चाहते हैं कि अतिशयोक्ति में बात को बढ़ाकर प्रस्तुत किया जाता है और वक्रोक्ति में घुमाकर—पर जब भामह स्वतः अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को परस्पर पर्याय मानते हैं—तब हमें अपने व्यक्तिगत निर्णय को उन पर लादना उपयुक्त नहीं जान पड़ता। वे उक्तिगत आतिशय्य को उक्ति के लोकातिक्रान्तरूप में मानते हैं और उसी को उक्तिगत 'वक्रता' भी कहना चाहते हैं। इस प्रकार भामह के अनुसार जिस सौदर्य के उक्ति-गत उभाड़ वश काव्यत्व प्रस्फुटित होता है—वह अलंकारात्मक ही माना गया है और उसका मूल आधार इनके मत में 'वक्रोक्ति' है।

दण्डी ने वाङ्मय को काव्य एवं शास्त्रात्मक मानते हुए यह कहना चाहा है कि प्रथम में 'वक्रोक्ति' एवं द्वितीय में 'स्वभावोक्ति का साम्राज्य रहता है। पर इससे यह समझना निरी भ्रांति होगी कि दण्डी काव्य में 'स्वभावोक्ति' नहीं मानते। काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद में उन्होंने स्पष्ट रूप से अलंकारों की गणना कराते हुए पहला अलंकार 'स्वभावोक्ति' या 'स्वभावाख्यान' को माना है। यद्यपि वहाँ यह कहा गया है कि शास्त्र में तो स्वभावोक्ति या सहज कथन (वास्तव कथन) होता ही है—पर 'काव्येष्वप्येतदीप्सितम्'—काव्य में भी आलंकारिक रूप में इसका प्रयोग अभीप्सित है। शास्त्र में वह स्वभावोक्ति चाहे जैसी (असुंदर) हो, पर काव्य में वर्ण्य पदार्थों की नाना अवस्थाओं एवं रूपों का साक्षात् विवरण या प्रत्यक्षायमाण चित्र के रूप में इसका प्रयोग आवश्यक है। दण्डी के इस वक्तव्य द्वारा शास्त्र एवं काव्य गत प्रयुक्त स्वभावोक्ति की भेदक विशेषता का स्पष्ट कथन तो नहीं है—पर 'सुंदरस्वभावाख्यान' एवं 'असुंदरस्वभावाख्यान' के से अंतर का संकेत अवश्य है—क्योंकि 'शास्त्रात्मक स्वभावाख्यान' एवं

'काव्यात्मक स्वभावाख्यान'— में कोई अंतर उन्हें भी कहना ही होगा। इस स्थिति में यह प्रश्न सहज ही उठ खड़ा होता है कि दण्डी-सम्मत 'वक्रोक्ति' अलंकारात्मक 'स्वभावोक्ति' में व्याप्त है या नहीं ? निश्चय ही जब वे 'वक्रोक्ति' को 'स्वभावोक्ति' के विरोध में प्रस्तुत करते है— तो वे दोनों को भिन्न मानते ही है—अर्थात् भामह की भाँति ये स्वभावोक्ति अलकार के मूल में वक्रोक्ति की स्थिति न मानकर अन्य (उपमा से ससृष्टि पर्यंत) अलंकारो में ही वक्रोक्ति को मूल मानना चाहते हैं। फलतः भामह की अपेक्षा इनकी वक्रोक्ति की व्याप्ति कुछ कम हो जाती है। इस प्रकार जो विद्वान् दण्डी की वक्रोक्ति को भामह की भाँति समस्त अलंकारों का आधार मानते हैं—वे चिन्त्य हैं। इन्होने भी 'अतिशयोक्ति' के विवेचन में वर्ण्य-गत विशेषता की 'लोकसीमातिवर्तिनी' विवक्षा को ही अतिशयोक्ति कहा है और उसे अन्य अलंकारों का परम आश्रय भी बताया है—फलतः भामह की भाँति इनकी अतिशयोक्ति भी वक्रोक्ति का पर्याय हो सकती है—पर पर्याय होकर 'स्वभावोक्ति' में उसे अव्याप्त मानना ही पड़ेगा। इस दृष्टि से भामह की 'वक्रोक्ति' की अपेक्षा इनकी 'वक्रोक्ति' का चाहे स्वरूप अभिन्न हो – पर व्याप्ति उतनी नहीं ही है। दूसरा अंतर भामह एवं दण्डी की वक्रोक्ति विषयक धारणा में यह भी है कि जहाँ दण्डी वक्रोक्ति-गत शोभा के बढ़ाने में प्रायः श्लेष को महत्त्वपूर्ण मानते हैं—वहाँ भामह इस प्रकार की कोई बात नहीं करते !

वामन ने 'वक्रोक्ति' की व्याप्ति को दण्डी से भी कम कर दिया— उन्होंने वक्रता की सीमा केवल 'सादृश्याश्रित लक्षणा' तक ही मानी—भले ही अन्य आलंकारिकों ने इनके द्वारा निरूपित अन्य काव्य-गुणों में भी वक्रता की झलक बताई हो।

रुद्रट ने 'वक्रोक्ति' की परिधि इतनी कम कर दी कि उनके यहाँ वह केवल एक शब्दालंकार का भेद मात्र बनकर रह गया। रुद्रट ने उसे श्लेष-वक्रोक्ति एवं काकुवक्रोक्ति जैसे दो भागों में बाँटकर रखा। 'अतिशय' की चर्चा इन्होंने भी की है—पर वह कतिपय अलंकारव्यापी रूप में ही—न कि समस्त अलंकारों से मूल रूप में, यद्यपि 'अतिशय' का स्वरूप 'अतिलोक' विशेषताओं को ही बताया है। यहाँ पर न तो वक्रोक्ति एवं अतिशय पर्याय ही रह गए हैं और न तो उनकी वह पूर्वागत विस्तृत व्याप्ति ही रह पाई है।

आनंदवर्द्धन एवं उनके टीकाकार अभिनवगुप्त ने 'वक्रता' विषयक भामह की धारणा की पुनरावृत्ति की है—उन्हीं को उद्धृत कर उन्हीं के अनुरूप उसकी व्याख्या प्रस्तुत की है, परंतु ध्यान से देखने पर—उनकी मूल

मान्यताओं के संदर्भ में देखने पर—वहाँ पर्याप्त अंतर भी लक्षित होगा। आनंदवर्द्धन एवं अभिनवगुप्त ने शब्द एवं अर्थ-गत-वक्रता को उनके लोकातिगामी रूप में ही स्वीकार किया है और समस्त अलंकारों का मूल भी माना है पर 'अलंकार' क्या हैं—इस विषय में भामह की धारणा से आनंदवर्द्धन एवं अभिनवगुप्त की धारणा सर्वथा पृथक् है। भामह काव्यगत समस्त सौंदर्य का मूलाधार ही (काव्यशरीराश्रित) अलंकारों को मानते हैं—जबकि आनंदवर्द्धन एवं अभिनवगुप्त न तो अलंकार और सौंदर्य को पर्याय ही मानते हैं और न तो उसे एकमात्र सौंदर्यस्रोत। भामह सौंदर्य का आश्रय काव्यशरीर (शब्द एवं अर्थ) को मानते हैं, आनंद एवं अभिनव काव्य की आत्मा को। भामह सौंदर्य का स्रोत अलंकार को मानते हैं—आनंद एवं अभिनव व्यञ्जकत्व को। तृतीय उद्योत में आनंद ने बड़े ही विस्तारपूर्वक यह प्रतिपादित किया है कि चारुत्व एवं व्यञ्जकत्व का नियत संबंध है। उन लोगों के अनुसार ऐसा हो नहीं सकता कि व्यंजकता न हो और सौंदर्य की अभिव्यंजना हो।

वक्रोक्ति संबंधी पूर्वागत दोनों धाराएँ—शब्दालंकार के एक भेद के रूप में संकीर्णधारा तथा अलंकारमात्र में व्याप्त रहनेवाली सामान्य धारा—आनंद में भिन्न भूमिका पर प्रवाहित हैं। मम्मट ने तो स्पष्ट ही एक तरफ वक्रोक्ति को शब्दालंकारों के प्रसंग में निरूपित किया है और अर्थालंकारों का विवेचन कर लेने के बाद दूसरी ओर अलंकारमात्र के मूल में व्याप्त रहने वाली वक्रता का भी उल्लेख किया है।

दण्डी की भाँति कुंतक के समसामयिक भोज ने वाङ्मय का त्रिधा विभाजन किया है—स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति एवं रसोक्ति। साथ ही यह भी बताया है कि अलंकार के ये ही तीन वर्ग हैं। इस प्रकार भोज ने दण्डी की अपेक्षा वक्रोक्ति की व्याप्ति को न केवल स्वभावोक्ति से ही हटाया, बल्कि रसोक्ति से भी हटाया और इस प्रकार दण्डी की अपेक्षा वक्रोक्ति की सीमा कम हो गई। भोज ने दूसरी तरफ एक चमत्कार और खड़ा किया है। उन्होंने कहा कि वाच्यार्थ से संबद्ध प्रतीति ही लक्षणा है—जो विदग्धों द्वारा प्रयुक्त वक्रोक्ति का जीवन है।

इस प्रकार संकुचित और व्यापक रूपों में जिस वक्रोक्ति की चर्चा होती आ रही थी—उसे कुंतक ने काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया। कुंतक ने वक्रोक्ति को जिन भूमिकाओं पर अथवा जिन पृष्ठभूमियों पर निरूपित किया उसका एक पक्ष तो ऊपर बताया जा चुका है पर एक दूसरा पक्ष

भी है जिसका निरूपण कुंतक-सम्मत वक्रोक्ति के स्वरूप-निर्वचन से पूर्व कर देना आवश्यक है। दूसरा पक्ष इस प्रकार है कि कुंतक से पूर्व आनंदवर्द्धन ने व्यंजकता या ध्वनि को समस्त काव्योचित सौंदर्य का मूलाधार बताया था—जिसके खंडन से पूर्व ये कुंतक अपना पक्ष रख ही नहीं सकते थे। अतः यहाँ यह आवश्यक है कि आनंदवर्द्धन के पक्ष को संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया जाय और उसके विपक्ष में कुंतक की मान्यता स्पष्ट कर दी जाय।

'व्यंजकता' और 'वक्रता'—भारतीय साहित्यशास्त्र के दो पारिभाषिक शब्द हैं। पहला—ध्वनिवादियों के चिन्तन की उपज है और दूसरा वक्रोक्तिवादियों की विचारणा का परिणाम। ऐतिहासिक क्रम से देखा जाय, तो दूसरे का अवतार प्रथम की प्रतिक्रिया में परवर्ती है—अर्थात् 'व्यंजकता' के अनंतर 'वक्रता' का अस्तित्व साकार हुआ है। 'व्यंजकता' के अवतरण से पूर्व प्राचीन काव्य-चिंतक इतना तो अवश्य स्वीकार करते थे कि सामान्य उक्ति से काव्यात्मक उक्ति की विशेषता 'सुंदर' होने में है—पर वह 'सौंदर्य' कहाँ है-उसका स्रोत क्या है-इन विषयो पर स्थूल दृष्टि से ही वे सोच सके थे। उनकी दृष्टि काव्य के शरीर पक्ष-शब्द एवं अर्थ-तक ही सीमित थी, वे उसे ही अलंकार्य समझते थे, सौंदर्य का चरम आश्रय स्वीकार करते थे और समझते थे कि इसी बहिरंग या शरीराश्रित विशेषताओं में ही सौंदर्य का स्रोत छिपा हुआ है। वे समझते थे कि काव्य या सुंदर उक्ति की चीरफाड़ की जाय-तो उसमें कुल चार ही तत्त्व निकल सकते हैं—(१) शब्द, (२) अर्थ (३) शब्दार्थ की स्वरूपगत चारुता का निमित्त (अलंकार), (४) शब्दार्थ योजनागत चारुता का निमित्त (गुण)। इनसे अतिरिक्त किसी भी तत्त्व का बोध उन्हें नहीं था। ध्वनिवादियों ने उक्त धारणा की असारता अनेक तर्कों से प्रदर्शित की। उन लोगों ने बताया कि ये पूर्ववर्ती चितक काव्य की आत्मा की बात तो अवश्य करते है-पर आत्मा से जो कुछ (शरीराश्रित विशेषताएँ) समझते हैं-वह भ्रांतिपूर्ण है। आत्मा शरीर के आवरण में निहित वह मूल तत्व है जिससे शरीर का भी अस्तित्व है, जिससे शरीर की सुंदरता है, जिससे शरीर सस्पंद है, जिसके कारण ही शरीर ग्राह्य, उपादेय एवं सार्थक है, जिसके कारण ही शरीराश्रित विशेषताएँ (गुण-अलंकार) विशेषताएँ जान पड़ती हैं-जिसके अभाव में अचेतन शरीर या शव की भाँति काव्य-शरीर कितने भी गुण एवं अलंकारों से विभूषित हो-अनाकर्षक एवं असुंदर ही रहेगा। निष्कर्ष यह कि 'उक्ति' में जिस 'सौंदर्य' के समुन्मेष से काव्यत्व का प्रकटन होता है-वह शरीराश्रित गुण और अलंकार नहीं है-बल्कि उससे अतिरिक्त

उसमें भी शरीर को दीप्त करने की क्षमता भरनेवाला अनंत सौंदर्य का निधान आत्मतत्त्व कोई भिन्न वस्तु ही है—वह शरीर के सहारे व्यक्त होनेवाली, शरीर को दीप्त करनेवाली, शरीर से पृथक् वस्तु है। यदि शरीर है तो शरीरी (आत्मा) उससे अतिरिक्त होना ही चाहिए। यदि अलकार है—तो अलंकार्य उससे भिन्न होना ही चाहिए। यदि गुण है तो गुणी—उससे भिन्न होना ही चाहिए। यदि शरीरी, अलंकार्य तथा गुणी पर्यायवाची हैं—तो निश्चय ही उक्त चारों से पृथक् वह तत्त्व है। एक उदाहरण लें—'इस मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो'—यह एक सुंदर उक्ति है—काव्यात्मक उक्ति है, पर इस उक्ति की आत्मा क्या है? क्या इस उक्ति का वाचकरूप और वाच्य अर्थ? क्या उपमेय को निगीर्ण करनेवाले उपमानों के प्रयोग? अप्रस्तुत योजनाएँ? वाच्य योजना में निहित विशेषता? कदाचित् इनमें से कोई नहीं? बल्कि इन सबसे प्रकाशित होनेवाला वह सूक्ष्म अर्थ, जिसे 'प्रतीयमान' या 'व्यंग्य या Suggested meanıng या "Ex'ra-meenıns" कहते हैं। व्यावहारिक उक्तियों की अपेक्षा काव्य का यही 'कुछ और ही अर्थ' वह मूलतत्त्व है—जो उसे सुंदर बनाता है, जिसे आनंदवर्द्धन ने अंगों के भीतर से अंगों के ऊपर छलकनेवाले 'लावण्य' से उपमित किया है, जिसे मुक्ताफल की तरल छाया से तुलित किया है। प्रस्तुत उदाहरण में वह अर्थ है—"आध्यात्मिक क्षेत्र का वह एकांत साधक—जो अपनी उपासना में अपने को घुलता जा रहा है, जलाता जा रहा है, पर इसमें क्रंदन का एक स्वर नहीं।" यही अर्थ उस उक्ति की आत्मा है, अप्रस्तुत योजनाओं का उपकार्य है। इसके अभाव में उसका स्वतः कोई सौंदर्य नहीं। उक्ति अपनी वाचकता में नहीं, व्यंजकता में सुंदर है। इसी आत्मा की शब्द-गत प्रकाशक क्षमता ही 'व्यंजकता' है। व्यंजक शब्द ही काव्य है—इसी रूप में वह सामान्य शब्द से भिन्न है। कारण यह है कि इसी रूप में वह व्यावहारिक शब्द की अपेक्षा कुछ 'अतिरिक्त अर्थ' लिए रहता है—जिसके कारण वह 'सुंदर' होता है।

ध्वनिवादियों की इस स्थापना के अनंतर 'वक्रता' को काव्य की आत्मा सारतत्त्व—बताने वाले परवर्ती आलंकारिक हैं—कुंतक। इन्होंने ध्वनिवादी का विरोध किया। इन्होंने यह कहा कि कवि के अभिप्रेत अर्थ को प्रस्तुत करने वाला शब्द ही काव्योचित शब्द है। व्यावहारिक शब्द यथाकथञ्चित् व्यवहारोपयोगी अर्थ तक ही सीमित रहते हैं—उसमें सौदर्य का ध्यान नहीं रहता। कवि और व्यवहारी दोनों ही अपने—अपने अभिप्रेत अर्थ के बोधक शब्द का प्रयोग करते हैं—इस दृष्टि से दोनों ही शब्दों को कुंतक

अभिधायक कहना चाहते हैं—अतर इतना अवश्य रखना चाहते हैं कि व्यावहारिक शब्द में अभीप्सित अर्थ प्रदान करने के 'अभिधा' रूप शक्ति की अपेक्षा साहित्यिक शब्द में जो अभीप्सित अर्थ प्रदान करने की क्षमता होती है—वह विचित्र अभिधा कही जानी चाहिए। ध्वनिवादियों की भाँति महत्त्व ये भी अतिरिक्त अर्थ को देना चाहते हैं—अंतर इतना ही है कि जहाँ इस अभिप्रेत अतिरिक्त—अर्थ की बोधकता को ध्वनिवादी 'व्यंजना' कहना चाहेंगे वहाँ ये 'विचित्र-अभिधा का प्रयोग करेंगे। यही विचित्र—अभिधा 'वक्रता' है।

वैसे 'वक्रता' शब्द का प्रयोग साहित्यचितकों ने विभिन्न अर्थों में किया है—पर इस 'वक्रता' का प्रयोग बहुत ही व्यापक अर्थ में हुआ है। भामह ने एक उस 'वक्रता' की भी चर्चा की है—जो समस्त 'अलकारों की आत्मा है। उन्होने माना है कि वक्तव्य को बिना घुमाये फिराये, बढ़ाये और घटाये–सुदर नहीं बनाया जा सकता। परन्तु इनकी 'वक्रता' का विस्तार केवल अलंकारों तक ही सीमित है। वामन की 'वक्रता' केवल सादृश्य गर्भित लाक्षणिक प्रयोगों तक ही सीमित है, उद्भट की वक्रोक्ति केवल श्लेष एवं काकु-गर्भ वक्रोक्ति नाम के एक शब्दालंकार तक ही समुचित है। कुंतक की वक्रता काव्य की 'वर्ण' जैसे लघुतम कल्पित खंड से लेकर प्रबंध जैसे अतिम रूप तक व्याप्त है। काव्य का वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण एवं प्रबंध–सबके सब जो सुंदर जान पड़ते हैं—वह सबमें परिव्याप्त 'वक्रता वश–अपने द्वारा अभिप्रेत सुंदर प्रतिपाद्य की बोधन–क्षमता–[विचित्र अभिधा] वश। व वास्तविक पर औपचारिक रूप से सभी अपने-अपने द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ के बोधक ही तो हैं। भामह की 'वक्रता' का समावेश इनकी वर्ण-वक्रता और वाच्य-वक्रता में ही हो जाता है, वामन की वक्रता इनके पदपूर्वार्द्ध वक्रता के उपचार-वक्रता आदि भेदों में ही आ जाता है, उद्भट की वक्रोक्ति तो महज एक अलंकार के भीतर की वस्तु है।

इस प्रकार पूर्व एवं पश्चिम के नये और पुराने–सभी काव्यचितक जब साहित्यिक शब्द में 'अतिरिक्त अर्थ' 'नया अर्थ' भरना चाहते हैं—तो वे शब्द की अतिरिक्त सामर्थ्य की ही बात करते हैं। शब्द की इस अतिरिक्त सामर्थ्य को कोई 'व्यंजकता' कह लेता है और कोई 'विचित्र अभिधा' या वक्रता'।

इस प्रकार कुंतक ने विविध अर्थों में परम्परागत वक्रोक्ति को ध्वनिवादियों के विरोध में काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया।

कुंतक की उक्त स्थापना कहाँ तक युक्तियुक्त और ग्राह्य है—इस पर विचार करने से पहले उनकी 'वक्रोक्ति' संबंधी समस्त धारणाओं का एक विहंगावलोकन कर लेना नितांत आवश्यक है।

वक्रोक्ति का स्वरूप :—

यह एक सिद्ध और मानी हुई बात है कि सामान्य उक्ति नहीं, प्रत्युत सुंदर उक्ति ही काव्य है। प्रश्न यह खड़ा होता है कि काव्यत्व के उन्मेष के लिये जो ,सौंदर्य' उक्ति-गत अपेक्षित है—वह स्वाभाविक उक्ति में है—स्वभाविक वस्तुगत है—या कवि कल्पना से निर्मित पदार्थ और उसको समर्पित करने वाली उक्ति में है ? कुंतक ने आरंभ में ही इस प्रश्न को प्रस्तुत किया है और अपना मत उत्तरवर्ती विकल्प के पक्ष में दिया है। उन्होंने स्वभाववादियों के तर्क संदर्भ की अवहेलना की है और 'वैचित्र्यवाद' में अपनी आस्था प्रकट की है। उनके अनुसार काव्योचित सौंदर्य वस्तु स्वभावगत नहीं, कवि व्यापार-गत है। यह कवि की प्रौढ़ि है—जो उसकी रुचि से परिचालित होकर लोकोत्तर चमत्कारकारी 'वैचित्र्य की सृष्टि करती है। इसी वैचित्र्य की सिद्धि के लिये काव्य में 'वक्रोक्ति' नामक अपूर्वचर्चित अलंकार की उद्भावना कुंतक ने की है। काव्य अलंकार्य है और वक्रोक्ति अलंकृति। कवि-व्यापार से अपना विचार आरंभ करने वाले कुंतक ने यह भी कहा है कि वह अखंड और एक रस है—फलतः निर्माण या सर्जना के धरातल पर जहाँ संश्लेष है—वहाँ अलंकार एवं अलंकार्य—जैसी विश्लिष्ट वस्तुओं की संभावना ही नहीं है—फिर भी जब एक विवेचक आचार्य अपना विवेचन आरंभ करता है—तो उसे विश्लेष की कल्पित भूमिका दूसरों को समझाने के लिये अपनानी ही पड़ती है—इसीलिये उन्होंने काव्य की 'वक्रोक्ति' जैसी अलंकृति को अलंकार्य से भिन्न करके समझाते समय कहा कि वे ऐसा भेद महज दूसरों को समझाने के लिये अपनी ओर से कल्पित करके कहते हैं।

ऊपर कहा गया है कि काव्यात्मक उक्ति-गत सौंदर्य की निष्पत्ति के लिये जिस 'वक्रोक्ति' नामक अपूर्व अलकृति की उद्भावना की गई है उसका लक्ष्य है 'वैचित्र्य' की सिद्धि। पर यह 'वैचित्र्य' चाहे जैसा नहीं होना चाहिए—उसे 'लोकोत्तर' चमत्कारवादी होना ही चाहिए, उसे 'कविव्यापारप्रसूत' होना ही चाहिए। फलतः उसके विषय में यह दुस्तर्क नहीं किया जा सकता कि वैचित्र्य जैसे सामान्य से उत्कृष्ट होने में है—वैसे ही निकृष्ट होने में भी—क्योंकि वैचित्र्य का अभिप्राय केवल इतना ही है कि वह प्रसिद्ध या सामान्य व्यावहारिकरूप

से भिन्न हो और भेद जैसे उत्कर्ष में है वैसे ही अपकर्ष में भी। निष्कर्ष यह कि वक्रोक्ति द्वारा उत्पाद्य 'वैचित्र्य को कविप्रतिभाप्रसूत[1] आह्लादकारी[2] होना ही चाहिए अतः उसे सामान्य रूप से उत्कृष्ट ही होना चाहिए निकृष्ट नहीं।

कुंतक ने 'वक्रोक्ति' को स्पष्ट करने के लिये अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है—

(क) वक्र = शास्त्रादि प्रसिद्धशब्दार्थोपनिबंधव्यतिरेकी

(ख) वक्रोक्ति = वैदग्ध्यभंगीभणिति।

(ग) वक्रोक्ति = प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी

(घ) विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिः

(ङ) वक्रत्वं वक्रभावः = प्रसिद्धप्रस्थानातिरेकिणा वैचित्र्येणोपनिबंधः

(च) वक्रोक्तिः = सकलालंकारसामान्यम्

(छ) स्वभावस्याञ्जसेन प्रकारेण परिपोषणमेव वक्रतायाः परं रहस्यम्

उक्त उद्धरणों से तीन बातें सामने आती है—पहली यह कि काव्य को सुदर बनाने वाले समस्त साधन-प्रकारो में व्याप्त वक्रता नामक ऐसा तत्त्व, जो कविव्यापारकौशल वश उक्ति में शास्त्रीय एवं व्यावहरिक वाक् प्रयोग से विलक्षणता ला दे। दूसरा यह कि वक्रोक्ति विचित्र अभिधा (शक्ति) है। अर्थात् जहाँ पहले यह कहा गया था कि वक्रोक्ति एक विशेष प्रकार की उक्ति है—भङ्गीभणिति है—वहाँ दूसरी जगह उसे विचित्र अभिधा शक्ति बताया गया। तीसरी बात यह है कि जहाँ दोनो स्थानों पर वक्रोक्ति का स्वरूप बताते हुए 'स्वभाव' विरोधी वैचित्र्य का आख्यान किया गया वहाँ अन्यत्र यह बताया गया कि वक्रता का परम रहस्य यह कि वहाँ वस्तु के 'स्वभाव का सरल ढंग से परिपोष हो

वस्तुतः वक्रोक्ति है—तो वक्र उक्ति या विचित्र उक्ति ही। विचित्र इसलिये है कि शास्त्र एवं व्यवहार में प्रयुक्त उक्ति से यह भिन्न है। भिन्न इसलिये है कि शास्त्र एवं व्यवहार में प्रयुक्त उक्ति का लक्ष्य लोकोत्तर चमत्कार का उत्पादन नहीं होता—जिसके लिये शब्द एवं अर्थ में परस्पर प्रतिस्पर्द्धा रहती है। पर इस स्थिति में विचित्र अभिधा को वक्रोक्ति कहना कहाँ तक संगत होगा?

---

(१) यत् किञ्चन्नापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्।१।२८

(२) लोकोत्तरच्चमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।१।

वस्तुतः कुंतक ने अपनी विवेच्य 'वक्रोक्ति' को अलंकरण कहा है और बताया है कि शब्द एवं अर्थ अलंकरणीय हैं। यदि 'उक्ति' की भावपरक व्युत्पत्ति स्वीकार की जाय—तो उसका अर्थ अभिधायक एवं अभिधेय न होकर 'अभिधान' ही होगा और 'विचित्र अभिधा' 'विचित्र-अभिधान' ही है। प्रमाण में कुंतक की 'प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिः'—इस पंक्ति को उद्धृत किया जा सकता है। यहाँ प्रसिद्ध अभिधान से भिन्न विचित्र-अभिधा विचित्र-अभिधान ही है। निष्कर्ष यह कि 'विचित्र-अभिधा' में अभिधा शब्द का प्रयोग 'अभिधान' परक है—शक्तिपरक नहीं। हाँ, यहाँ दूसरा प्रश्न तब यह खड़ा किया जा सकता कि यदि 'अभिधा' शब्द का शक्ति-परक प्रयोग नहीं है—तो इस लेख में विचित्र-अभिधा को शक्तिपरक स्वीकार करके उसमें व्यजकता के अतर्भाव की बात क्यों कही गई? इस प्रश्न का समाधान यह है कि वहाँ पर मैंने कुंतक के ध्वनि-अंतर्भाव के अनुरूप अपनी ओर से उनके अभिप्रेत अर्थ की कल्पना की है। इस प्रकार उनकी वक्रोक्ति-स्वरूप-निरूपक पंक्तियों में परस्पर कोई विरोध नहीं है।

यहाँ तीसरा प्रश्न या अंतर्विरोध यह आता है कि एक जगह तो कुंतक 'स्वभाव' वाद का विरोध करते हैं और 'वैचित्र्य' का ही एकमात्र समर्थन—पर उपर्युक्त उद्धरण में उसी 'वैचित्र्य' या 'वक्रता' का परमरहस्य 'स्वभाव' के ही परिपोष को कहते हैं? इस विषय में सीधा सा समाधान यह समझना चाहिए कि 'वैचित्र्य' या 'वक्रता' या 'वक्रोक्ति'—अलंकरण हैं—वे अपने आप साध्य नहीं हैं—बल्कि साधन हैं, वर्ण्य वस्तु के स्वभाव की छटा बढ़ाने में उनका उपयोग है। इसलिए कुतक अपने प्रतिपाद्य के विषय में लोगों की भ्रांति का निवारण करते हुए यह कहना चाहते हैं कि 'वैचित्र्य' या 'वक्रता' काव्य में प्रतिपाद्य नहीं है—क्योंकि यदि ऐसा हुआ तब तो काव्य अजायबघर हो जायगा। उनके अनुसार काव्य में 'वैचित्र्य' साधन है—जो वस्तु के स्वभाव का उत्कर्ष बढ़ाता है। कुंतक मानते हैं कि वस्तु के स्वभाव में स्वतः काव्योचित सौंदर्य है ही नहीं—अतः तदर्थ कवि कल्पनाप्रसूत 'वक्रता' जैसे सौंदर्याधायक अलंकरण की आवश्यकता है। इस प्रकार निष्कर्ष ये हैं—

(१) वक्रोक्ति विचित्र—अभिधान है—वैचित्र्य की सिद्धि उसका प्रयोजन है।
(२) वह शास्त्रीय एवं व्यावहारिक अभिधान से विलक्षण है।
(३) वह कविकल्पनाप्रसूत है।
(४) वह स्वतः असुंदर वस्तु स्वभाव की काव्योचित छटा बढ़ाती है।
(५) वह लोकोत्तर आह्लादकारिणी है।

वक्रता के प्रकार:—

वक्रता के छः[1] भेद कहे गये हैं—जो 'वर्ण' से लेकर 'प्रबंध' तक परिव्याप्त हैं। उक्ति रूप काव्य की लघुतम इकाई है—वर्ण। वर्ण के अनन्तर 'पद' का स्थान है। 'पद' का निर्माण प्रकृति और प्रत्यय के योग से होता है। फलतः यदि 'प्रकृति' पद का पूर्वार्द्ध कही गई है तो प्रत्यय परार्द्ध। इस प्रकार पद-गत वक्रता के दो भागों में विभक्त कर दिया गया है—पद पूर्वार्द्ध वक्रता तथा पदपरार्द्ध वक्रता। पद के अनंतर उसकी समष्टि के रूप में अग्रिम अंश है—वाक्य। अतः चौथी वक्रता है—वाक्य वक्रता। वाक्य समष्टि तथा प्रबंध का अंग 'प्रकरण' कहा जाता है। इस प्रकार वक्रता का पाचवाँ भेद हुआ—प्रकरण वक्रता। काव्य का सबसे बड़ा रूप है—प्रबंध जिसको आधार बनाकर प्रबंध वक्रता की बात कही गई है।

वर्णवक्रता:—वर्णवक्रता से कुंतक का अभिप्राय यह है कि वर्णों का विन्यास इस विशिष्ट ढंग से किया जाय ताकि उसमें लोकोत्तर आह्लाद उत्पन्न करने की योग्यता आ जाय। इसी वर्णविन्यास वक्रता को चिरंतन आलंकारिकों ने अनुप्रास कहा है। इसमें व्यंजनों की अव्यवहित अनेकधा आवृत्ति की जाती है—जिससे एक विशेष प्रकार का सौंदर्य उत्पन्न होता है। कुंतक ने यह भी बताया है कि व्यंजन वर्णों की व्यवधानशून्य पुनरावृत्ति अपनी रुचि के अनुरोध से नहीं होनी चाहिए-बल्कि वर्ण्य-गत भावधारा के अनुरूप होनी चाहिए। इसके साथ तीन बातों का ध्यान और होना चाहिए—पहला यह कि पुनरावृत्ति का आग्रह न हो, दूसरा यह कि ऐसी योजना आयाससाध्य न होकर स्वभावतः भावावेश में हो जाय और तीसरी यह कि पूर्वावृत्त वर्णों का परित्याग हो तथा नूतन वर्णों के आवर्त्तन से यह वर्णविन्यास उज्ज्वल हो।

२—पद पूर्वार्द्ध वक्रता:—पद-गत प्रकृति भाग नाम भी हो सकता है और 'धातु' भी—अतः पद पूर्वार्द्ध की सीमा में दोनों के काव्योचित प्रयोगों को लिया जा सकता है। कुंतक ने इसके अनेक भेद बताये है—१—रूढ़ि वैचित्र्यवक्रता २—पर्याय वक्रता ३—उपचार वक्रता ४—विशेषण वक्रता ५—संवृति वक्रता ६—वृत्तिवैचित्र्यवक्रता ७—लिंग वक्रता ८—क्रियावैचित्र्य वक्रता

पद पूर्वार्द्ध वक्रता के इन भेदों में रूढ़िवैचित्र्यवक्रता लक्षणामूलक व्यंजना का सहारा लिया जाता है। स्वयं कुंतक ने कहा है कि वक्रता प्रकार से समन्वित शब्द द्वारा जिस काव्योचितसौंदर्य मण्डित अर्थ की उपस्थिति

(१) कविव्यापारवक्रत्वप्रकाराः संभवन्ति षट्। १।१८

कराई जाती है—वह शब्द की वाचकता या अभिधा शक्ति द्वारा नहीं, बल्कि आनंदवर्द्धन की सविशेष निरूपित व्यञ्जना द्वारा। उनकी अर्थान्तरसंक्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि का अंतर्भाव इसमें ही समझना चाहिए। उपचार वक्रता गौड़ी लक्षणा पर आश्रित प्रयोगों को लेकर चलने वाली है। कुंतक ने इसीलिये कहा है कि रूपक अलंकार का यह वक्रता प्रकार जीवित ही है क्योंकि रूपक स्वयं गौणी लक्षणामूलक प्रयोग है। पर्यायवक्रता की सीमा में पर्यायवाची शब्दों का महत्त्व न केवल उसकी अर्थमूला व्यंजना से लब्ध अर्थ सौंदर्य के बल से ही प्रदर्शित किया जाता है बल्कि शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के आधार पर भी इस वक्रता प्रकार का सौष्ठव प्रदर्शित किया जाता है। इसी प्रकार विशेषणवक्रता लिंगवक्रता तथा क्रियावैचित्र्यवक्रता का भी सौष्ठव व्यंजना का ही आश्रयी है। संवृत्तिवैचित्र्यवक्रता में सर्वनामों का सौंदर्य निहित रहता है और वृत्तिवैचित्र्यवक्रता में सामासिक प्रयोग एवं तद्धित आदि वृत्तियों का महत्त्व प्रदर्शित होता है। इस प्रकार विचित्र अभिधा में व्यञ्जकता का अंतर्भाव करते हुए भी व्यंजना की स्पष्ट चर्चा इन प्रसंगों में कुंतक ने की है। ३—पदपरार्द्धवक्रताः—के अंतर्गत प्रत्यय द्वारा उत्पादित अर्थ सौंदर्य वैशिष्ट्य प्रदर्शित किया जाता है। यहाँ भी व्यंजना का ही सौंदर्य है।

इस प्रकार पदवक्रता के द्वारा पदध्वनि एवं वाक्यध्वनि का अंतर्भाव भी हुआ है। पदवक्रता के सोदाहरण निरूपण के संदर्भ में उक्त तथ्य को कुंतक ने स्वयं स्वीकार किया है।

४ वाक्य वक्रता :—वर्णवक्रता एवं पदवक्रता कुंतक के अनुसार वाचक वक्रता की सीमा में है और वाक्य-वक्रता वाच्य या वस्तु वक्रता की परिधि में। इस वाक्यवक्रता या वस्तुवक्रता का स्वरूप विश्लेषित करते हुए उन्होंने कहा है कि वस्तु का उत्कर्षशाली स्वभाव से सुंदर रूप में केवल सुंदर शब्दों द्वारा वर्णन वाच्य-वक्रता या वस्तु-वक्रता कहलाती है।

वस्तु का स्वरूप कुंतक के अनुसार दो प्रकार का है—सहज और आहार्य सहजस्वरूप भी दो प्रकार का है—स्वभावप्रधान एवं रसात्मक। स्वभावगत धर्म भी दो प्रकार का है—सामान्य और शोभामय। कविकौशल निरपेक्ष [वस्तु के] सामान्य धर्म से संवलित वर्णना में काव्योचित महत्त्व नहीं होता फलत. सहृदयों को वह आह्लादकारी नहीं होता। कविकौशल सापेक्ष वस्तु वक्रता वश वस्तु का सहज स्वरूप स्वाभाविक एवं सरस होता है—और दोनों ही रूप आह्लादकर होते हैं। ऐसे सहज स्वरूप के आह्लादकर होने में अलंकृति कारण है—वह वस्तुवक्रता, न कि स्वभावोक्ति या रसवदलंकार।

कुंतक स्वभावोक्ति को भी अलंकरण नहीं मानते और रस को भी-उनके अनुसार वे दोनों ही अलंकार्य हैं— न कि अलंकार।

वस्तु के आहार्य स्वरूप की वर्णना में उपमादि अर्थालंकारों की सहायता ली जाती है। कुंतक मानते हैं कि वस्तु का स्वाभाविक सौंदर्य ही यदि प्रतिपाद्य हो-तो उपमादि अर्थालंकारों के विनियोग से उसे तिरोहित नहीं करना चाहिए। पर वस्तु स्वरूप गत यदि आहार्य-सौंदर्य उत्पन्न करना है—तो अलंकारों का वाग्वैचित्र्य का-साहाय्य लिया जा सकता है। पर साथ ही कुन्तक का यह भी कहना है—"यदि कदाचिदुपनिवध्यते तत्तदेव स्वाभाविकं सौकुमार्यं सुतरां समुन्मीलयितुम्, न पुनरलंकार वैचित्र्यप्रतिपत्तये" [व० जी० तृ० उ०]-अर्थात् यदि वस्तु का स्वाभाविक सौंदर्य ही प्रतिपाद्य हो-तब तो कवि द्वारा अलंकारों का अधिक प्रयोग नहीं ही समुचित है और यदि आहार्य-सौदर्य प्रदर्शित करना है—तब अलंकारों का प्रयोग किया जा सकता है—लेकिन तब भी इस बात का ध्यान रखना अधिक आवश्यक है कि उनके द्वारा स्वाभाविक सौकुमार्य का ही उन्मीलन हो-न कि आलंकारिक वैचित्र्य मात्र।

प्रकरणवक्रता :—कुन्तक ने प्रकरणवक्रता के कुल नव प्रभेदों की चर्चा की है और शेष समीक्षकों या आचार्यों की कल्पना पर छोड़ दिया है। प्रकरण प्रबंध के अंग होते हैं—फलत.अंग की अन्य-निष्पत्ति से अंगी का सौष्ठव बढ़ता है—प्रबंध का सौदर्य सम्पन्न होता है। कभी-कभी कोई प्रकरण इस प्रकार के आ जाते हैं जो सोत्साह सबादों से भरे रहते हैं—ऐसे संबादो से वक्ता का चरित्र दीप्त होता है—प्रबध में एक अभूतपूर्व सौंदर्य उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि परम्परागत कथावस्तु में प्रबंध-गत उद्देश्य के अनुरूप कवि अन्यथा कल्पना कर एक सजीवता प्रदान करता है। शाकुंतल की शाप कल्पना इसका दृष्टांत है। कभी-कभी किसी प्रकरण में कही हुई कोई बात भावी प्रकरण की महत्वपूर्ण घटना के घटित होने में असाधारण हस्तावलम्ब प्रदान करती है। उत्तररामचरित में प्रथमांक में जृम्भकास्त्र की चर्चा का उपयोग लवकुश युद्ध के अवसरपर उपयोगी होता है। निष्कर्ष यह कि प्रकरण की कथावस्तु या चारित्रिक अश या भावधारा में इस प्रकार की वक्रता ला दी जाती है जिससे प्रबध का सौंदर्य बढ़ जाता है। इस प्रकार कुल नव प्रकार की प्रकरण-वक्रता कुन्तक ने सोदाहरण विवेचित की है।

इसी प्रकार प्रबंधवक्रता के भी विविध भेदों का उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ, प्रबंध-वक्रता का एक रूप वह है—जहाँ कथावस्तु अपने मूल स्रोत में अन्य रस से ओतप्रोत हो—पर प्रबंध में उससे या इसी के अंशभूत

कथावस्तु से अन्य रस की निष्पत्ति कर दी जाय। उदाहरणार्थ, शांतरस के महाभारत से ही ली गई कथावस्तु 'वेणी-संहार' में वीररस की कर दी गई है। दूसरे प्रकार की प्रबंधवक्रता यह भी है कि इतिहास से लिए गए नायक के जीवनवृत्त को प्रबंध में वहीं समाप्त कर दे—जहाँ वह उन्नति की काष्ठापन्न स्थिति में विद्यमान हो। इस प्रकार प्रबंध-वक्रता में भी भाव या चरित्र-गत उत्कर्ष का रहस्य निहित है।

कुंतक ही कदाचित् ऐसे आलंकारिक हैं जिन्होंने प्रकरण एवं प्रबंध को कतिपय उत्कर्षक विशेषताओं का इस प्रशसनीय श्रम पूर्वक उल्लेख किया है। वैसे प्रबंध व्यंजकता के लिये अपेक्षित तत्त्वों की चर्चा आनंद ने भी की है।

वक्रता के स्वरूप एवं प्रभेदों की चर्चा कर लेने के अनंतर एक अतिरिक्त पक्ष और शेष रह जाता है और वह है—अन्य काव्यात्मवादियों द्वारा निरूपित काव्य-तत्त्व और उस विषय में कुतक की मान्यता।

अलंकार और कुंतक:—कुतक यों तो एक अलकारवादी आचार्य ही हैं, क्योंकि 'वक्रोक्ति' की कल्पना एक अलंकार के ही रूप में की है। दूसरे अलंकारवादियों की भाँति शब्द एवं अर्थरूप काव्य को ही ये भी अलकार्य मानते हैं। यों तात्विक भूमिका पर अलकार एवं अलंकार्य जैसा भेद इन्हें स्वीकार्य नहीं है—क्योंकि काव्य स्वतः एक अखंड कवि-व्यापार-प्रसूत वस्तु है। इनके अनुसार 'काव्य का अलंकार'—शब्द का सिद्धांततः कोई अर्थ ही नहीं है, काव्य तो अलंकृत ही होता है। पूर्ववर्ती अलंकारवादियों के साथ आंशिक साम्य के अतिरिक्त कुछ वैषम्य भी है। वैषम्य यह है कि भामह आदि अलंकारवादी आचार्य वक्रता की इतनी विस्तृत व्याप्ति नहीं कल्पित कर सके थे। दूसरे यह कि वक्रोक्तिवाद से पूर्व काव्यतत्त्वों का जितना अधिक विश्लेषण विवेचन हो चुका था—इन्होंने सबको आत्मसात् करने का प्रयत्न किया—इसलिए इन्होंने अपनी 'वक्रता' नामक अलंकृति की जितनी व्याप्ति बढ़ाई—उतनी भामहादि कर भी नहीं सकते थे। तीसरे ये रस एवं ध्वनि से, उनकी महत्ता से इतने प्रभावित हैं कि अलंकारवादियों की भाँति इन तत्त्वो को वे सामान्य वाच्यप्रधान अलंकारों की परिधि में अन्तर्भूत नहीं करते। वे न तो ध्वनि के सौंदर्य को वाच्य का सौंदर्य मानते हैं और न तो इसको उन लोगों के अर्थ में रसवदलंकार।

जहाँ तक शब्दालंकार एवं अर्थालंकार के रूप में अलंकार का संबंध है—कुंतक उन्हें वर्णवक्रता तथा वाक्यवक्रता के प्रभेदों में सीमित किये हुए हैं। इन अलंकारों के संबंध में उनकी दूसरी स्पष्ट उल्लेखनीय विशेषता यह है कि

'वैचित्र्यमात्रप्रतिपत्तये'—वैचित्र्यमात्र की प्रतिपत्ति कराने के लिये वे अलंकारों का प्रयोग नहीं कराना चाहते, प्रत्युत वर्ण्यवस्तु के स्वभाव की छटा को विकसित करने में ही उनकी सार्थकता मानते हैं। फलतः जिन लोगों की कुंतक के सबंध में यह धारणा है कि वे वैचित्र्यवादी आचार्य हैं—उन्हें यह समझकर कुछ कहना चाहिए।

रीति और कुंतक:—कुंतक ने 'रीति' की जगह 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है और उसका संबंध 'भूखंड' या 'विषय' से न मानकर 'कविस्वभाव से माना है। वे दंडी की तरह मानते हैं कि कवि का स्वभाव यद्यपि अनन्त प्रकार का होता है—तथापि सामान्यतः उसे तीन प्रकार का कहा जा सकता है—सुकुमार, विचित्र एवं मध्यम। ये स्वभावानुसारी 'मार्ग' काव्य के प्रस्थान भेद हैं सुकुमार स्वभाव के कवि की वैसी ही सहज 'शक्ति' होती है। इसी सहज शक्ति में उसमें सौकुमार्यरमणीय'व्युत्पत्ति' उत्पन्न होती है। इन शक्ति एवं व्युत्पत्ति के कारण वह कवि सुकुमारमार्ग से अभ्यासप्रवण होता है और तदनुरूप काव्य का निर्माण करता है। सुकुमार स्वभाव से भिन्न किंतु रमणीय मार्ग को विचित्र' कहा गया है और 'सुकुमार' तथा 'विचित्र'—दोनों की छाया पर आश्रित तीसरे मार्ग को 'मध्यम' मार्ग कहा जाता है। यह तीसरा मार्ग भी रमणीय होता है—कारण, काव्य में 'अरमणीय' को कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार कुंतक वामन की भाँति यह नहीं मानते कि काव्य-रीति या काव्य-मार्ग की कोई विधा अग्राह्य और अनुपादेय भी होती है।

सुकुमार मार्ग के काव्य का सौंदर्य सहज होता है और वैचित्र्य मार्ग के काव्य का सौंदर्य 'आहार्य। सुकुमार मार्ग का कवि उस भ्रमर के समान है जो अपनी राह पराग एवं मकरंद से भरे स्वभावसुंदर पुष्पों के बीच बनाता है। यह मार्ग नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के पाँखों से उत्पन्न वायु लहरी के झोंके में स्वतः और अनायास आ पड़े मनोरम शब्द, अर्थ एवं परिमित अलंकारों से युक्त होता है। इस मार्ग के काव्य में वर्णित पदार्थ स्वभावसुंदर होते हैं—वहाँ आयाससाध्य कृत्रिम सौंदर्य नहीं होता। इसीलिये सहृदयों के हृदय को संवाद वश ऐसा काव्य शीघ्र आवर्जित कर लेता है। यहाँ सर्वत्र अनजाने सौंदर्य की धारा प्रवाहित होती रहती है। यहाँ जो कुछ भी वैचित्र्य प्रतिभा से उत्पन्न होता है—वह सब सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होता हुआ शोभित होता है।

विचित्र मार्ग की स्थिति भिन्न है—यह मार्ग नितांत दुर्गम है। यहाँ प्रतिभा का उद्भेद होते हुए ही शब्द एवं अर्थ के भीतर कुछ अपूर्व सी वक्रता

स्फुरित होती हुई प्रतीत होने लगती है। इस मार्ग में, लगता है जैसे कवि असंतुष्ट होकर एक पर एक अलंकार विन्यास करता चला जा रहा है–फलतः जैसे कान्ता का कमनीय कलेवर भूषणों की रश्मियों से आच्छन्न होकर आवर्जक बन जाता है उसी प्रकार अलंकारो की छटा से काव्य भी आमूलचूल व्याप्त होकर देदीप्यमान बन जाता है। यहाँ आलंकारिक शोभा से अलंकार्य ढँक कर स्वरूपतः प्रकाशित होता है। यहाँ प्राक्तन प्रतिभासंस्पृष्ट वस्तु भी उक्तिवैचित्र्य वश मनोरम हो जाती है। यहाँ कवि अपनी रुचि से परिचालित होकर जब अपनी प्रतिभा की कूँची चलाता है तो असुंदर वस्तुएँ भी आभामण्डित हो जाती हैं। यहाँ अभिधा हतप्रभ रहती है और वाक्य की अपूर्व शक्ति ही सक्रिय रहती है। यह खड्गधारा की भाँति कवियों का दुःसञ्चर मार्ग है।

मध्यम मार्ग में वैचित्र्य एवं सौकुमार्य का सांकर्य होता है–यहाँ इसीलिये सहज एवं आहार्य शोभा का मिश्रण रहता है। यहाँ दोनों मार्गों का सौंदर्य स्पर्द्धापूर्वक विद्यमान रहता है।

इन मार्गों में से प्रत्येक में छः गुणों की स्थिति बताई गई है जिनका स्वरूप मार्ग भेद से भिन्न है पर नाम वही इन छः गुणों में दो सामान्य हैं और चार विशेष। विशिष्ट गुण हैं माधुर्य, प्रसाद, लावण्य एवं आभिजात्य और सामान्य गुण हैं औचित्य एवं सौभाग्य।

इन मार्गों के विषय में प्रश्न यह खड़ा होता है कि इन्हें कवि स्वभाव-गत किस प्रकार माना जाय? ऊपर प्रत्येक मार्ग के काव्य के लिए शक्ति, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास की बात की गई है जिनमें से शक्ति तो स्वभावगत है, पर व्युत्पत्ति एवं अभ्यास तो अर्जित वस्तुएँ हैं—अतः स्वाभाविक एवं अर्जित-दोनों के सहारे चलने वाला मार्ग केवल स्वभावगत या स्वाभाविक किस प्रकार हो सकता है? कुंतक ने इस आक्षेप का समाधान देते हुए कहा है कि प्रत्येक मार्ग के कवि के स्वभाव के अनुसार ही व्युत्पत्ति एवं अभ्यास का अर्जन होता है। अर्जित व्युत्पत्ति एवं अभ्यास से स्वाभाविक शक्ति का ही प्रकाशन होता है—अतः इन काव्य मार्गों को कविस्वभावगत होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं समझनी चाहिए।

इस पर कतिपय अद्यतन विचारकों का यह आक्षेप है कि कभी कभी कवि स्वभाव भी वस्तु–गत होकर वैयक्तिक महत्त्व खो देता है। कवि स्वभाव वस्तुगत तब हो जाता है जब उसका विषय नियत हो जाता है। यहाँ भी सुकुमार स्वभाव रसोन्मुखी या सहज सौंदर्यमुखी तथा विचित्र स्वभाव,

अलंकार अथवा आहार्यसौंदर्यमुखी माना गया है । अत इस प्रकार के कविस्वभाव को अततः विषयमुखी या वस्तुमुखी ही कहा जाना चाहिए।

ध्वनि और कुंतकः—ध्वनि संप्रदाय का उद्भव कुंतक से पूर्व हो चुका था और वह इतना सशक्त तथा समादरणीय पक्ष है कि कुंतक उसके विरोध में 'वक्रोक्ति' को काव्यजीवित कहकर भी ध्वनि या व्यञ्जकता का खण्डन न कर सके। एक नहीं अनेक स्थलों पर इन्होंने ध्वनि, प्रतीयमान तथा व्यञ्जना की चर्चा की है। ऊपर कहा ही जा चुका है कि शब्द के ही वाचक ही नहीं लक्षक तथा व्यंजक जैसे भेद भी इनके द्वारा स्वीकृत हैं पर सामान्यतः वे सभी शब्दों को उपचारतः बोधक कहना चाहते हैं । पदवक्रता के विभिन्न भेदो को ध्वनि प्रभेद का ही प्रछन्न रूप स्वाय कुंतक ने स्वीकार किया है। 'मार्ग' का विचार करते हुए विचित्र मार्ग के प्रसग में वाच्यवाचक वृत्ति से भिन्न प्रतीयमानवृत्ति का भी स्पष्टतः वहाँ उल्लेख किया है। इस प्रकार वक्रता की परिधि में इन्होने ध्वनि के महत्त्व को स्पष्टतः स्वीकृत किया है । इतना अंतर अवश्य है कि जहाँ ध्वनिवादी सौदर्य एवं व्यंजकता में अविच्छेद्य और अनिवार्य सबंध मानते है वहाँ कुंतक 'सौदर्य और 'वक्रता में।

रस और कुंतकः—कुंतक की अन्य अलकारवादियों से एक बड़ी विलक्षण विशेषता यह है कि सामान्यतः ये काव्य को अलंकार्य मानते हुए भी वर्ण्य के स्वभाव तथा 'रस' दोनों को भी अलंकार्य मानते हैं । इनके अनुसार अलंकार वैचित्र्यमात्र की प्रतिपत्ति के लिये न होकर या तो वर्ण्यवस्तु के सहज स्वभाव की छटा बढ़ाते हैं या उसके रसात्मक रूप का उत्कर्ष। इन्होंने स्पष्ट ही कहा हैं कि काव्य की कोई भी ऐसी रमणीयविधा नहीं है जो रमणीय न हो, रमणीय होकर काव्य सहृदयों के हृदय को आह्लादकर हो सकता हैं। काव्यस्वरूप के प्रयोजन सुकुमार मार्ग एवं प्रबंधवक्रता आदि के प्रसंगों में इन्होंने अनेकशः रसमयता की चर्चा की है और उसकी सर्वथा प्रशंसा भी।

कुंतक और औचित्यः—औचित्य की चर्चा सामान्यतः तो की ही गई है मार्गगुण के रूप में भी की गई है । वस्तुतः औचित्य—गर्भित वाक्य खण्ड जो वक्रोक्तिजीवित में प्रयुक्त हैं—उनके सम्यक् अध्ययन से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि इन्होंने औचित्य की चर्चा दो भिन्न रूपों में की है—एक तो व्यापक अर्थ में दूसरा संकुचित अर्थ में यहाँ वह मार्गगत एक विशेष गुण के रूप में प्रयुक्त है।

मार्गगत औचित्यगुण का प्राण उचित—संतुलित एवं स्वाभाविक तथा समन्जस—आख्यान (वर्णन) है इस गुण के द्वारा सरल एवं स्पष्ट ढंग से

स्वभाव का महत्व पोषित किया जाता है[1] । [वृत्ति ग्रंथ में स्वभाव का अर्थ पदार्थ बताया गया है] सरल एवं स्पष्ट ढंग भी एक काव्योचित वक्रता ही है । एक उदाहरण लीजिए—

करतलकलिताक्षमालयोः समुदितसाध्वससन्नहस्तयोः ।
कृतरुचिरजटानिवेशयोरपर इवेश्वरयोः समागमः ॥१।११५

उन दोनों का समागम ऐसा हुआ मानो शिव और पार्वती का ही [दूसरा समागम हो । समागम की वेला में हाथ में अक्षमाल है, प्राथमिक व्यवहार के भय से हाथ सन्न पड़ गए हैं, जटा का सुंदर सन्निवेश अत्यन्त रुचिकर जान पड़ रहा है ।

यहाँ प्राथमिक समागम में पदार्थ का कितना समुचित और स्वाभाविक वर्णन है ।

औचित्य का दूसरा रूप भी कुंतक ने बताया है—जहाँ वक्ता अथवा प्रमाता (श्रोता) के शोभातिशययुक्त स्वभाव से वाच्य वस्तु का स्वभाव संवृत हो जाय वहाँ भी औचित्य का प्रयोग होता है । उदाहरण लीजिए—

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः ।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः[2] ॥ १।११८

अर्थात् हे राजन् सत्पात्रों को अपनी सम्पत्ति दान देकर अब शरीरमात्र से स्थित आप वनवासियों द्वारा उत्पन्न फल के तोड़ लिए जाने के बाद डंठल मात्र अवशिष्ट नीवार की भाँति सुशोभित हो रहे हैं ।

यहाँ महाराज का श्लाघ्य अतिशय वर्ण्य है । मुनि स्वानुभवसिद्ध व्यवहार के अनुसार अप्रस्तुत योजना के द्वारा कितना उत्तम रूप से वर्ण्य को प्रस्तुत करते हुए औचित्य का परिपोष करते हैं । यहाँ मुनि ने, वक्ता ने अप्रस्तुत के द्वारा अपने स्वभाव को व्यक्त किया है और उस अलंकरण योजना से वस्तु का स्वभाव समावृत कर दिया है—पर वक्तव्य अधिक रसमय ढंग से उभरकर आया है ।

पहले में विषय का स्वाभाविक सौंदर्य है और दूसरे में वक्ता की अपनी दृष्टि से देखी हुई वस्तु का सौंदर्य है । औचित्य का अनतिक्रमण उभयत्र है ।

१—आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते ।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम् ॥ १।५३ व० जी०

२—वक्रोक्तिजीवित

आगे चलकर जब कुन्तक यह कहते हैं—इन तीनों मार्गों में औचित्य तथा सौभाग्य रूप दोनों गुण पदों, वाक्यों तथा रचना में व्यापक और उज्ज्वल रूप से रहता है।[1] तब यह समझ में आता है कि मार्गगत औचित्य काव्य की छोटी से छोटी इकाई (पद) से लेकर बड़ी स्थिति (प्रबंध) तक व्याप्त रहनेवाला तत्त्व है और वह (Objective) विषय-मुखी तथा व्यक्तिमुखी (Subjective) दोनों प्रकार के वर्णनों में निहित रह सकता है। क्षेमेन्द्र ने भी इसी प्रकार शब्द के सभी अवयवों में औचित्य को व्यापक माना है। इस तथ्य की जानकारी के बाद यह कहना कि इन्होंने व्यापक तथा संकुचित दो रूपों में औचित्य की चर्चा की है—बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। दोनों रूपों में कोई मौलिक भेद नहीं जान पड़ता। अततः तो इन्होंने यह भी कह दिया कि पदगत औचित्य और कुछ नहीं, बल्कि अनेकविध वक्रता ही है। वक्रता का तो यही परम रहस्य है कि स्पष्टरूप से (बारीकी के साथ) पदार्थ के उत्कर्ष का परिपोषण हो और तथाविध विधान का साधन औचित्य है। निष्कर्ष यह कि यदि औचित्य-पूर्वक पदार्थ के उत्कर्ष का परिपोषण हो—तो वही सच्ची काव्योचित वक्रता का उन्मीलन होता है। जिस प्रकार रस का परम रहस्य औचित्य है उसी प्रकार वक्रता का भी परम रहस्य उचिताभिधान है।[2] यह 'उचिताभिधान' तथा क्षेमेन्द्र का 'सदृशं किल यस्य यत्'—कितनी सदृश उक्ति है।

वक्रोक्ति के प्रसंग में प्राय क्रोचे की अभिव्यंजना का उल्लेख किया जाता है—और इसका अनावरण प्रथम-प्रथम आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने एक चलते ढंग से कर दिया था। आज के प्रायः सभी चिंतक अब एक मन होकर यह स्वीकार करते हैं कि क्रोचे की मानस-अभिव्यंजना, जो मौलिक प्रयोजनों से, इच्छा से निर्नियंत्रित है—कुन्तक की बाह्य शाब्दिक-अभिव्यक्ति के रूप में मुख्यतः परिणति लेनेवाली 'वक्रोक्ति' से कोई समान भूमिका नहीं रखती। एक की अभिव्यंजना मानस है और दूसरे की बाह्य। पहला उसी अंतर रूप को कला काव्य का मूल रूप स्वीकार करता है—दूसरा बाह्य शब्दाकार परिणत रूप को। पहला बाह्य अभिव्यक्ति को—शब्दाकार परिणति को पृष्ठवर्ती रूप मानता है—दूसरा प्रमुख और प्रारंभिक।

१—एतत्त्रिष्वपि मार्गेषु गुणद्वितयमुज्ज्वलम्।
पद-वाक्य-प्रबंधानां व्यापकत्वेन वर्तते॥ व० जी० १।५७

२—हि० व० जी०, पृ० १६३

सीलिए पहला काव्य को भौतिक प्रयोजनों से परे रखता है और दूसरे ने काव्य का स्वरूप निरूपण करते हुए ही प्रयोजन का भी उल्लेख किया है। सके अतिरिक्त दोनों की दार्शनिक एवं साहित्यिक पृष्ठभूमियाँ सर्वथा वेभिन्न हैं। पहला केवल आकार (Form) को महत्त्व देता है दूसरा अलंकार के मूल में प्रतिष्ठित भावना को भी। पहले के यहाँ कलाकार ही एकमात्र भोक्ता और समीक्षक हैं दूसरे के यहाँ सभी सहृदय।

शुक्ल जी ने वाह्य अभिव्यंजना [त्मक वक्रोक्ति] और मानस-अभिव्यंजना के भेद को दरकिनार कर जो दोनों को एकाकार कहना चाहा है—उससे अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ उत्पन्न हुई है, जिनमें से एक यह भी है कि अभिव्यंजनावाद भारतीय वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान है। यह कहना भी वक्रोक्तिकार का अपमान है कि वे वाग्वैचित्र्यवाद के समर्थक हैं। उन्होंने वक्रता या वैचित्र्य को काव्य का अलंकार माना है—सौंदर्य का साधन माना है और यह कहा है कि अलंकार या अलंकारों की नियोजना वैचित्र्यमात्र की प्रतीति पैदा करने के लिए नहीं होनी चाहिए, बल्कि प्रस्तुत वस्तु के स्वाभाविक अथवा रसात्मक रूप का उत्कर्ष विधान करने के लिए होना चाहिए। इसीलिए कुन्तक स्वभाव एवं रस को अलंकार्य मानते हैं।

फिर भी यदि दोनों में कुछ ऊपरी साम्य है तो इतना ही कि दोनों अपने विवेचन में (१) कवि 'व्यापार' को प्रमुखता प्रदान करते हैं। (२) दोनों ही सैद्धांतिक भूमिका पर यह स्वीकार करते हैं काव्य कवि का एक अखंड मानस व्यापार है—जिसमें अलंकार्य और अलंकार जैसा विश्लेष होता ही नहीं। यह तो केवल समझने समझाने के लिए कल्पित भूमिका पर दो नामों को गढ़ लिया जाता है। (३) दोनों ही मानते हैं कि जिस वक्रता या वैचित्र्य से मण्डित होकर काव्य का वर्ण्य काव्योचित आभा से मण्डित होता है—वह कवि या कलाकार की कल्पना या प्रतिभा से ही प्रसूत हुआ है।

रस विमर्श की विभिन्न वैचारिक पृष्ठभूमियाँ

भरतनाट्यशास्त्र से लेकर यदि अब तक रस-व्याख्या का इतिहास देखा जाय तो यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि भरतनाट्यशास्त्र में रससंबंधी जो कुछ भी विचार या विवेचन है—वह किसी दर्शन विशेष की भित्ति पर अवलम्बित नहीं है इसलिए उसे **अनुभवसंगत** पृष्ठभूमि कहना अधिक उपयुक्त होगा। नाट्यशास्त्र को देखने से यह स्पष्ट भासित होता है कि रससंबंधी विवेचन काफी पहले से प्रचलित है। नाट्यशास्त्र से पूर्ववर्ती विवेचनों में जो अनेक रस संबंधी समस्याएँ थीं—उनमें से एक यह प्रमुख था कि रस से भाव उत्पन्न होते हैं या भाव से रस? 'अभिनव भारती' में इसकी जो अनेक विध व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं—वे तो दर्शन विशेष की पृष्ठभूमि पर हैं—पर प्राङ्नाट्य-शास्त्रीय विचारक किस भूमिका पर सोच रहे थे—आज इस विषय में कुछ कह सकना कठिन है।

नाट्यशास्त्र के अनंतर रस संबंधी विचार दो धाराओं में विभक्त हो गये—एक तो नाट्यशास्त्र की व्याख्या के बीच प्रवाहित हो रही थी और दूसरी श्रव्यकाव्य के बीच रस की स्थिति पर मिलने जुलनेवाली फुटकर पंक्तियों में अपना रास्ता निकाल रही थी। आनंदवर्द्धन से पूर्व के श्रव्यशास्त्रीय आलंकारिकों ने श्रव्यकाव्य में रस की वह स्थिति नहीं मानी थी—जो नाट्य में संभव है—फलतः उसके स्वरूप आदि के विषय में किसी भी दार्शनिक दृष्टि की उदग्रता क्या अनुदग्रता भी परिलक्षित नहीं होती। उद्भट ने 'आत्मा' का नाम इस प्रसंग में अवश्य लिया—पर उससे किसी दार्शनिक दृष्टि का पता नहीं लगता। आनंदवर्द्धन ने नाट्य की भाँति काव्य का भी प्रतिपाद्य रस को बताया और बताया कि कवि को अनेक विधि वैचित्र्य के चक्र में न पड़कर काव्य को रसभावमय बनाने की ओर अपना सारा ध्यान केंद्रित रखना चाहिए। रस की उभयत्र प्रमुखता स्थापित हो जाने के अनंतर अब श्रव्यशास्त्रीय आलंकारिकों ने भी रस पर विचार करना आरंभ किया। निश्चय ही नाट्य-शास्त्रीय व्याख्याओं में श्रव्यशास्त्रीय कृतियों की अपेक्षा रस संबंधी विमर्श पहले और गहराई के साथ आरंभ हो चुका था। ये व्याख्याकार दर्शन विशेष की भूमिका पर व्याख्या करते आ रहे थे। ये दार्शनिक भूमिकाएँ भी विविध रूप की थीं—मीमांसा, सांख्य, न्याय, शैवागम का आधार लेकर चल रही थीं परवर्ती नाट्य काव्यशास्त्रियों पर इन व्याख्याकारों का प्रभाव था—अतः वे लोग इन्हीं में से किसी न किसी का पक्ष लेकर विभिन्न प्रकार से उसका स्पष्टी-

करण कर रहे थे। इन व्याख्याओं को देखने से यह स्पष्ट है कि उक्त दार्शनिक भूमिकाओं में यथोत्तर शैवागमाश्रित अभिनवगुप्त की दार्शनिकव्याख्या का प्रभाव बढ़ता जा रहा था—यद्यपि पंडितराज तक आते आते अभिनवगुप्त के ही मत को शांकर अद्वैती भूमिका पर स्थापित किया जाने लगा। इस प्रकार एक ओर यह स्थिति चल रही थी—दूसरी ओर भोजराज की इन पूर्वागत परम्पराओं से सर्वथा भिन्न एक व्याख्या प्रस्तुत की जा रही थी—जिसका आंशिक प्रभाव अग्निपुराण एवं भावप्रकाशन की व्याखयाओं पर दिखाई देता है।

इसी बीच रस व्याख्या साहित्य के क्षेत्र के साथ-साथ साम्प्रदायिकक्षेत्र में भी आरंभ हो गई थी या कह सकते हैं कि साधनाजनित अनुभूतियों का भी अनुभवियों द्वारा विश्लेषण होने लगा था। यद्यपि सूक्ष्मरूप में इसका बीज बहुत पहले से विद्यमान था—पर विस्तार मधुसूदन सरस्वती एवं चैतन्य सम्प्रदायानुयायी गोस्वामियों में अधिक परिलक्षित होता है।

इस प्रकार रस का प्राचीन विवेचन अनुभवसंगत, दार्शनिक और साम्प्रदायिक—कुल तीन प्रकार का दिखाई देता है। आधुनिकयुग में दो और वैचारिक भूमियाँ दिखाई पड़ती हैं—मनोवैज्ञानिक और सौंदर्यशास्त्रीय—शास्त्रीयधारा भी यद्यपि जीवन्त है। इस प्रकार चित्र यों हुआ—
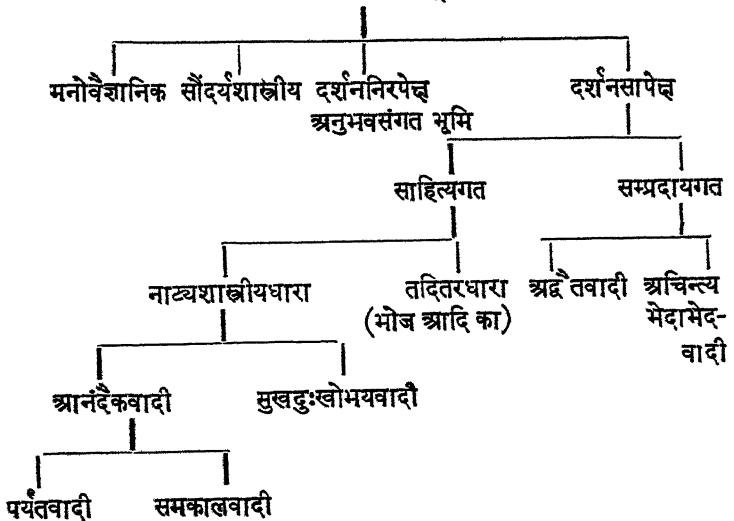
चित्र में मनोविज्ञान की प्राथमिकता से कोई अभिप्राय नहीं है—कालक्रम से यदि देखा जाय तो दार्शनिक भूमि पर साहित्य की दृष्टि से नाट्यशास्त्रीय धारा का प्रथम स्थान है। अतः पहले उसी का विचार आवश्यक है—

नाट्यशास्त्र की अनुभवसंगत पृष्ठभूमि :—

नाट्यशास्त्र में रस का विचार मुख्यतः नाट्य की दृष्टि से ही हुआ है—यद्यपि परवर्ती विचारकों ने इनके सूत्र का समानरूप से काव्य एवं दृश्य—उभयत्र उपयोग किया। नाट्यशास्त्र में होना भी चाहिए नाट्य की ही दृष्टि से विचार। यहाँ रस के उपकरणों पर जो कुछ विचार किया गया है—उसके केंद्र में नाट्य का असाधारण तत्त्व 'अभिनय' है। विभाव और अनुभाव का स्वरूप बताते हुए यह कहा गया है कि विभाव वह है जिससे अभिनय का विशिष्ट ज्ञान हो, अनुभाव वह है जिसके द्वारा अभिनय का अनुभावन हो। इससे यह स्पष्ट है किस प्रकार उनकी दृष्टि नाट्य को केन्द्र में रखकर विचार कर रही थी।

नाट्यशास्त्र में विभाव एवं अनुभाव के अतिरिक्त संचारी, स्थायी एवं सात्विक भावों का भी व्युत्पत्तिमूलक विवेचन सप्रभेद प्रस्तुत किया गया है और इस प्रकार अपने प्रसिद्ध रस सूत्र से यह बताया है कि विभाव, अनुभाव एवं सचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। सात्विक को स्थायी एवं संचारी के साथ भाव के ही अतर्गत परिगणित किया गया है—अतः सूत्र में उसका पृथक् से उल्लेख नहीं है। वहाँ कहा गया है कि इन्हीं ४९ भावों (३३ सं० ८ स्था० ८ सात्विक) के 'सामान्यगुणयोग' से रस की अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्ति की प्रक्रिया का सदृष्टांत स्पष्टीकरण किया है। वहाँ कहा गया है कि जिस प्रकार नाना व्यंजन ओषधि एवं गुणादि द्रव्य के संयोग से 'षाडव' रस का अभिव्यजन होता है उसी प्रकार नाना भावों के सयोग से स्थायी भी रस बन जाता है। फिर जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से सुसंस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए सुमन पुरुष रसास्वाद करते हैं—फलतः हर्षादिलाभ भी करते हैं उसी तरह यहाँ भी सुमन प्रेक्षक नाना भावो से व्यंजित स्थायी भाव का आस्वाद लेते हैं परिणाम स्वरूप उत्फल्ल भी होते हैं।

भरत के इस विवेचन से अनेक तथ्य प्राप्त होते हैं पहला यह कि वे नायक या नेता में नहीं बल्कि प्रेक्षक में रसाभिव्यक्ति मानते हैं। दूसरे यह कि वे अभिव्यंजित स्थायी को आस्वाद्य मानते हैं। तीसरे यह कि भावों की रसात्मक परिणति में सामान्यगुणयोग—स्वीकार करते हैं। चौथा यह कि काव्य रस पानक रस की भाँति विविध उपकरणों का आस्वाद्यरूप है। पाँचवा यह कि रस

को 'मनसा आस्वादयन्ति' कह कर उसे मानस संवेद्य बताया है। छठीं बात यह कि विभावादि जैसी लोकोत्तर संज्ञाएँ नाट्य रस को लोकानुभूति से पृथक् करती हैं। सातवीं बात यह कि 'शम' के विषय में उनकी गभीर मुद्रा है।

निश्चय ही इस विवेचन में कोई दार्शनिक भूमि गृहीत नहीं लक्षित होती।

(२)

दार्शनिकभूमि—भरत से भरत के दार्शनिक व्याख्याकारों के बीच के अन्य काव्यचिंतको ने रस विमर्श को कोई विशिष्ट वैचारिक पृष्ठभूमि नहीं दी अतः पहले पहल भट्टलोल्लट का मीमासादर्शनानुरोधी व्याख्यान ही अपने समक्ष आता है। भट्टलोल्लट की जो व्याख्याएँ उद्धृतरूप में इधर उधर उपलब्ध होती हैं—उनमें किसी ऐसी असाधारण दार्शनिक पदावली का तो उपयोग नहीं है—पर भट्ट मीमांसकों का 'भ्रम' यहाँ अवश्य उपयुक्त हुआ है। प्राभाकर मीमांसक तो भ्रम स्वीकार ही नहीं करते।

अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती अथवा लोचन में इनका मत जिस प्रकार से प्रस्तुत किया है उसका सारांश यह है कि स्थायी ही विभावादि के द्वारा उपचित होकर रसात्मक परिणति प्राप्त करता है। यह रस दोनों में है—मुख्यतः तो नायक-गत है ही, पर रामादिरूपता का अनुसंधान करते-करते नर्त्तक में भी प्रतीत होता है। नाट्यरस कहने का अभिप्राय उनके मत से केवल इतना ही है कि नाट्य में भी उसका प्रयोग होता है। वे मानते हैं कि विभाव-कारण-वश अनुकार्य में वासनात्मक स्थायी की (रसात्मक) उत्पत्ति होती है—और उत्पन्न रस कार्य एवं सहकारी से उत्तरोत्तर उपचित होता है। स्थायी की यही उपचित स्थिति रसात्मक स्थिति है। इस प्रकार ये एक उत्पत्तिवादी या उपचयवादी व्याख्याकार हैं। 'उत्पत्ति' शब्द असत् कार्यवादियों के यहाँ का ही है।

उत्पत्ति या उपचय के आश्रय अनुकार्य के संबंध में यह धारणा है कि वह कवि कल्पनागत है या लोकगत? मेरा अपना ख्याल तो यह है कि 'उत्पत्ति लोकगत नायक में ही है, काव्यगत नायक में तो वह 'वर्णित' हो सकती है।

अभिनव भारती में भट्टलोल्लट का मत प्रस्तुत करते हुए यह कहा गया है कि—'स च उभयोरपि'—रस की स्थिति अनुकार्य एवं अनुकर्त्ता दोनों में है, परन्तु मम्मट आदि परवर्ती व्याख्याकार मुख्यतः अनुकार्यगत ही रस की स्थिति मानते हैं—अनुकर्ता में तो वे सामाजिक द्वारा रामादिरूपता के अनुसंधान

वश 'प्रतीत' भर मानते हैं—जिसके मूल में भ्रम की स्थिति है। रामादिरूपता वश भ्रम यह हो जाता है कि नट रामादि ही है—यही आरोपात्मक साक्षात्कार कहा जाता है। इसी आरोप को ध्यान में रखकर इनके मत को **आरोप-वादी** कहा गया है। निष्कर्ष यह कि अनुकार्य की दृष्टि से की गयी व्याख्या उत्पत्तिवादी और सामाजिक की दृष्टि से की गई व्याख्या **आरोपवादी** है।

यहाँ ऊपर जिस '**रामादिरूपतानुसंधान**'की बात कही गई है—उस 'अनुसंधान' पर भी बड़ा विचार किया गया है—यह 'अनुसंधान' विवरण-टीकाकार के मत से '**अभिमान**' है या 'सारबोधनी' तथा 'उद्योत' के मत से '**आरोप**' है—अथवा डा० का० चं० पाण्डेय के अनुसार '**योजना**' है? लेकिन इस चक्कर से हट कर अनुसंधान का सीधा अर्थ स्मृति वश अनु (बाद में) + सधान (जोड़ना - योजना) लिया जा सकता है—विशेष द्रविड़ प्राणायाम की आवश्यकता क्या है?

परवर्ती व्याख्याकारों के ही अनुसार सूत्र की अब इस प्रकार योजना की जाने लगी है—

(१) **विभावसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**—विभाव अर्थात् कारण से उत्पाद्य-उत्पादक भाव संबंध होने पर रस (स्थायी) की उत्पत्ति होती है।

(२) **अनुभावसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**—अनुभाव या भाव-कार्य से गम्यगमक भाव संबंध होने पर उत्पन्न स्थायी की अनुमिति होती है।

(३) **संचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**—संचारी के साथ पोष्यपोषक भाव संबंध होने पर उत्पन्न एवं अनुमित स्थायी की उपचिति या पुष्टि होती है और यही पुष्ट या उपचित स्थायी रस है।

इस प्रकार समस्त खंडों को मिलाकर सूत्रार्थ इस प्रकार हुआ—कारण द्वारा उत्पन्न, कार्य द्वारा अनुमित तथा सहकारी द्वारा परिपुष्ट स्थायीभाव ही रस है—जिसकी स्थिति मुख्यतः अनुकार्यगत है—पर सामाजिक की दृष्टि से उसकी सार्थकता यह है कि वह कौशलपूर्वक किये गये नट द्वारा चतुर्विध अभिनय से इस क्रम में पड़ जाता है कि नट नायक ही है। नट का नायक के रूप में वह आरोपात्मक साक्षात्कार करता है और इससे जो कुछ चमत्कृति होती है—वही सामाजिक के पल्ले पड़नेवाला चमत्कारात्मक रस या काव्यानंद है।

इस प्रकार भट्टलोल्लट की इस वैचारिक प्रक्रिया में दार्शनिक स्वर उतनी उदग्रता से मुखर नहीं है। यह परम्परा वंध्या ही रही, अनुगामी कोई नहीं हुआ।

भट्टशंकुक का तार्किक दर्शन पर आधारित मतः—

शंकुक ने अभिनव भारती में इनकी पर्याप्त आलोचना की है। उनके अनुसार लोल्लट की न तो रस प्रक्रिया ही अनुभवसंगत है और न उसके आश्रय ही। प्रक्रिया एक तो अनुकार्यगत रसनिष्पत्ति की है और दूसरी नर्तक-गत। अनुकार्यगत अनुभूति सुखदुःखात्मक होने के कारण, लौकिक विघ्नों से प्रतिहत होने के कारण स्वीकार्य नहीं। नर्तक में यदि रसानुभूति मानी जाय—तो रसमग्न नर्तक द्वारा अभिनयोपयोगी सक्रियता और सजगता ही समाप्त हो जायगी। फलतः लोल्लट की प्रक्रिया और रसाश्रय जिस रूप में स्वीकृत हुए हैं—वह पर्याप्त आलोच्य है।

शंकुक की रस-विचारणा तार्किक दर्शन पर आधारित मानी जाती है। शंकुक लौकिकनायक या अनुकार्य में रस की स्थिति मानना नहीं चाहते, सामाजिकगत माननेवाला पक्ष व्यंजना की अस्वीकृति से सभव नहीं। व्यंजना की बात अलग रखी भी जाय तो भी तार्किक संस्कार प्रबल थे। उद्भट की भाँति अभिधा से रस निष्पत्ति इन्हें स्वीकार्य न थी। रस प्रतीति बाध निरपेक्ष है—फलतः लक्षणा का भी रास्ता बंद है—अतः इन्हें अवगम या अनुमान का पल्ला पकड़ना पड़ा और नटगत विभावादि साधनों से उसकी अनुमिति स्वीकार करनी पड़ी।

अभिनव-भारती में उनका मत प्रस्तुत करते हुए यह कहा गया है कि विभाव नामक हेतु, अनुभावात्मक कार्य एवं सहकारी रूप व्यभिचारी के द्वारा अनुकर्ता में अनुमित स्थायी ही रस है। यद्यपि वह अनुमीयमान स्थायी हैं—पर नट में अनुकृत है। अनुकृत होने के ही कारण उसे 'रस' जैसी दूसरी संज्ञा प्रदान करनी पड़ी है। यद्यपि यहाँ के विभावादि जैसे अनुमापक साधन प्रयत्नसम्पाद्य होने के कारण कृत्रिम ही हैं और कृत्रिम साधन से अनुमान नहीं होता परंतु नट के अभिनय कौशल से सामाजिक को वह कृत्रिम जान नहीं पड़ता अकृत्रिम सा ही प्रतीत होता है। इस प्रकार यहीं यह भी समझ लेना चाहिए कि यहाँ का अनुमान भी वस्तुतः मिथ्या ही है फिर भी उसका प्रेक्षक-गत सुखात्मक परिणाम सही है। लौकिक व्यवहार में कभी कभी मिथ्या व्यवहार से सही फल की प्राप्ति देखी जाती है। इसको स्पष्ट करने के लिए उन्होंने एक दृष्टांत दिया है जिसमें कहा गया है कि एक ही व्यक्ति एक दिशा में मणिप्रभा देखता है और दूसरी दिशा में प्रदीप प्रभा, पर समझता दोनों को है—मणि ही। प्रभा को मणि समझना भ्रांति ही है मिथ्याज्ञान ही है पर एक तरफ की प्रवृत्ति सफल है और दूसरी तरफ की निष्फल। उसी प्रकार यहाँ

का ज्ञान भी यद्यपि मिथ्या है पर उससे आनंदात्मक फल की उपलब्धि सही है।

यहाँ जिस नट या नर्तक को रसानुमिति का पक्ष (आश्रय) स्वीकार्य किया गया है उसकी प्रतीति को शंकुक ने चित्रतुरगन्याय से समझाया है। उसने कहा है कि लौकिक प्रतीतियों की भाँति रसमग्न प्रेक्षक नर्तक की अनुकार्यात्मक प्रतीति को यथार्थ, मिथ्या, संशय एवं सादृश्यात्मक प्रतीतियों के विश्लेषण से ऊपर उठकर चित्रात्मक तुरग की भाँति ग्रहण करता है। नट का कौशल सामाजिक को इस तर्ककर्कश पद्धति से ऊपर उठा ले जाता है और वह सामाजिक उस बेला में इतना ही भर समझता है कि जो सुखी राम है वह यह नट है। इसलिए न तो उद्भट की भ्रमोन्मुखी व्याख्या ही ठीक है और न लोल्लट की उपचयवादी स्थापना।

परवर्ती व्याख्याकारों ने इनके मतानुसार भरतसूत्र की योजना इस प्रकार की है—विभाव, अनुभाव एवं सचारी स्वरूप साधन से अनुमाप्य अनुमापक भाव संबंध होने पर रस की अनुमिति होती है।

इनकी धारा में आनेवाले दूसरे परवर्ती आचार्य हैं–महिमभट्ट उन्होंने भी शंकुक की भाँति स्वीकार किया है कि सामाजिक द्वारा नर्तक या काव्यपाठक में विभावादि लिंग से रति आदि स्थायी भाव का अनुमान होता है। महिम शंकुक की इस स्थापना को स्वीकार करते हैं कि—"स्थाय्यनुकरणात्मानो हि रसाः।" अनुकार्य-गत भाव बिम्ब है और नर्तकगत या काव्यपाठगत प्रतिबिम्ब। महिम में फिर भी शंकुक की अपेक्षा कुछ विशदीकरण और है! महिम शंकुक की भाँति केवल नाट्य की दृष्टि से ही रस-निष्पत्ति पर विचार नहीं करते—वे श्रव्य काव्य को भी ध्यान में रखते हैं। वे मानते हैं कि काव्य के लिए रस की संस्थिति नितांत अनिवार्य है—काव्य नीरस नहीं हो सकता। उन्होंने शकुक से आगे बढ़कर यह भी विचार किया कि शास्त्रानुमान से यह काव्यानुमान विलक्षण है—वह तर्क कर्कश नहीं, बल्कि कोमल है—काव्योचित है। इसीलिए महिम अपनी इस अनुमिति को शुद्ध अनुमिति न कहकर काव्यानुमिति नाम देना चाहते हैं। वे यह भी कहते हैं कि यद्यपि आस्वाद किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ग्रहण से ही होता है—आनुमानिक परोक्ष ग्रहण से नहीं—फिर भी एक बात तो यह भी है कि यह अनुमान लोकानुमान की भाँति एक तो नीरस नहीं, दूसरे यहाँ की अनुमीयमान वस्तु भी स्वभावतः सुंदर होती है। निष्कर्ष यह कि यहाँ की आनुमानिक प्रक्रिया रसात्मक है और अनुमीयमान वस्तु सहज ही सुंदर।

फलतः जब यह प्रक्रिया और वस्तु स्वभावतः रमणीय हैं—तो लोकानुमान से तुलना कर उसके स्वभाव पर आक्षेप करना व्यर्थ ही है।

शंकुक और महिम की इस वैचारिक पृष्ठभूमि का खंडन परवर्ती समीक्षको द्वारा पर्याप्त रूप से हुई है। अभिनव भारती में भट्टतौत के द्वारा शंकुक की सर्वतोमुखी समीक्षा हुई है और मम्मट आदि ध्वनि समर्थक आचार्यों ने महिमभट्ट की भी अच्छी खबर ली है। वस्तुतः दोनों ने जो यह स्वीकार किया है कि रस स्थायी का अनुकरण है या अनुकृत स्थायी है—वहाँ यह प्रश्न दुरुत्तर है कि अनुकरण किसका और कैसे संभव है? अनुकरण का अर्थ क्या है—पश्चात्करण या सदृशकरण? काव्य या नाट्य में जो भाव वर्णित है—वह कवि के द्वारा कल्पनानीत है। कवि योगी तो है नहीं जो अनुकार्य का साक्षात्कार करके ठीक मूल 'भाव' प्रस्तुत करता है—अतः जब मूलभाव कल्पनातीत ही है—तब एक व्यक्ति विशेष से असम्बद्ध होने के कारण सदृशकरण की बात ही असंभव है। मतलब यह कि अनुकरण के लिए अनुकार्य का निश्चयात्मक ज्ञान आवश्यक है—पूर्वदर्शन आवश्यक है। क्या नट प्रत्येक अनुकार्य का पूर्व दर्शन किया रहता है? रहा पश्चात्करण जैसा अर्थ—तो इस अर्थ में अनुकरण लोकगत भी होता है। फिर लौकिक एवं मंचीय अनुकरण में अंतर क्या होगा? और अतर हो भी तो मंचीय अनुकरण को ही अनुकरण क्यों कहा जाय? लोक में जो पश्चात्करण है—उसे अनुकरण क्यों न माना जाय?

दूसरी बात इन लोगों के मत के न मानने में यह भी कही जा सकती है कि भरत मुनि का व्याख्याकार भरत मुनि की व्याख्या कर रहा है या अपना मत उन पर लाद रहा है। भरत ने कहीं भी 'स्थाय्यनुकरणं रसः' नहीं कहा। यदि यह कहा जाय कि भरत ने नाट्य को अनुकरण ही तो कहा है—और इस आधार पर जबर्दस्ती भरत की सहमति स्थापित भी की जाय-तब भी यह प्रश्न खड़ा होता है कि भरत के 'अनुकरण' का अर्थ क्या है? क्या वही जो शकुक और महिम समझते हैं? नहीं। भट्टतौत ने भरत के 'अनुकरण' का अर्थ ग्राहक की दृष्टि से 'अनुकीर्तन या 'अनुव्यवसाय' बताया है-जो शंकुक और महिम के अर्थ से' भिन्न है।

तीसरी बात यह भी है कि हर व्यक्ति का अनुभव भी इस मत से भिन्न है। हर अनुभवी यह समझता है कि वह रस का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा है—न कि अनुमान। अतः युक्ति विरोध के साथ-साथ अनुभव विरोध भी उक्त व्याख्या के अस्वीकार में कारण है

(३) इस दार्शनिक धारा में मीमांसा एवं न्याय दर्शन का ही सहारा नहीं लिया गया है—अभिनव भारती में ऐसे मतों का भी उल्लेख है कि जो सांख्य दर्शन पर आधारित हैं। ये लोग मानते हैं कि नाट्य में रसोत्पादक सामग्री है—विभावादि–जो वाह्य सामग्री हैं। सांख्यदर्शनानुसार समस्त सांसारिक (चिति-भिन्न) पदार्थ त्रिगुणात्मिका प्रकृति के परिणाम हैं। इसलिये सांख्यदर्शन के अनुसार वे सुख, दुःख एवं मोह के जनक हो सकते हैं। अतः यह मानना आवश्यक है कि त्रिगुणात्मक नाट्योपयोगी सामग्री सुख एवं दुःख–उभयात्मक होगी–केवल सुखात्मक नहीं। निष्कर्ष यह कि ये लोग स्थायी की रसात्मक प्रतीति का अर्थ केवल सुखात्मक नहीं, प्रत्युत सुख दुःखोभयात्मक मानते हैं।

इस व्याख्या की भी भरत सम्मत स्थिति नहीं है। दूसरे यदि नाट्यसामग्री सुख दुःख मोहात्मक प्रभाव पैदा करें–तो सामाजिको की एक ही सामग्री से उत्पन्न प्रतीतियों में विषमता आयगी–एकरूपता नहीं। परिणाम यह होगा कि एकरूप प्रतीति जैसे सहृदयों के हार्दिक अनुभव से यह व्याख्या बेमेल हो जायगी।

(४) कुछ लोग भट्टनायक की व्याख्या को भी सांख्यदर्शनानुसार व्याख्या मानते हैं—पर अब इसे कोई नहीं मानता–अतः इस दार्शनिक धारा का स्वतंत्र विचार करना चाहिए।

भट्टनायक भरतसूत्रीय व्याख्या की दार्शनिक पृष्ठभूमि के संबंध में अनेक प्रकार के मत मिलते हैं-। काव्यप्रकाश के सुप्रसिद्ध टीकाकार प्रदीप प्रणेता म० म० गोविंदठक्कुर ने भट्टनायक के मत का काव्यप्रकाश के आधार पर जो व्याख्या प्रस्तुत की है—उसमें उसे सांख्यदर्शनानुसारी ही कहा गया है। The Philosophy of Alsthelic Pleasure के प्रणेता पञ्चयगेशशास्त्री ने भी उन्हें सांख्यदर्शनानुयायी ही कहा है। आनंदप्रकाश दीक्षित ने भी 'रस स्वरूप' और विश्लेषण में सांख्यमत का ही समर्थन किया है।

भट्टनायक द्वारा स्वीकृत भावना और भोग नाम की काव्य की अतिरिक्त शक्तियों में से भोग की व्याख्या सांख्य दर्शन के आधार पर तो की ही गई है, अद्वैतवेदांत के आधार पर भी कतिपय व्याख्याकारों ने प्रस्तुत की है। 'प्रभा' टीकाकर वैद्यनाथ पायुगुण्डे ने सर्वथा **अद्वैतवेदांत** के अनुसार भोग की व्याख्या की है। इधर हाल की प्रकाशित एक शोध कृति में 'भोग' की व्याख्या शैवागम के आधार पर की गई है।

'भोग' के अतिरिक्त 'भावना' का विश्लेषण अभिनवगुप्त ने लोचन में

जैसा प्रस्तुत किया है—उससे यह स्पष्ट होता है कि वह मीमांसा की 'भावना' से प्रभावित है। इस प्रकार इनकी वैचारिक पृष्ठभूमि पर्याप्त विवादास्पद है। इस विवाद पर विचार करने से पूर्व 'भावना' और 'भोग' के स्वीकार के हेतुओं पर भी थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है।

अभिनवगुप्त ने 'लोचन' और 'अभिनव भारती' में भट्टनायक के मत का विस्तार से उपस्थापन किया है। 'अभिनव भारती' में इनके मत को लेकर कहा गया है कि रस न तो 'प्रतीत' (अनुमित ?) होता है, न 'उत्पन्न' और न 'अभिव्यक्त'। 'प्रतीति' का अर्थ उन्होने स्वयं बताया है—अनुभव एवं स्मृति आदि। यदि रस की प्रतीति अर्थात् अनुभव और स्मृति आदि सामाजिक स्वगत स्वीकार करता है तो करुण के प्रसंग में उसे दुःखी होना चाहिए। दूसरे प्रतीति की उत्पत्ति का कोई कारण भी तो होना चाहिए सीता आदि श्रद्धेय पात्र-परकीय पत्नी एक सभ्य की वासना को उद्दीप्त करने में निमित्त किस प्रकार हो सकती है ? यह कहना कि सीता को देखकर दर्शक अपनी पत्नी का स्मरण करता है और स्मृत पत्नी ही प्रेक्षणकाल में वासना का उद्दीपन करने में निमित्त बनती है—ठीक नहीं। कारण है अनुभव की विसंगति। सामाजिक शृंगारादि का अभिनय देखते समय अपनी-अपनी प्रेयसी की कल्पना में आँख बंद करके नहीं बैठते। सीता को ही सामान्य नायिका के रूप में ले लें यह संभव नहीं। नायक के असाधारण कार्य कलाप भी सामाजिक के अपनी लघुताबोध वश दोनो में तादात्म्य नहीं होने देते। न तो रसमग्न राम की ही स्मृति से सामाजिक सहानुभूतिवश मग्न होता है – सुखी होता है। दूसरे स्मृति के लिए 'अनुभव आवश्यक है—वही सामाजिक में अविद्यमान है। शब्द प्रमाण या अनुमान प्रमाण से दम्पति (अनुकार्य) का शृंगारमयता का ज्ञान करके भावनामग्न होना भी एक सभ्य सामाजिक के लिए उपयुक्त नहीं। फलतः प्रतीति वाला पक्ष तो असंभव है।

रहा यह कि स्वयं प्रेक्षक में ही शृंगारादि की 'उत्पत्ति' मानी जाय—तो वे ही सारी बातें यहाँ भी कही जा सकती हैं। संस्कार रूप में पूर्वस्थित रत्यादि का अभिव्यक्त होना भी दोष से खाली नहीं है। 'अभिव्यक्ति' का अर्थ है—पूर्वसिद्ध वस्तु का प्रकाशक सामग्री द्वारा प्रकाशन। इस स्थिति में प्रकाशक सामग्री के तारतम्य से प्रकाशन में भी तारतम्य रहेगा और निरतिशय रसात्मक प्रतीति तारतम्य युक्त होने से सातिशय हो जायगी—जो रसवादी को स्वीकार्य नहीं। इस प्रकार इस पक्ष में और भी अड़चनें हैं।

अतः मानना यह चाहिए कि काव्य या नाट्य में अभिधा से अतिरिक्त दो सामर्थ्य और है—भावना और भोग। काव्य में 'भावना' और कुछ नहीं—बल्कि शब्दात्मक काव्य का दोषाभाव, गुण एवं अलंकार से युक्त होना ही है। अर्थात् वही काव्य भावक या भावनाशक्ति सम्पन्न हो सकता है—जिसमें दोष, गुण, अलंकार एवं दोषाभाव आदि का योग हो। यदि ऐसा न हुआ तो काव्य भावक नहीं हो सकता—उससे रस की भावना नहीं हो सकती। काव्य में रस-भोग कराने की क्षमता इन्हीं कारणों से आ पाती है। नाट्य में यह भावना चतुर्विध अभिनयात्मकता ही है। यही 'भावना' साधारणीकरण के नाम से भी ख्यात है। अभिधाशक्ति के द्वारा काव्य में और चक्षु द्वारा दृश्य या नाट्य से जो पदार्थ प्रतीतिगोचर होते हैं—वे असाधारण रूप में प्रतीत होते हैं—देशविशेष, कालविशेष, एवं व्यक्तिविशेष से संबद्ध प्रतीत होते हैं और यह लोक संबद्ध रूप रस की दृष्टि से अनुपयोगी है—उसमें ग्राहक के अंतःकरण की वासना को जगाने की क्षमता अविद्यमान रहती है। अतः आवश्यक है कि उनका—असाधारण रूप में प्रतीत पदार्थों का—रसोपयोगी परिष्कार हो। बात यह है कि इनके अतिरिक्त वहाँ कोई दूसरी सामग्री तो रसभोगोपयोगी है नहीं और जो है वह अपने अभिधानीत रूप में अनुपयोगी है। अतः उसे उपयोगी बनाने के लिए परिष्कार आवश्यक है—अर्थात् उसे इस रूप में प्रतीत करना है कि वह रसोपयोगी हो सके। एतदर्थ असाधारण का साधारणीकरण आवश्यक है। साधारणीकरण का अर्थ ही यही है—असाधारण का साधारण होना—सामान्यरूप से प्रतीत होना—देश काल व्यक्ति विशेष के संबंध से निर्मुक्त रूप में प्रतीत होना। इस साधारणीकरण व्यापार का फल यह बताया गया है कि सहृदय के हृदय पर जो मोह का सूचीभेद्य पटल छाया रहता है—वह निर्भिन्न हो जाय—सत्त्व का प्रवाह अविच्छिन्न प्रवाहित होने लगे। इस स्तर पर आने के बाद काव्य का तीसरा व्यापार आरम्भ होता है—जिसे 'भोग' कहते हैं।

'भोग' का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि भावना द्वारा भाव्यमान स्थायी के भोग का तात्पर्य इस प्रकार है—कहा गया है कि यह भोगात्मक प्रतीति सामान्य अनुभव या स्मृति आदि जैसी लौकिक प्रतीतियों से भिन्न होता है। मोह संकट का आपेक्षिक तिरस्कार हो जाता है—फिर भी अंशतः रज एवं तम का संस्पर्श रहता ही है—फलतः अंतःकरण पर उनका द्रुति, विस्तार एवं विकासात्मक प्रभाव पैदा होता

ही है—मोहपटल के निवारण से सत्त्व का प्रवाह अविच्छिन्न चलता ही रहता है—फल यह होता है कि सत्त्वोद्रेकवश जो आवरण भंग होता है—परिच्छिन्नता का बोध समाप्त हो जाता है—अपने पारमित्य का विस्मरण हो जाता है—तो प्रकाशानंदमयी सविद् का उदय होता है—आत्मा या चेतना का प्रकाशानंदमयरूप प्रकट हो जाता है—इस भोग का विषय जब भाव्यमान स्थायी होता है—तो वही रस कहा जाता है।"

भट्टनायक की रसव्याख्या का यही अभिनव भारती में उपस्थापित मूल रूप है। यहाँ और लोचन में 'भोग' का जो रूप प्रस्तुत किया गया है—उसमें 'प्रकाशानंदमय निजसंविद्' रूप या 'चिन्निर्वृतिविश्रांति' रूप कहा गया है। इन दोनो ही अंशों में 'आनंदमयसवित्' या 'चिन्मयी निर्वृति'—शब्द का प्रयोग है—अर्थात् दोनों जगह चित् एवं आनंद को अभिन्न बताया गया है। सांख्य दर्शन के अनुरूप यह बात नहीं बन सकती। सांख्यदर्शन में आनद प्रकृति के सत्त्व गुण का परिणाम है। अर्थात् वह प्राकृततत्त्व है—जहाँ चिन्मयता नहीं और पुरुष—जहाँ चिन्मयता है—वहाँ आनंद नहीं। अतः सांख्य दर्शन की भूमिका पर चिदानंद की एकता संभव नहीं, फलतः अद्वय वेदांत या शैवागम दर्शन की सहारा लेना होगा। मेरे विचार से इसे अद्वैतवेदांत के ही अनुरूप लगाना चाहिए—क्योंकि नाट्यशास्त्र की प्रथमकारिका पर जो भट्ट-नायक की व्याख्या मिलती है—वह अद्वैतवेदांत के नजदीक अधिक है—वहाँ भेदमय संसार को निस्सार कहा गया है। [विशेष देखिये— 'रसविमर्श में भट्टनायक की रस व्याख्या]।

जिस प्रकार शकुक की परम्परा में महिमभट्ट की चर्चा की गई है—उसी प्रकार भट्टनायक की परम्परा में कुछ दूर तक धनिक धनञ्जय का उल्लेख किया जा सकता है। भट्टनायक की भाँति वे भी मानते हैं—"अतो न रसादीनां काव्येन सह भाव्यभावकसंबंधः किन्तर्हि ? भाव्यभावक संबंधः अर्थात् काव्य का रस के साथ व्यंग्यव्यंजक भाव संबंध नहीं है। प्रत्युत भाव्यभावक संबंध है। 'भावना' के पक्ष में विरोधियों का इन लोगों ने उत्तर भी दिया है। फिर भी भट्टनायक और धनिक धनञ्जय में कई वैषम्य हैं। पहली बात यह कि वे व्यंजना की जगह तात्पर्यवृत्ति मानते हैं और सिद्धांततः रस को भी तात्पर्यवृत्ति का लभ्य स्वीकार करते हैं। दूसरी बात यह कि वे भट्टनायक की भाँति 'भुज्यमान स्थायी' को नहीं, बल्कि 'भावित स्थायी' को रस कहते हैं। यद्यपि 'आत्मानंदसमुद्भवः' जैसी काव्या-स्वाद की व्याख्या भट्टनायक विवेचित भोग के स्वरूप से अभिन्न ही जान पड़ती

है—तथापि 'भोग' का नाम इन्होंने कहीं नहीं लिया। एक और अंतर यह है कि जहाँ भट्टनायक ने कहीं भी सामाजिकनिष्ठ रत्यादि की रसात्मक परिणति नहीं कही—वहाँ धनिक धनंजय ने स्पष्टतः रसिकनिष्ठ रत्यादि स्थायीभाव का उल्लेख किया है।

ध्वनिवादियों ने भट्टनायक तथा धनिक धनञ्जय का पूरा खण्डन किया है। अभिनवगुप्त ने 'भावना' और 'भोग' के स्थान पर अवश्य स्वीकार्य एकमात्र 'व्यंजना' को ही पर्याप्त समझा है। 'भावना' है क्या—शब्द और अर्थ की रसाभिव्यक्ति क्षमता ही तो—जो गुणालंकारोपस्कृत शब्दार्थ में संभव है। व्यंजना इसी सामर्थ्य का नाम है—अतः उससे अतिरिक्त भावना की आवश्यकता ? रहा भोग, वह भी क्या है—निरावरण चिदानंदमयी संवित्ति ही तो ? और व्यक्ति या व्यंजना भी भग्नावरण चित् ही है—अतः दोनों एक ही हैं। व्यंजना रस-भावन की समग्र प्रक्रिया को पूरी करती है—कदाचित् इसीलिए धनिक धनञ्जय ने भी भोग का अलग से नाम नहीं लिया और भावित स्थायी को ही रस माना। रही उनकी तात्पर्यवृत्ति—वह व्यंजना का नामांतर भर है—क्योंकि व्यंग्य रूप से जिस स्तर का अर्थ स्वीकार किया गया है—उसका अस्तित्व तो ये मानते ही हैं। इन्हीं सब कारणों से अभिनवगुप्त ने आनंदवर्द्धन की अभिव्यक्ति प्रक्रिया को और सुदृढ़ दार्शनिक भूमिका प्रदान की।

शैव आगमिक अद्वयवादी दार्शनिक पृष्ठभूमि का अभिव्यक्तिवाद—

अभिनवगुप्त ने अपनी विवेचनाओं में बताया है कि भाव ही रस है, पर वह स्थायीभाव से विलक्षण और लोकोत्तर है। यह भाव रस तब कहा जाता है जब लौकिक विघ्नों से रहित लोकोत्तर संवेदना या चर्वणा का विषय होता है। चर्वणा एक लोकोत्तर प्रतीति का ही नाम है। लोकोत्तर प्रतीति से हमारा आशय यह है कि इसके उत्पादन या अभिव्यञ्जन में जो सामग्री निमित्त होती है—वह लौकिक प्रकृति की नहीं होती। लौकिक प्रकृति के उपाय वे हैं जिनका संबंध भौतिक लाभ एवं हानि से प्रवृत्त होनेवाले व्यक्ति विशेष से हो।

रसात्मक संवेदन एक आनंदमयी प्रतीति है। अभिनवगुप्त का विचार है कि आनंद आत्मस्वरूप (पूर्णता) का परामर्श ही है। आत्मा का स्वरूप है—पूर्णता का बोध। भेद और व्यवहार की भूमिका पर संसारी प्रमाता निरन्तर आत्मेतर वस्तुओं की ओर अभावग्रस्त सा होकर दौड़ा करता है—जब कभी अभिलषित वस्तु मिल जाती है—तो क्षण भर के लिए

पूर्णता बोध होता है—आत्मस्वरूप का प्रत्यय होता है—और संसारी प्रमाता आनंद की अनुभूति करता है। पर यह क्षणिक है। काव्य की भूमिका में जो आनंदानुभूति होती है-वहाँ भी आत्मपरामर्श या संविद्विश्रांति ही मूल कारण है। यहाँ का आनंदबोध एक तो अपेक्षाकृत स्थायी होता है, दूसरे लौकिक विघ्नों से निर्मुक्त रहता है। अतः यह परिष्कृत और उच्चकोटि का होता है। तीसरे जितने भी विषय या भाव माध्यम होते हैं—वे साधारण्य सम्पन्न होते हैं। इनकी अनुभूतिवश संविन्मुखी प्रमाता अपनी सर्वतोमुखी 'पूर्णता' के संकोचक कंचुकों को विस्मरण कर जाता है—उसकी अपरिमित प्रमातृता उन्मिषित हो जाती है—चिति का महाविस्फार हो जाता है—इस स्थिति के अनुभव गोचर होने से 'पूर्णता' परामर्श के फलस्वरूप आनद का स्थिर प्रवाह चलने लगता है। लेकिन यह स्थिति तभी तक रहती है जब तक विभावादि व्यंजक सामग्री रहती। काश्मीरिक आगमिकों की धारणा है कि आस्वाद बोध के लिए द्वैत की भूमिका आवश्यक है। कहा जा सकता है कि एक तरफ़ आनंद के लिए 'पूर्णता' बोध की अद्वैतमयी स्थिति आवश्यक है और दूसरी ओर 'द्वैत' की बात कही जा रही है—दोनों किस प्रकार संभव है? अद्वयवादी आगमिकों को कहना है कि आगमिक अद्वयवाद की यही विशेषता है कि वहाँ Two in one अद्वैत के गर्भ में द्वैत है—वह अद्वय प्रकृति का है—पर आस्वाद की भूमिका के लिए कल्पित समर्थ और स्वतंत्र प्रमाता अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से इस द्वैत की भूमिका की इच्छित सृष्टि कर लेता है।

काव्यानंद का विश्लेषण करते हुए अभिनवगुप्त ने यह भी बताया है कि वैषयिक आनंद और काव्यानंद में एक अतिरिक्त अंतर यह भी है कि पहले में प्रमातृ भाग की—प्रकाशभाग की और दूसरे में विमर्श (हृदय) पक्ष की प्रधानता रहती है। अतः पहली स्थिति के भोक्ता के लिए इन लोगों ने भुञ्जान शब्द का प्रयोग किया है, परंतु दूसरी स्थिति अर्थात् काव्यसौंदर्य संवेदन के लिए 'विमर्श' भाग की प्रधानता को ध्यान में रखकर 'रसन' 'चर्वणा' 'संविद्विश्रांति'—आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।

अभिनवगुप्त की मान्यता है कि रसप्रतीति एक झटिति प्रत्यय है—उसे विलम्ब सह्य नहीं है। उन्हें तो विभावि साक्षात्कार के साथ-साथ रसन व्यापार की निष्पत्ति मान्य है और आरंभ से ही आनंदैकघन है।

कारण—आनंद का मूल है संविद् विश्रान्ति—विक्षेप का उच्छेद। काव्य की निर्विघ्न और साधारण्य सम्पन्न भाव की भूमिका पर प्रमाता विक्षेप रहित होकर अंतर्मुख हो जाता है—संविन्मुखी हो जाता है—और संविद्विश्रान्ति की पीठिका पर समास्वाद पाने लगता है। फलतः अभिनव सर्वत्र (करुण) आनदात्मक प्रतीति स्वीकार करते हैं।

सम्प्रति सक्षेप में यह भी देख लेना है कि काव्यास्वाद जिन भावों की पृष्ठभूमि में निष्पन्न होता है—उनका प्रतीति रसात्मक होने के लिए वीत विघ्न प्रतीति होनी चाहिए और स्वयं वे साधारण्य संपन्न हों। फलतः वे विघ्न कौन-कौन हैं और साधारण का इन्हें क्या अर्थ मान्य है—इसकी चर्चा आवश्यक है। अभिनव ने वे विघ्न सात बताये हैं—कुछ विषयगत हो सकते हैं और कुछ सामाजिकगत—कुछ भोग्यगत और कुछ भोक्तृगत। पहला विघ्न है—सम्भावनाविरह। काव्य के उपकरण में संभाव्यता का गुण होना चाहिए। पश्चिमी आचार्यों मे अरस्तू ने भी कहा है कि संभावित असत्य काव्य में चल सकता है, पर असंभावित सत्य नहीं। अभिनव ने भी कहा है कि विनेय को व्युत्पत्ति पाने के लिए वस्तु की ओर उन्मुख होना पड़ेगा और यह तभी संभव है जब उसमें संभाव्यता का गुण विद्यमान हो। दूसरा विघ्न है—प्रतीति के साधनों की विकलता। यदि साधन ही अपूर्ण हैं—तो रस निष्पत्ति कैसे सभव है? सामग्री पूरी हो और साथ ही स्फुट हो—उसमें स्फुटता का अभाव न हो। चौथा विघ्न यह भी है कि सामग्री में सतुलन हो—ऐसा न हो प्रधान वस्तु अप्रधान रूप में रख दी गई हो। इसके साथ यह भी आवश्यक है कि सामग्री संशय में डालनेवाली न हो—अर्थात् ऐसी न हो कि ग्राहक उसका संबंध दो विभिन्न पदार्थों से होने के कारण निश्चय ही न कर सके कि इस सामग्री का संबंध किससे किया जाय? वस्तुगत इनके अतिरिक्त रसिकगत भी कुछ विघ्न हैं—जैसे—स्वपरगत देश कालविशेषावेश अर्थात् गोपनेच्छु रसिको को रसास्वाद के समय यदि यह चिंता बनी रही कि उसे कोई देख तो नहीं रहा है—तो रसास्वाद संभव न होगा। इसी प्रकार निजसुखादि विवशीभाव—भी एक विघ्न है—अर्थात् यदि ग्राहक का मन सांसारिक अनुभूतियों से सर्वथा ग्रस्त रहा—तो भी रसास्वाद सभव नहीं है। इस प्रकार जो भाव इस दशा को प्राप्त होते हैं—उन्हें वीतविघ्न प्रतीतिग्राह्य होना आवश्यक है।

दूसरी आवश्यक बात है—साधारण्य की कल्पना और उसका स्वरूप। इतना तो पहले ही कहा जा चुका है कि पदार्थ रसोपयोगी तब तक नहीं हो सकते

जब तक वे असाधारण्य का निर्मोक उठाकर सर्वथा फेंक न दें—लौकिक रूप का परित्याग न कर दें। साधारण्य का अर्थ जहाँ एक ओर असाधारण्य का निराकरण है वहाँ दूसरी ओर सर्वथा सामान्य रूप से प्रतीति का भी निषेध है। काव्यीय सामग्री को एक ओर व्यक्ति विशेष से नियत संबंध को शिथिल करना है तो दूसरी ओर उसे सर्वसाधारण से संबद्ध रूप में भी होने वाली प्रतीति से बचाना है। उसे तो इस रूप में लाना है कि वह रसोपयोगी हो सके। वस्तु की रसोपयोगिता में उक्त द्विविध प्रतीतियाँ बाधक हैं। शृंगार के विभाव के प्रति ग्राहक की बुद्धि में न तो यह आना चाहिए कि वह नियमतः व्यक्ति विशेष से संबद्ध है और न यह आना चाहिए कि वह सर्व सामान्य का भोग्य है। उसके संबंध में न तो अपना, पराया का नियमतः ज्ञान हो और न तो इसका नियमतः प्रच्यव ज्ञान ही हो। सामान्यतः या अनियमपूर्वक यदि वह व्यक्ति विशेष से संबद्ध रूप में भी ज्ञात रहे—तो कोई हानि नहीं। बल्कि ऐसा होने में अनुभव भी प्रमाण है। यदि आलम्बन अपने वैयक्तिक रूप को सर्वथा ग्राहक के ज्ञान में न आने दे—और सामान्यतः नायिका के ही रूप में ज्ञात हो—तो फिर सीता और शकुंतला जैसे विभावों का अंतर क्या होगा? दोनों नायिका रूप में प्रतीत होने पर पर्याय ही हो जायँगी। इसीलिए अभिनवगुप्त भट्टनायक से एक तो साधारण्य को परिमित नहीं अपितु विस्तार देना चाहते हैं और दूसरे वैयक्तिक रूप का सर्वथा असस्पर्श नहीं कहना चाहते हैं।

संक्षेप में अभिनव की यही धारणा है।

नाट्यशास्त्रीय एवं श्रव्यशास्त्रीय रस की धाराओं का पार्थक्य मिटाने का श्रेय आनंदवर्द्धन को है और उसको दार्शनिक गहराई देने का महत्त्व अभिनवगुप्त को प्राप्त है। परवर्ती रस विचारकों पर सर्वाधिक प्रभाव अभिनव-गुप्त का ही है। संस्कृत के आलंकारिकों में इस धारा की स्थिति हमें अंतराल के अन्य आचार्यों में तो दिखाई देती ही है—पार्यंतिक स्थिति पण्डितराज जगन्नाथ में दिखाई पड़ती है।

पण्डितराज ने रस की विभिन्न व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं जिनमें से कतिपय भरतसूत्र से मेल खाती हैं और कतिपय नहीं। इन सब में उन्होंने अभिनवगुप्त के मत को सर्वप्रथम स्थान दिया है—पर उसे आगमिक अद्वयवादी दृष्टि से प्रस्तुत न करके औपनिषद् अद्वैतवाद की दृष्टि से प्रस्तुत किया है। उन्होंने इनके मत को प्रस्तुत करते हुए बताया है कि रस प्रतीति का क्रम यह है—समुचित और ललित सन्निवेशवश सम्पन्न चारुकाव्य से

पहले पदार्थ सहृदय के अंतःकरण में स्फुरित होते हैं। तदनन्तर सहृदयता सहकृत भावना विशेष के द्वारा उनका भावन करने पर उनमें वह रूप स्फुरित होता है जिसे विभावादि शब्द से पुकार सकते हैं। फिर विभावादि की संवलित प्रतीति के फलस्वरूप एक व्यंजना नामक अलौकिक व्यापार उत्पन्न होता है जिससे आत्मा पर रस-सामग्री विषयक पड़ा हुआ व्यवधायक आवरण भंग होता है। इस आवरण भंग से निरावरण चित् ढक्कन रहित दीप की भाँति अपने स्वरूप [भूत आनंदमयता] का तो प्रकाशन करता ही है सन्निहित अन्य पदार्थों की भाँति रत्यादि वासना को भी आलोकित करता है। अंततः पारिमित्य की भूमिका से ऊपर उठा हुआ प्रमाता रसास्वाद करता है। इस रसास्वाद में विभावादि, स्थायी भाव, आत्मा का चिदंश और आनदांश पानक रस न्याय से समरस होकर विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार अततः उन्होंने कहा है कि रस में स्थायी ही प्रधान है—चिदंश अप्रधान—अर्थात् चिद्विशिष्ट स्थायी ही रस है।

उक्त व्याख्या के विकल्प में उन्होंने एक और व्याख्या प्रस्तुत की है—और उसमें विभावादि की सम्मिलित प्रतीति तथा रसास्वाद के बीच एक अलौकिक व्यापार की व्यवधायक कल्पना नहीं है—उसमें कहा गया है कि विभावादि प्रतीति के साथ-साथ रस प्रतीति होती जाती है। उन्होंने दृष्टांत देकर बताया है कि जिस प्रकार समाधि में ब्रह्मानंदाकार चित्तवृत्ति प्रवाहित रहती है उसी प्रकार यहाँ भी विभावादिक भी चित्तवृत्ति ही रसमयी होकर प्रवाहित होती रहती है।

पण्डितराज ने इसमें अपनी ओर से 'रसो वै सः' श्रुति का अनुरोध मानकर संशोधन प्रस्तुत किया है और कहा है कि चिद्विशिष्ट रति आदि को नहीं, बल्कि रत्यवच्छिन्न चित् को रस कहना ज्यादा श्रतिसम्मत है। पहली स्थिति में रति विशेष्य है और दूसरी में चित्।

इसके अतिरिक्त शांकर अद्वैत की भूमिका पर और भी व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। एक में तो यह कहा गया है कि काव्य में भावना नामक दोष अवश्य स्वीकार्य है—उसके बिना यहाँ कार्य नहीं चल सकता। दोष का कार्य होता है—भ्रम। अत. यहाँ यही भ्रम क्यों न मान लिया जाय कि भ्रम वश ग्राहक अपने को नायक से अभिन्न समझ लेता है। फिर जिस प्रकार अज्ञान से आवृत शुक्तिका—शकल में अनिर्वचनीय रजत खण्ड की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार दुष्यन्तत्व आदि से आच्छादित ग्राहक के अंतरात्मा में शकुन्तलादि विषयक अनिर्वचनीय रत्यादि की

उत्पत्ति होती है। यही अनिर्वचनीय रति आदि स्थायी भाव रस हैं। इस मतवाले व्यंजना और अनिर्वचनीय ख्याति को मानकर चलते हैं।

इसी प्रकार अन्यान्य मत और भी वहाँ विवेचित हैं। इस प्रकार जहाँ एक ओर अभिनवगुप्त को प्रामुख्य देनेवाली साहित्य-गत रस व्याख्या की एक धारा प्रवाहित हो रही है—वहीं दूसरी ओर भोजराज का सबसे पृथक् अपना एक भिन्न ही राग सुनाई पड़ता है। पूर्ववर्ती धारा में भी एक दल ऐसा है जो रस को केवल आनंदैकघन नहीं मानता, प्रत्युत सुखदुःखात्मक मानता है। आनंदैकघन रस की प्रतीति मानने वाले भी कोई सक्रम अर्थात् पर्यंत में परिणत होने वाली मानते हैं और कोई अक्रमपूर्वक विभावादि प्रतीति के साथ-साथ। इन विभिन्न रूपों मे नाट्य-शास्त्रीय धारा काव्य को भी आप्लावित करती हुई बह रही थी। संप्रति भोजराज द्वारा अनावृत तदितर धारा का भी स्वरूप देखना आवश्यक है।

तदितरधारा (ग) भोजराज का अहंकार शृंगार सिद्धांत

भोजराज से मिलते-जुलते सिद्धांत 'अग्निपुराण' एवं 'भावप्रकाशन' में भी मिलते हैं। डा० डे का विचार यह है कि भोज को अग्निपुराण से ही ये संकेत मिले हैं—पर म० म० काणे एवं वी० राघवन् अग्निपुराण के उस अंश को भोजराज के 'शृंगार-प्रकाश' से परवर्ती मानते है। इस प्रकार सबसे पहले भोज, फिर अग्निपुराण तथा भाव प्रकाशन का क्रम है। इस प्रसंग में यह ध्यान रखने की बात है कि इन तीनों में साम्य केवल इतना ही है कि तीनों किसी न किसी प्रसंग से अहकार का नाम ले लेते हैं—वैसे तीनों अपनी समग्रता में पर्याप्त पृथक्-पृथक् हैं—तीनों की वैचारिक भूमियाँ और स्रोत भी भिन्न हैं।

भोजराज ने सरस्वती कण्ठाभरण में अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"काव्य इसलिए कमनीय होता है कि उसमें रस का योग होता है। रस, अभिमान, अहंकार, शृंगार—ये सब परस्पर पर्याय हैं। यह अहंकार रसिक मानव की अंतरात्मा में एक विशिष्ट अदृष्ट से उत्पन्न सात्विकगुण है—जो अन्य समस्त सद्गुणों की उद्भूति में एकमात्र कारण होता है। इस अहंकार या शृंगार के अस्तित्व से ही कविनिर्मित सृष्टि रसमयी प्रतीत होती है और इसके अभाव में सारा कविनिर्माण फीका हो जाता है।"

यह विशिष्ट अहंकार अपनी 'पुण्यविशेषजन्मा' सत्त्वमयता के कारण रसात्मक परिणति प्राप्त करता है। भोज ने कहा है कि यह विशिष्ट प्रकार का अहंकार शृंगार रस केवल सत्त्वात्माओं में ही होता है और सत्त्वात्मा वे हैं

जो 'काव्याभ्यास' सम्पन्न हैं, जिनमें 'प्राक्तनपुण्यादि' है, 'अमलधर्मविशेष' है। ऐसे ही गुणों से समन्वित व्यक्ति रसिक कहे जाते हैं और उन्हीं में रस या विशिष्ट अहंकार की स्थिति है। भोज मानते हैं कि अन्य लोगों ने जिन ४९ भावों की चर्चा की है या ९-१० रसों की चर्चा की है वे भावनागोचर होने के कारण 'भाव' ही कहे जा सकते हैं—रस नहीं। रस तो सबका मूलभूत केवल 'अहंकार' ही है यह भावनापथ का अतिक्रमण करके भी हृदय में आस्वाद्य होता है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है—'रसन्त्विह प्रेमाणमेवाम-नन्ति'—रस तो प्रेम ही है—तो कदाचित् वे सबके मूल में रहनेवाली आत्मरति या आत्मकाम का संकेत देते हैं।

जहाँ तक इनकी वैचारिक भूमिका का सवाल है—स्वयं इनकी एक दार्शनिक कृति है—तत्त्व प्रकाशिका। यह द्वैतवादी सिद्धान्त शैवागमानुयायी कृति है। उसमें अहकार को 'संरम्भ' रूप कहा गया है–उसे अहंबोध का निमित्त भी माना गया है। द्वैतागमवादी इस अहंकार का कार्य विभिन्न (भावन) भाव भी मानते हैं। भोज जब कहते हैं—"यद्यपि शृंगार एव एको रस-स्तथापि तत्प्रभवा एव रत्यादयः"—तब उक्त दार्शनिक विचार से उनका कुछ साम्य दिखाई पड़ता है। अतः हो सकता है–उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि वही हो।

'अग्निपुराण' के रस विवेचन को अहंकार शृंगार मत न कहकर रतिशृंगार मत कहना ज्यादा उपयुक्त है। इनका वक्तव्य इस प्रकार है—"उपनिषद् या वेदांत में कहा गया है कि सृष्टि का मूलतत्त्व ही अक्षर परमब्रह्म, सनातन, अज एव विभु है—वह चिदानंदमय है। आनंद उसी का स्वभाव है–जो कभी-कभी व्यक्त होता है। उसकी इसी व्यक्ति को 'चैतन्यचमत्कार या रस कहते हैं। इसी तत्त्व का आद्य विकार अहंकार है–उससे अभिमानात्मिका वृत्ति उदित होती है–जिसके माध्यम से संबंध स्थापित होता है। इस अभिमान से संबंध हो जाने पर 'रति' या 'राग' उत्पन्न होता है और वही रति संचारी आदि की सहायता से परिपुष्ट होकर शृंगार कही जाती है।

भोज से अग्निपुराणकार की दार्शनिक पृष्ठभूमि भिन्न है। भोज जहाँ सांख्य, न्याय, सिद्धांतशैवागम का सहारा लेते हैं–वहाँ अग्निपुराण स्पष्ट ही उपनिषदों के अद्वयवादी मत का सहारा लेता है। भोज जहाँ प्राकृत अहंकार को रस कहते हैं–वहाँ आत्मानंद को रस मानते हैं। भोज जहाँ अहंकार को शृंगार कहते हैं अग्निपुराण वहाँ 'रति' को शृंगार मानते हैं। भोज ने जहाँ ४९ भावों को भाव कहा है–अग्निपुराण वहाँ संचारी से परिपुष्ट रति स्थायी को शृंगार कहा है। इस प्रकार दोनों में पर्याप्त अंतर है।

शारदातनय का भावप्रकाशन और रस :—

ये अपने विवेचन में भोज की अपेक्षा अग्निपुराण के नजदीक अधिकतर इसलिए है कि वे भी 'अहकार' के बदले 'रति' को ही शृंगार कहना चाहते हैं। वे मानते हैं कि परतत्त्व की जो इच्छा सृष्टि निर्माण के मूल में रहती है-वह उस समय विषय का अभाव होने से और अभावमूलक न होने से लोकोत्तर एवं निर्विशेष रहती है। वही इच्छा सृष्टि का निर्माण हो जाने पर अनेक जीवात्माओं के माध्यम से विषयोपरक्त हो जाती है-तब 'रति' कही जाती है। यही 'रति' अंततः शृंगारात्मक परिणति प्राप्त करती है। भोज की भाँति ये भी मानते हैं कि रस तो शृंगार ही है, क्योंकि केवल आस्वादमय तो वही होता है-शेष में दुःखसंभेद भी संभव है-अतः केवल प्रसिद्धि ही है कि शेष भी रस है। लेकिन इस साम्य के बावजूद भी वे 'अहंकार' को शृंगार नहीं कहते। परंतु शृंगार विवेचन के संदर्भ में 'अहंकार' का नाम अवश्य लेते है। वे मानते हैं परमात्मा या आत्मा में तीन प्रभाएँ होती हैं-ज्ञान प्रभा, आनंदप्रभा और क्रिया प्रभा। अंतर ज्ञान एवं आनंद स्वयं आस्वादमय या आस्वादात्मा है। यही आनंद या ज्ञान उन बाह्य वस्तुओं के सम्पर्क से अपने को अहंकार या अभिमान के रूप में अभिव्यक्त करता है, जिनका हमें अनुभव होता है, जिनके संपर्क से हमारा मन आह्लादित होता है। भोज की तरह ये भी मानते हैं कि अहंकार रसमात्र में अनुस्यूत रहता है। फिर भी शारदातनय एवं भोजराज में अंतर है। शारदातनय भावित रति को रस कहते हैं-भोज भावनापथ से परे रहनेवाले तत्त्व को रस कहते हैं। इन्होंने अपने चितन का मूल 'योगमाला सहिता' को कहा है-पर उसका कहीं अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता।

(घ)

इस प्रकार एक तरफ साहित्यिक रस की उपर्युक्त विभिन्न वैचारिक पृष्ठ-भूमियों पर विचार चल रहा था-और दूसरी ओर स्वभावतः द्रवणचित्तवाले कतिपय साधक-आचार्य भी अपनी-अपनी साम्प्रदायिक दृष्टि से 'रस' का विवेचन कर रहे थे-पर ये विवेचक सारा स्थूल ढाँचा साहित्यशास्त्र में विवेचित ही ग्रहण करते हैं और यत्र तत्र भरत को भी अपने पक्ष में उद्धृत करते हैं। उदाहरण के लिए उज्ज्वलनीलमणि के ही विवेचन को ले लें-उसमें औपपत्य शृंगार को सर्वोत्कृष्ट मानते हुए पक्ष में भरत को उद्धृत किया है-

बहु वार्यते यतः सा यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वं च।
या च मिथो दुर्लभता सा परमा मन्मथस्य रतिः॥

इस प्रकार यदि एक तरफ साम्प्रदायिक आचार्य साहित्यिकों से प्रभावित हैं तो दूसरी ओर साहित्यिक आचार्य भी साम्प्रदायिकों के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। उदाहरणार्थ अच्युतराय को ही लें, जिन्होंने 'साहित्यसार' का प्रणयन किया है। अच्युतराय भक्ति को रस मानते हैं—यह बात दूसरी है कि उसे शांत से पृथक् नहीं माना है। वस्तुतः भक्ति के संबंध में साम्प्रदायिकों और आलकारिकों का यही अंतर है कि आलंकारिक साधनभक्ति को 'भाव' और साध्यभक्ति को 'रस' मान कर भी उसे 'शांत' में ही अंतर्भुक्त कर लेते हैं जब कि साम्प्रदायिक 'शांत' को भक्ति का एक भेद मानते है।

जहाँ तक 'भक्ति' की रस के रूप में चर्चा के उद्भव और विकास की बात है साम्प्रदायिक और आलंकारिक ग्रंथों में बहुत पहले से मिलता है। एक तरफ शांडिल्य एवं नारद अपने-अपने सूत्रो में भक्ति के रसात्मक रूपों की चर्चा करते हैं और दूसरी ओर आलकारिक प्रेयान् के रूप में। काश्मीरिक आचार्य उत्पल ने भी भक्ति को रसपीयूष कहा है। इसी समय के आसपास श्रीधर स्वामी ने भी भागवत की भावार्थदीपिका में भक्तिरस की चर्चा की। १३वीं शती के बोपदेव ने भी अपने 'मुक्ताफल' में भगवन्मनोनिवेश को भक्ति का स्थायी भाव बनाया और भक्तिरस का थोड़ा अधिक विशदीकरण किया।

इस संदर्भ में अद्वैत वेदांत की वैचारिक भूमि पर भक्ति का विशदीकरण करनेवाले प्रमुख आचार्य हैं मधुसूदन सरस्वती। इन्होंने 'भगवद्भक्तिरसायन' में इसका अच्छा विचार किया है उन्होंने साहित्यिकरस का भी विचार किया है और साम्प्रदायिक भक्तिरस का भी। उन्होंने भक्तिरस का निरूपण करने से पहले यह बताया है कि अध्यात्म के यात्री स्वभावतः दो प्रकार के होते हैं—(१) द्रुतिशीलचित्तवृत्तिवाले (२) अद्रुतिशील-चित्त वाले। भक्ति का अनुभव द्रुतिशीलचित्त का ही उपासक कर सकता है। इनका कहना है कि ऐसे लोगों का अंतःकरण विषय से संवद्ध होते ही लाक्षा की भाँति पिघल जाता है और पिघला हुआ अंतःकरण विषयाकार परिणति पा लेता है। इस प्रकार द्रुतचित्त में निक्षिप्त वस्तु का आकार ही संस्कार भावना या वासना शब्द से व्यवहृत होता है। अतः स्थायी भाव का तात्पर्य है—चित्तगत वस्तु का यही आकार। कहा जा सकता है कि यदि वस्तु का आकार ही 'स्थायीभाव' है तो आलम्बन और स्थायीभाव में अंतर क्या होगा? अंतर है बिंब और प्रतिबिंब का सा। यदि विभाव बिंब है तो स्थायीभाव प्रतिबिंब। इस प्रकार अंतःकरण में प्रतिबिंबित वस्तु का आकार या तदाकार अंतःकरण की वृत्ति ही स्थायीभाव है। भक्तिका स्वरूप बताते हुए साधन एवं

साध्यभक्ति परक दो व्युत्पत्तियाँ बताई हैं। वे साधन जिससे उपास्य को भजा जाय—साधन भक्ति के अंतर हैं। भजन या उपास्य भगवदाकार अंतःकरण की वृत्ति साध्य है। साध्य भक्ति का यही स्वरूप है। साहित्यिक रस में अंतःकरण की वृत्ति में विषयानुरूप जाड्य का भी मिश्रण रहता है—पर भक्ति के क्षेत्र में अतःकरण केवल चिदानदमय उपास्याकार रहता है—अतः साहित्य के रस से भक्तिरस की तुलना नहीं है। उनका कहना है कि 'रसो वै सः' जैसी श्रुति भक्ति-रस के पक्ष में ही सही सही संभव है।

इन्होंने भक्ति के दो रूप कहे हैं—केवल एवं मिश्र। पहले के अंतर्गत तीन हैं—विशुद्ध, वत्सल एवं प्रेयान्।

मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति रस को समाधिसुख की तरह कहा और तुलना में जाड्यमिश्रित होने के कारण साहित्यिकरस को हेय ठहराया। चैतन्य संप्रदाय के गोस्वामी बधुओ ने भक्तिरस का निरूपण करते हुए कहा कि समाधिसुख इसके समक्ष नितांत नगण्य है—यदि भक्तिरस समुद्र है तो समाधिसुख उसके एक जलकण के बराबर भी नहीं है। भक्तिरसामृतसिंधु में शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य के साथ माधुर्य का भी उल्लेख है—पर माधुर्य का बहुत ही स्वल्प विवेचन है। उज्ज्वलनीलमणि में इसका सविस्तर विश्लेषण हुआ है। उच्चकोटि के भक्तों के अंतःकरण में जो कृष्ण विषयक रति है—वही विभावादि से परिपुष्ट होकर उज्ज्वल' या 'मधुर' रसरूप को प्राप्त होती है।

ये लोग अपने अचिन्त्य भेदाभेदवादी दर्शन के अनुसार विष्णुपुराण के उस अंश को स्वीकार कर लेते हैं जहाँ यह कहा गया है कि परतत्त्व की त्रिविध शक्तियाँ हैं—बहिरगा, तटस्था एवं अंतरंगा। अंतरंगा की भी तीन विधाएँ हैं—संधिनी, संवित्, एवं ह्लादिनी। मधुर रस का स्थायी भाव मधुरा रति है—जो प्रौढ़ दशा पर पहुँच कर 'महाभाव' दशा को प्राप्त होती है। मधुरा रति के ही साधारणी, समञ्जसा एवं समर्था जैसे भेद भी माने गये हैं। समर्था रति का ही काष्ठापन्न रूप 'महाभाव' दशा है। महाभाव की भी चरमपरिणति 'अधिरूढ़ दशा' है—इसकी भी एक स्थिति 'मादन'। रूपगोस्वामी ने इसी के लिए कहा है—

सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा॥

यह 'मादन' योग है जिसके विलासस्वरूप सहस्रविध प्रकट एवं अप्रकट लीलाएँ होती रहती हैं।

इस प्रकार की मधुरा रति का जो परिपुष्ट रूप है—वही शृंगार है। यह भी दो प्रकार का है—दाम्पत्य और औपपत्य। चैतन्य संप्रदाय वाले औपपत्य शृंगार को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

(ङ) अर्वाचीन रस-विमर्श और उसकी वैचारिक भूमियाँ—

अर्वाचीन भारतीय चिंतकों में प्राचीन धारा तो प्रवाहित है ही—अन्य-विध विचारधाराएँ भी लक्षित हो रही हैं। प्राचीन दार्शनिक धाराओं में अभिनवगुप्त के मत का उल्लेख स्वच्छंदतावादी समीक्षकों और कवि आलोचकों ने तो किया ही है—नव्यशास्त्रीय चिंतकों में भी उनका समादर दिखाई पड़ता है। उदाहरणार्थ, स्वच्छंदतावादी समीक्षकों में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी,[1] कवि समीक्षकों में 'प्रसाद'[2] जी और नव्य शास्त्रीय चिंतकों में आचार्य विश्वनाथप्रसाद[3] मिश्र आदि हैं। डॉ० नगेंद्र ने हाल में जो भट्टलोल्लट का मत प्रकाशित[4] कराया है—उसमें पूरी शास्त्रीयता की छाप है। आचार्य हजारीप्रसाद[5] द्विवेदी के लालित्य-शास्त्र में आगमिक विचारों को आत्मसात् किया गया है। परन्तु दार्शनिक भूमि का एक और अछूता कोना पकड़कर डा० भगवानदास, आचार्य केशवप्रसाद मिश्र तथा चंद्रबली पांडेय ने भी एक नई वैचारिक भूमि पर रस व्याख्या प्रस्तुत की है। वैसे दृष्टांत के रूप में पण्डितराज ने योगी और समाधि का उल्लेख किया है—पर उसका पातञ्जल योगदर्शन की दृष्टि से उतना महत्त्व नहीं है।

डा० भगवानदास ने Scince of Enretion तथा 'रस-मीमांसा' शीर्षक एक लेख लिखा है—जिसमें बताया है कि 'अस्मिता' ही रस है, यह समस्त रसों में व्याप्त एक तत्त्व है। उन्होंने इसी प्रसंग में यह भी कहा है कि अबुद्धि या अनिच्छापूर्वक नहीं, बल्कि बुद्धि या इच्छापूर्वक अनुशयी चित्तवृत्ति का नाम रस है। उनके अनुसार भाव का अनुभव या आवेग का अनुभव रस नहीं है—किंतु उस अनुभव का स्मरण, प्रतिसंवेदन, आस्वादन, रसन—रस हैं (अवस्मरणं रसः)

१—'रस' पर उनकी निकट अतीत में तैयार की गई एक पाण्डुलिपि के आधार पर

२—काव्यकला तथा अन्य निबंध

३—वाङ्मय-विमर्श—का रस विवेचन

४—'आलोचना' का दूसरा अंक १९६४

५—लालित्यशास्त्र—पाण्डुलिपि

पातञ्जल की 'अस्मिता' को आगमों की 'अर्हता' से एक करके यह भी समझाया गया है कि 'अर्हता' में समष्टि निहित है—वह भूमा है और भूमा का आस्वाद ही सुख है। वही रस है।

इस विवेचन में दार्शनिक-पाण्डित्य प्रकट करने का लोभ ज्यादा हो गया है—काव्य की रसात्मक प्रकृति को समझाने का कम।

इस धारा के दूसरे आचार्य हैं पण्डित केशवप्रसाद मिश्र। इन्होंने 'मेघदूत' की भूमिका में मधुमती भूमिका की चर्चा की है। बताया है कि चित्त की इस भूमि में वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। समाधि की इस निर्वितर्क समापत्ति या पर प्रत्यक्ष की दशा में सत्त्व का अविरल प्रवाह चलने लगता है, जिससे आवरण भंग हो जाता है फिर निरावरण आनंदमय भूमा का आस्वाद आने लगता है। साधक इस भूमि पर साधना से पहुँचता है और भावक भावनायोग से—पर पहुँचते हैं दोनों इसी मधुमती भूमि पर प्रत्यक्ष की स्थिति में। रास्ते अवश्य भिन्न हैं, पर पहुँच में अंतर नहीं।

श्री चन्द्रबली पांडेय ने इनका खंडन करते हुए कहा है कि मधुमती भूमि ऐश्वर्य भूमि है, आनंद भूमि नहीं—वह भूमि तो 'विशोका' हो सकती है।

लेकिन वास्तविकता यह कि योग की विभिन्न भूमियों के चक्कर में पड़ना साहित्यिक रसास्वाद के स्वरूप के स्पष्टीकरण में निरा पानी पीटने की भाँति है।

अर्वाचीन विवेचकों की प्रमुख और नई भूमियाँ दो हैं—**मनोवैज्ञानिक और सौंदर्यशास्त्रीय।**

मनोवैज्ञानिक भूमि पर चिंतन करनेवाले विद्वानों में उल्लेखनीय हैं—तीन—पहले आचार्य शुक्ल (२) दूसरे डा० नगेंद्र एवं (३) तीसरे डा० राकेश।

आचार्य शुक्ल—

शुक्ल जी का रस दर्शन आंशिक रूप से मनोविज्ञान और आंशिक रूप से उनके लोक-दर्शन पर आधारित है। मनोविज्ञान पर आधारित होने के कारण जहाँ वे एक ओर व्यक्तिगत मनोविकारों या मनोवेगों के रूप में स्थायीभाव के विश्लेषण से रस विमर्श का आरंभ करते हैं वहीं दूसरी ओर अपने लोक-दर्शन के अनुरूप उसकी चरम परिणति व्यक्तिसत्ता का लोक-सत्ता में विलयन फलतः सत्कर्म में प्रवृत्ति मानते हैं। भक्ति को धर्म की रसात्मक अनुभूति कहना मनोविज्ञान, नहीं उनके लोक-दर्शन से अधिक

सम्मत है। वस्तुतः भरत ने जो 'भाव' की दो व्युत्पत्तियाँ दी हैं—भवन्तीति-भावयन्ति-इति वा—इसमें से 'भवन पक्ष' मनोविज्ञानियों का प्रस्थान विंदु है और 'भावन' पक्ष प्राचीन आचार्यों का। शुक्ल जी की रस संबंधी मान्यताएँ ये है—

(i) 'भाव' प्रत्यय बोध, अनुभूति और वेगवान् प्रवृत्ति के गूढ़ संश्लेष का नाम है। रसानुभूति के लिए वे विभावादि समष्टि का सद्भाव आचार्यों की भाँति आवश्यक नहीं है। वे विभाव के साधारण्य पर अधिक जोर देते हैं।

(ii) वे रसानुभूति की सीमा काव्य और नाट्य को ही नहीं मानते। उनकी दृष्टि से लोकानुभूति एवं काव्यानुभूति में कोई अंतर नहीं है—यदि अंतर है तो इतना ही कि रसानुभूति कुछ उदात्तभूमिका की होती है। इस अनुभूति के लिए दो शर्तें हैं—पहली यह कि विभाव का सामान्य रूप से ग्रहण और दूसरी यह कि स्वयं भोक्ता का मुक्त हृदय होना—राग द्वेष की लौकिक भूमिका से ऊपर उठ जाना। सत्कर्म प्रवर्तक उन्मुक्त मनोवेग दुःखात्मक कोटि का होने पर भी रसात्मक कहा जा सकता है। इनकी दृष्टि से रस सुखदुःखात्मक है। दुःखात्मक होने पर भी व्यक्तिगत लाभ हानि से असंबद्ध होने के कारण वह क्षोभकाल नहीं होता—फलतः उसे भी रस कहा जा सकता है। जहाँ शास्त्राचार्य 'चर्वणौन्मुख्य' में रस की परिणति मानते हैं—वहाँ शुक्ल जी 'कर्त्तव्यौन्मुख्य' में। शुक्ल जी रस की दो कोटियाँ मानते हैं—उत्तम एवं हीन। उत्तम कोटि वह है जहाँ आश्रय एव ग्राहक का तादात्म्य न हो और हीन वह शक्ति दशा—जहाँ ग्राहक और आश्रम का तादात्म्य न हो। शुक्लजी रसानुभूति को आत्मा की भूमिका का न मानकर उसे मनोमय कोश तक की वस्तु मानते हैं।

संक्षेप में उनकी समस्त मान्यताओं के संदर्भ में यदि उनकी रस विषयक धारणा को समझा जाय—तो कहा जा सकता है कि उनके अनुसार प्रवृत्ति एवं निवृत्ति ही प्राणी की सप्राणता का लक्षण है और उस प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का लोक मंगलोन्मुख होना—मानवता का। प्रवृत्ति और निवृत्ति मनोवेगों पर निर्भर है। इसलिए मनोवेगों का स्थान जीवन में सर्वोपरि है। बुद्धि प्रवर्तिका नहीं होती, मनोवेगों की सहायिका मात्र होती है। काव्य का लक्ष्य इसी मनोवेग को सदाचारों में प्रवृत्ति की ओर कदाचारों से निवृत्ति की ओर उन्मुख करना है। इस प्रकार आदर्श और नैतिक दृष्टि से काव्य सर्वथा मानवोचित सद्वृत्तियों के परिष्कार का साधन

है—हृदय को सकीर्णता से ऊपर उठाने का साधन है—उसे मुक्त दशा में ले जाने का साधन है। हृदय की मुक्त दशा एक अवदात स्थिति है—जो लोक मंगलोचित कर्त्तव्य में पर्यवसित होती है।
यह अवदात मनोवृत्ति ही रसात्मक मनोवृत्ति है। यह सुखात्मक के साथ दुःखात्मक भी हो सकती है—पर क्षोभकारक नहीं, क्योंकि उसका संबंध वैयक्तिक हानि से नहीं है।

इस धारा के दूसरे आचार्य हैं डॉ० नगेन्द्र। इनका मंतव्य है कि रस अनिवार्यतः आनंदमयी चेतना है, वह प्रत्यक्षानुभूति से भिन्न है—पर वह सर्वथा निराला नहीं है। उनके अनुभव के लिए जब निराला साधन नहीं—तो वह अनुभूति क्यों निराली होगी वे काव्यानुभूति को न तो ऐंद्रिय ही सर्वथा स्वीकार करते हैं और न आध्यात्मिक ही, फिर भी वे उसे ऐंद्रिय और बौद्धिक अनुभूतियों के भीतर ही रखना चाहते हैं। वे मानते है कि काव्यानुभूति है तो बहुत कुछ ऐंद्रिय अनुभूति ही, पर साधारण नहीं किन्तु भावित (Contempleted) अनुभूति है। इस अनुभूति में उनके अनुसार ऐंद्रिय और बौद्धिक अनुभूति के तत्त्वों का लवण नीर संयोग है।

अनुभूति को वे एक संवेदन मानते हैं और फलतः काव्यानुभूति को भी संवेदन ही कहते हैं, पर उसे स्थूल और प्रत्यक्ष न मान कर सूक्ष्म और बिंब रूप का समझते हैं। वे ऐंद्रिय के अतिरिक्त स्मरण एवं बौद्धिक संवेदन के मध्य एक संवेदन और स्वीकार करते हैं—उसे वे भावन का अनुभव कहते हैं। जब इन संवेदनों में सामञ्जस्य या अन्विति हो जाती है—तो अनुभूति मधुर कही जाती है—और सामञ्जस्य पैदा करने का काम 'भावन' व्यापार करता है। यही मधुर अनुभूति रसात्मक अनुभूति है। संक्षेप में डॉ० नगेंद्र का यही मत है।

डॉ० राकेश काव्यानुभूति और लोकानुभूति में कोई अन्तर नही मानते वे काव्य में साधारणीकरण जैसे सिद्धांत को सर्वथा अयुक्तिसंगत सिद्धांत मानते हैं और दार्शनिक उपपत्तियों को अनुभव से मेल न खानेवाला निरर्थक ववंडर समझते हैं। वे काव्यास्वाद को Poetic Relish कहते हैं और उसका मूलाधार रुचि (Interest) को मानते हैं। उन्होंने Poetic Relish को छः भागो में विभक्त किया है—(१ अनुकूल मनोवृत्ति (२ प्रतिकूल मनोवृत्ति (३) स्मृति (४) जिज्ञासा या कौतूहल (५) विचार (६) आलोचनात्मक।

अंतिम वैचारिक पृष्ठभूमि है—सौंदर्यशास्त्रीय या यौक्तिक। इस भूमि

का भी अनावरण आचार्य शुक्ल ने कर दिया था। उन्होंने बताया है कि सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति एक ही चीज है—और उभयत्र व्यक्ति की अपनी पृथक् सत्ता का विसर्जन होता है। इस धारा का एक दूसरे आचार्य हैं—नंददुलारे वाजपेयी। सौंदर्यान्वेषी स्वच्छंदतावादी दृष्टि निर्मुक्त यौक्तिक सरणि को अपनाकर उन्होंने काव्यास्वाद का विश्लेषण करना चाहा है और परम्परागत व्याख्याओं को नया मोड़ भी दिया है। रस की परम्परागत चारों व्याख्याओं को प्रस्तुत करते हुए एक जगह[1] कहा है कि "रस सबंधी ऊपर के चारों निर्देशों को आधुनिक मनोवैज्ञानिक या सौंदर्यशास्त्र संबंधी दृश्य से ही देखने की आवश्यकता है।"

उन्होंने अन्यत्र 'साहित्य और सामाजिक प्रगति' शीर्षक लेख में कविता का स्वरूप बताते हुए कहा है—"काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौंदर्यमय चित्रण है, जो मनुष्यमात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौंदर्यसंवेदन करता है। इसी सौंदर्यसवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' कहते हैं"। अचार्य वाजपेयी के इस उद्धरण में उनके स्वछंदतावादी आलोचक व्यक्तित्व के अनुरूप 'रस' संबंधी धारणा व्यक्त हुई है। इस उद्धरण मे उन्होंने स्पष्ट किया है कि प्रतिभावान कवि के अंतस् में यदि प्रकृत मानव अनुभूतियों का उद्वेल सागर है और उसकी कल्पना सक्रिय है—तो वाणी के माध्यम से जो चित्रण वह प्रस्तुत करेगा—वह नितांत आवर्जक होने के कारण सुंदर या सौंदर्यमय होगा। यह 'सौंदर्य' ही काव्य का वह आत्मभूततत्त्व है—जिसके अभाव में वाणी को काव्य संज्ञा नहीं दी जा सकती। अभिनवगुप्त ने भी एक प्रसंग विशेष में कहा है कि चारुत्व ही काव्य की आत्मा है। इस प्रकार यदि कवि की काव्यसृष्टि के मूल में अनुभूतियाँ हैं—तो ग्राहक में भी कल्पनोपस्थापित माध्यम अनुरूप भावोच्छ्वास एवं सौंदर्य संवेदन पैदा करेगा ही। ध्यान देने की बात है कि पण्डितजी ने इस विवेचन में रूढ़ पदावलियों का प्रयोग नहीं किया है—इससे उनका निर्मुक्त चिंतन और उपस्थापना भी लक्षित है।

इस प्रकार उनकी सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि तो उन्मीलित हुई ही है—परम्परागत रससूत्र की चारों व्याख्याएँ भी उनकी अपनी यौक्तिक भूमिका पर नई दीप्ति से मण्डित हुई हैं। उन्होंने माना है कि यह लोल्लट की व्याख्या का

१—आधुनिक साहित्य—"ध्वनि और रस"—पृ० ४१६

महत्त्व कविसृष्टि की प्रक्रिया की दृष्टि से है—जहाँ कवि कल्पना में आनीत नायक को रसमय होना आवश्यक है। शकुक की व्याख्या का महत्त्व कवि एवं भावक के बीच नट के माध्यस्थ कौशल की दृष्टि से है। भट्टनायक की 'भावना' भावक एवं काव्य की सामर्थ्य का लेखा जोखा प्रस्तुत कर एक कदम और आगे बढ़ती है तथा अभिनव की व्यंजना काव्य की ध्वन्यात्मकता में ही 'रस' निष्पत्ति की क्षमता दिखाकर एक कदम और आगे प्रयाण करती है।

उन्होंने साधारणीकरण के विषय में उसे असाहित्यिक दलील कहा है जहाँ आचार्यों ने श्रद्धेय बुद्धि को ग्राहक में रसग्रहण के प्रति प्रतिबंधक बताया है। इन सब चिंतनों में उनका स्वच्छंदतावादी निर्मुक्त चिंतन धारा व्यक्त हुई है।

साधारणीकरण: शास्त्रीय भूमि और शुक्लोत्तर कतिपय आचार्य

सामाजिक-गत रसनिष्पत्ति की बात स्वीकार करते हुए साधारणीकरण की समस्या या आवश्यकता तब उठ खड़ी होती है जब विवेचक यह देखता है कि काव्य अथवा अभिनय द्वारा अभिधा अथवा चक्षुरिन्द्रिय से प्रथम-प्रथम सामाजिक के बुद्धिपटल या दृष्टिपटल के समक्ष उपस्थित पदार्थमात्र किसी देश-विशेष, कालविशेष और व्यक्तिविशेष से संबद्ध हैं—अतः असाधरण हैं—उनका सबसे नहीं, बल्कि किसी खास व्यक्ति से लगाव है, तो इस स्थिति में किसी अन्य की प्रतीत होती हुई मंचस्थ प्रेयसी क्या 'सभ्य' की वासना को आंदोलित कर सकती है? उसके रति का आलम्बन बन सकती है? क्या यह संभव है? दूसरी ओर अनुभव यह कहता है कि 'सभ्य' या सामाजिक को रसानुभूति होती है, और उसी सामग्री से। एक ओर तर्क असंभव की स्थिति पैदा करता है और दूसरी ओर अनुभव संभव। अनुभव और तर्क की इस विसंगति को दूर करने के लिए ही विवेचकों ने अनुभवानुसारी साधारणीकरण की युक्ति सोची। तर्क-मूलक असंभव का मूल बीज सामग्री की असाधारणता है—व्यक्ति विशेष से उसके लगाव का अनुभव है। अतः, यदि इस असाधारण्य के विगलन का कोई मार्ग निकल आवे—असाधारण साधारण हो जाय—तो अनुभूति और तर्क की विसंगति दूर हो जाय। पर इस 'साधारण' का यह अर्थ नहीं, कि मंचस्थ प्रेयसी 'सामान्या' की भाँति प्रतीत होने लगे अन्यथा पुनः 'सभ्य' की रति उसे अपना आलम्बन बनाने में अनौचित्यमूलक हिचकन का अनुभव करेगी और अनुभव की असंगति फिर ज्यों की त्यों होगी। इसलिए 'साधारणीकरण' का शाब्दिक अर्थ अवश्य असाधारण को साधारण करना है, पर अनुभूति के अनुरोध से उस सामग्री का जहाँ

एक ओर असाधारण्य हटाया गया, वहाँ दूसरी ओर साधारण्य भी हटाना होगा—जहाँ उससे व्यक्ति विशेष का लगाव हटाया गया वहीं सर्वसामान्य के लगाव को भी हटाना होगा—क्योंकि दोनो एक ही तरह की अड़चन डालने वाली चीजें हैं। इसलिए शब्दतः 'साधारणीकरण' का चाहे जो अर्थ हो, पर अर्थतः 'साधारणीकरण' का भट्टनायक के मत से अर्थ है—वह काव्यव्यापार जिसके द्वारा पदार्थ इस रूप में उपस्थित किए जायें, जो सभ्यों की वासना को रसानुरूप उभाड़ कर आस्वाद करा सके [आलम्बन बन सके, उसे रसानुभूति पैदा करा सके] भट्टनायक के मत से भावना नामक शब्दात्मक काव्य का व्यापार पदार्थों का तथाविध साधारणीकृत रूप में उपस्थापन करता है।

यों इस व्यापार के आद्य प्रवर्तक के रूप में सामान्यतः भट्टनायक की ही कीर्ति गाई जाती है परन्तु 'एभ्यश्च सामान्यगुणायोगेन रसा निष्पंद्यन्ते'—के द्वारा अब (मेरे विचार से) भरत को भी आद्यप्रवर्तक का यश दिया जाय—तो कोई अन्याय न होगा। यों उस 'सामान्यगुण' का स्पष्टीकरण इन्होंने नहीं किया। ठीक है, तो भट्टनायक ही ने क्या किया। उन्होंने ही विध्यात्मकरूप से 'साधारण्य' का अर्थ क्या बताया ? उनकी भी व्याख्या का ढग 'नेति नेति' का ही है। अर्थात् साधारणीकृत पदार्थ का न तो व्यक्ति विशेष संबद्धरूप में और न सर्वसामान्य सबद्धरूप में ही प्रतीति युक्तियुक्त और उपयोगी है—फिर किस रूप में उपयोगी है—यह उन्होंने ही कहाँ कहा ?

हाँ, अभिनवगुप्त ने बात थोड़ी और साफ की—प्रतीति का थोड़ा और विशद विवेचन किया। विवेचन करते समय जहाँ एक ओर उन्होंने 'भावना' को 'व्यञ्जना' में सिमेटा वहाँ दूसरी ओर यह कहा साधारणीकृत पदार्थ की प्रतीति लौकिक प्रतीति से इस माने में भिन्न है—कि साधारणीकृत पदार्थ का न तो नियमतः अपने या अपने मित्र से, न शत्रु से, और न तटस्थ से ही लगाव मालूम होता है और न विलगाव ही युक्तियुक्त ठहरता है, जब कि लौकिक पदार्थों का किसी से नियमतः लगाव या बिलगाव जान ही पड़ता है। काव्यीय वस्तु का नियमतः अपने से लगाव शृंगार के प्रसंग में लज्जा और संकोच की वृत्ति पैदा करेगा, नियमतः विलगाव होने से वस्तु का रसानुभूति में उपयोग न हो सकेगा। नियमतः शत्रु से लगाव कहीं मंचस्थ नायिका का हुआ—तो ईर्ष्या, द्वेष और नियमतः विलगाव प्रतीत ही हो तो उससे क्या ? यही स्थिति तटस्थ व्यक्ति के लगाव और विलगाव में होगी ? और ऐसी वस्तु की क्या संभावना,

जिसका किसी से लगाव ही न हो—। निष्कर्ष यह कि अभिनवगुप्त ने भी विवेचन किया, पर नेति-नेति की ही व्याख्या रही, इन्होंने भी कोई स्पष्ट भावात्मक पक्ष सामने नहीं रखा।

काव्यप्रकाश के प्रख्यात टीकाकार म० म० गोविद ठक्कुर ने अवश्य ऐसा प्रयास किया है जिससे प्रतीति का कुछ भावात्मक रूप स्पष्ट होता है। उनका ध्यान वाग्देवतावतार मम्मट के "ममैव न ममैव" के 'एव' पर केन्द्रित हुआ और कहा कि 'मम' 'न मम' के स्थान 'ममैव न ममैव' मे लगाव और बिलगाव करे नियमतः स्वीकार तथा परिहार का जो निषेध है—उसका कुछ रहस्य अवश्य है। मंचस्थ पदार्थ के 'मेरा है' और 'मेरा ही है' इन दोनों उक्तियों नें अंतर है। प्रकाशकार 'मेरा है'—इस प्रतीति का निषेध नहीं कहते 'मेरा ही है'—इस प्रतीति का निषेध करते है। अर्थात् सामाजिक काव्यीय सामग्री से नियमतः स्वकीय लगाव या विलगाव का निषेध नहीं करता। नियमतः स्वकीय लगाव का अर्थ हुआ—कि काव्यीय सामग्री सामाजिक की ही है—दूसरे की नहीं। नियमतः विलगाव का अर्थ हुआ कि काव्य सामग्री से सामाजिक का कोई लगाव है ही नही। स्पष्ट है कि सामाजिक न तो काव्यीय सामग्री को यही समझता है कि वह उसी की है—इससे उसका कोई सरोकार नहीं और न तो यही संभव है कि वह यह सोचे कि इन वस्तुओं से उसका (हृदय का) कोई लगाव है ही नहीं। यदि ऐसा समझ ले—तो वहाँ से उठ जाय। कोई सभ्य किसी प्रेयसी से अपना ही लगाव समझे तो दूसरों को देखने न देगा और इसके विपरीत अपना कोई लगाव न देखे—तो वहाँ ठहरना या उसे अपनी वासना का आलम्बन बनाना सर्वथा उचित न समझेगा। प्रदीपकार ने सोचा कि प्रकाशकार 'मेरा ही है' 'मेरी नहीं ही है'—इस प्रकार की 'ही' गर्भित प्रतीति का निषेध करते हैं, कुछ 'मेरी है' 'मेरी नहीं है'—इस सामान्यतः प्रतीति 'ही' रहित प्रतीति की नहीं। साहित्य दर्पणकार ने इस एवकार गर्भित उक्ति का महत्व नहीं समझा—'ममेति न ममेति च' कह दिया। गोविंद ठक्कुर का इस संबंध में वक्तव्य यों है:—'साधारण्येन प्रततीतिश्च न सर्व संबंधितया प्रतीतिः, किंतु संबंधिविशेषीयत्वेनाप्रतीतौ प्रतीतिः, यद्वामुकस्यैवैते—इत्यवधारणं विनाऽमुकस्य इत्येवं प्रतीतिः" अर्थात्—किसी वस्तु का साधारणीकृत रूप में प्रतीति का अर्थ यह नहीं है कि उससे सर्वसाधारण का लगाव प्रतीत हो, बल्कि इतना ही कि किसी व्यक्ति विशेष से उसका लगाव न प्रतीत हो। अथवा व्यक्ति विशेष से नियमतः संबद्ध न होकर

सामान्यतः संबद्ध रूप में प्रतीत हो—तो भी कोई क्षति नहीं। नियमतः संबद्ध और सामान्यतः संबद्ध—में अंतर यह हुआ कि एक जगह एक से संबंध और अन्य से असंबंध की प्रतीति होती है और सामान्यतः प्रतीति में एक का संबंध तो प्रतीत होता है—पर दूसरे सामाजिक से लगाव का निषेध नहीं किया जाता। यह एक ऐसा सुरक्षित मार्ग है कि किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

प्रदीपकार के भी एक टीकाकार हैं—वैद्यनाथ पायगुण्डे, जिन्होंने अपनी 'प्रभा' नामक टीका में प्रदीपकार के उक्त दोनों आशयों को स्पष्ट किया है—प्रदीपकार ने साधारणीकृत पदार्थ की प्रतीति के दो रूप बताये हैं—

(१) साधारणीकृत पदार्थ व्यक्ति विशेष से संबद्ध न प्रतीत होकर संबंध हीन रूप में सामान्यतः कान्त या कामिनी आदि के रूप में प्रतीत होते हैं। पुनः इस पक्ष में भी अरुचि रखते हुए दूसरा पक्ष उपस्थित करते हैं—

(२) नियमतः व्यक्ति विशेष से सबद्ध रूप में प्रतीति की बात न कही जाकर यदि सामान्यतः व्यक्ति विशेष से संबद्ध रूप में कही जाय अर्थात् व्यक्ति विशेष से लगाव की प्रतीति के बावजूद सामाजिक से विलगाव की प्रतीति न कही जाय—तो भी कोई क्षति नहीं। साधारणीकृत रूप में प्रतीत पदार्थ का रूप यह भी हो सकता है।

प्रभाकार वैद्यनाथ ने पहले पक्ष की अपेक्षा दूसरे पक्ष को कहीं अच्छा समझा है और अरुचिका निमित्त यह बताया है कि काव्य में अभिधा द्वारा सम्पन्न होने वाले प्राथमिक शाब्दबोध में संबंधांश विद्यमान रहता है। यद्यपि व्यंजना द्वारा परवर्ती बोध में संबंध—विगलन हो सकता है, पर जब पहले ही बोध से काम चल जाता है—तो परवर्ती—बोध तक जाने की आवश्यकता क्या है? इसलिए दूसरा पक्ष महत्त्वपूर्ण है। परवर्ती बोध तक जाने का निरर्थक विलम्ब ही क्यों स्वीकार किया जाय?

प्रदीपकार एवं प्रभाकार अपने इस विवेचन से साधारणीकृत प्रतीति का जो विध्यात्मक रूप सामने रखते है—उससे मम्मट की वाग्धेनु का स्वारस्य-दुग्ध चाहे जो आया हो, पर अभिनव का एक सिद्धान्त भंग हो जाता है। वह यों कि वैयंजनिक बोध से पूर्व ही प्रतीत दशा रसानुभूति के अनुरूप हो जाती है—अर्थात् पदार्थ का साधारणीकृत रूप व्यञ्जना के बिना ही आ गया और अभिनव वह काम भावना को व्यञ्जना में समाहित कर व्यञ्जना द्वारा स्वीकार करते हैं। स्वयं अभिनव ने अभिनव भारती में

स्पष्ट कहा है—वाक्यार्थ प्रतीति के पश्चात् मानस-प्रतीति होती है, जिसमें प्रत्येक पदार्थ पूर्वप्रतीत कालादि का विभाग नहीं रहता। दर्पणकार का विवेचन अभिनवगुप्त के अनुरूप पड़ जायगा। पण्डितराज जगन्नाथ ने साधारणीकृत पदार्थ की प्रतीति का स्वरूप बताते हुए कहा है कि रसोपयोगी रूप में पदार्थों के साधारणीकृत रूप से उपस्थित होने का मतलब है—विरोधी धर्मों से रहित और अनुरोधी धर्मों के सहित पदार्थ की प्रतीति। दूसरी बात जो पण्डितराज ने इस प्रसंग में बताई है वह यह है कि साधारणीकरण की भी एक सीमा होती है—वह निःसीम नहीं है। कभी-कभी कुछ उन्मत्त कारयित्री प्रतिभा में इसका अतिक्रमण कर जाती हैं। यह बात दूसरी है कि वह अव्युत्पत्ति-कृत इस दोष को अपनी 'शक्ति' से आवृत कर लेता है। कालिदास ने शकर पार्वती के शृंगार को प्राकृत शृंगार की भाँति जो उद्दाम रूप दे दिया है—वह सर्वथा अनुचित है। जयदेव के विषय में भी पण्डितराज की ऐसी ही धारणा है। देवताओं के, जिनके हृदय में उनके प्रति श्रद्धा है, वे माता-पिता के तुल्य नहीं, बढ़कर भी मान सकते हैं। कम से कम ऐसे भारतीयों को कालिदास एवं जयदेव की तथाविध कविता में से रसास्वाद की स्थिति तक पहुँचने में साधारणीकरण नहीं ही होगा। हाँ, यह कहा जा सकता है कि कवि भी तो साधारणीकरण के स्तर को पार करता हुआ रसानुभूतिपूर्वक ही तो उसे वाग्बद्ध कर सकता है और कवि कर सकता है तो फिर सहृदय क्यों नहीं कर लेगा? निवेदन यह है कि कवि के तथाविध व्यापार में विवेचकों ने मर्यादा की शृंखला का भंजन देखा है। साधारणीकरण का शास्त्रीय दृष्टि से विचार करते हुए यह एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि यह साधारणीकरण होता किनका-किनका है। साधारणीकरण विभाव, अनुभाव, संचारी, स्थायी के साथ ग्राहक की परिमित प्रमातृता का भी होता है। अर्थात् ग्राहक को सभी पदार्थ नियमतः संबंधी विशेष के न होकर संबंध निर्मुक्त प्रतीत होते हैं और रसदशा में वह स्वयं अपने पारमित्य को भूल जाता है।

निष्कर्ष यह कि साधारणीकरण का शाब्दिक अर्थ है—असाधारण को साधारण बनाना—विशेष को सामान्य बनाना, देश, काल एवं व्यक्ति विशेष के संबंध से वस्तु का निर्मुक्त रूप में प्रतीत होना। साथ ही इस 'सामान्य' का अर्थ सर्वसाधारण रूप में भी प्रतीत होना नहीं है, बल्कि इस रूप में प्रतीत होना है कि जिससे सामाजिक या सभ्य की प्रसुप्त वासना परिष्कृत रूप से आंदोलित हो सके। एतदर्थ यही आवश्यक नहीं

है उनमें रस-विरोधी धर्मों का ज्ञान न रहे, साथ ही यह भी आवश्यक है रसानुरोधी धर्मों की स्थिति रहे। व्यावहारिक स्तर पर किसी भी पदार्थ की प्रतीति जिन निर्धारित रूपों में स्वीकारात्मक या परिहारात्मक ढंग से होती है—उनमें से किसी भी प्रकार की यह प्रतीति नहीं है, फिर भी प्रतीति है। इस प्रकार ये रसोपयोगी तत्त्व समस्त प्रकार के रसविघातक सकोचक विशेषणों या संबंधों से रहित होकर भासित होते हैं। रसोपयोगी पदार्थों को इस रूप में लाने वाला साधन ही साधारणीकरण है। अभिनव की धारणा यह भी है कि काव्य गुणालंकारानुगृहीत होकर ही भावक हो सकता है। यह साधारणीकरण विभावादि काव्यीय सामग्री के साथ स्थायी तथा ग्राहक का भी होता है।

दूसरी व्याख्या प्रदीप एवं प्रभाकार की है—जहाँ पदार्थ को रसोपयोगी होने के लिए महज इस रूप में ज्ञात होना आवश्यक है कि नियमतः वह अपना या पराया न प्रतीत हो, नियम निर्मुक्त रूप से यदि परकीय भासित भी हो—तो उससे अपने अलगाव की बात तो नहीं न आई! फिर इस पक्ष में पहले पक्ष की भाँति रसानुभूति में विलम्ब नहीं है। रस की प्रतीति में उतनी ही उत्कृष्टता होती है जितनी शीघ्र वह प्रतीत हो।

हिंदी में शुद्ध शास्त्रीय भूमिका पर विचार करने वालों में पं० केशव-प्रसाद मिश्र, पं० चंद्रबली पाण्डेय, आचार्य वाजपेयी, डा० नगेंद्र, बाबू गुलाबराय आदि हैं। पण्डित केशवप्रसाद मिश्र ने मेघदूत के अनूदित रूप की भूमिका में रस सम्बंधी विचार पातञ्जल दर्शन की भूमिका पर किया है। वहाँ रस-भूमिका को मधुमती भूमिका कहा गया है। उसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है—"मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है, जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दों में वस्तु, वस्तु का संबंध और वस्तु के संबंधी—इन तीनों के भेद का अनुभव करना ही वितर्क है। जैसे, यह मेरा पुत्र है"—इस वाक्य से पुत्र, पुत्र के साथ पिता का जन्य जनकभाव संबंध और जनक होने के नाते संबंधी पिता—इन तीनों की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभव को अपर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था में संबंध और संबंधी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तु मात्र का आभास मिलता रहता है, उसे परप्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। जैसे, पुत्र का केवल पुत्र रूप में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलंबन हो सकता है। चित्त की यह

समापत्ति सात्त्विकवृत्ति की प्रधानता का परिणाम है × × × जिस समय हमको वस्तुओं का परप्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय अथवा अभिनंदनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलंबन बनकर उपस्थित होती हैं × × अभिनवगुप्तपादाचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है और कुछ नहीं"।

इस वक्तव्य के संबंध में अनेक विचारणीय बातें उठ खड़ी होती हैं। पहली यह कि सम्पूर्ण वक्तव्य कहाँ तक शास्त्रसंगत है? दूसरा यह कि मधुमती भूमिका के चित्त में पदार्थों का जैसा भान होता है क्या अभिनवगुप्त द्वारा विवेचित साधारणीकृत पदार्थों की प्रतीति की प्रकृति वही है? तीसरा यह कि क्या दोनों एक ही बात कहते है? मधुमती भूमि और काव्यव्यापार जनित भूमि एक ही हैं या भिन्न?

जहाँ तक उपर्युक्त वक्तव्य के कतिपय अंश का पातञ्जल दर्शन के आलोक में सही होने की बात है—यह कहा जा सकता है कि 'मिश्र जी ने वितर्क एवं निर्वितर्क अथवा पर प्रत्यक्ष एवं अपर प्रत्यक्ष की जो बात कही है—वह पातञ्जल दर्शन—सम्मत नहीं है। मिश्र जी ने जहाँ शब्द, अर्थ एवं ज्ञान की पृथक् या असंकीर्णप्रतीति को वितर्क कहा है, वहाँ पातञ्जल उन्हीं तीनों की अपृथक् या संकीर्ण प्रतीति को वितर्क कहा है। जहाँ मिश्र जी पार्थक्यानुभव को अपर प्रत्यक्ष कहते हैं, वहाँ पातञ्जल उसे 'पर-प्रत्यक्ष' कहता है। इस प्रकार वितर्क, निर्वितर्क, अपर प्रत्यक्ष एवं परप्रत्यक्ष का जो रूप मिश्र जी ने उपस्थित किया है—वह शास्त्र विरुद्ध है। मिश्र जी ने शब्द, अर्थ एवं ज्ञान की असंकीर्ण प्रतीति को—पार्थक्यानुभव को—वितर्क कहा है, और उसे अपर-प्रत्यक्ष का विषय बताया है, जबकि शास्त्र इसके विपरीत यह कहता है कि शब्द, अर्थ एवं ज्ञान की संकीर्ण प्रतीति—एकमेव प्रतीति—वितर्क है—अपर प्रत्यक्ष है। कारण यह है कि शब्द, अर्थ एवं ज्ञान तीन पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं—सो यदि इनकी यथातथ प्रतीति हो—तभी तो उस ज्ञान को वास्तविक माना जायगा और सही यह है कि वे सब पृथक्-पृथक् हैं। इनकी अयथातथ प्रतीति एकाकार प्रतीति है—संकीर्ण प्रतीति है—अपृथक् प्रतीति है—वही वितर्क या विकल्प है। वस्तुतः मिश्र जी में यह त्रुटि उलटा सोचने के कारण हुई है। पहले उन्होंने अपने सामने साधारणीकृत पदार्थ की प्रतीति को रखा और फिर उसी के प्रतिरूप 'वितर्क' को बैठा दिया। साधारणीकृत पदार्थ निस्संबंध प्रतीत होता है—इसके समानान्तर अर्थमात्र का अपृथक् निर्भास होने वाले पर प्रत्यक्ष की स्थिति बिठाई। अब इससे उलटा यही हो ही सकता

है—अपर प्रत्यक्ष एवं वितर्क की—कि वहाँ सब की पृथक् प्रतीति हो। सब की प्रतीति कहना तो कुछ दूर तक ठीक होता, पर 'पृथक्' को जोड़कर सब उलट दिया। सारांश यह कि यह वक्तव्य शास्त्र विरुद्ध जाता है। दूसरी बात यह कि 'शब्द, ज्ञान एवं अर्थ' की पृथक् प्रतीति का अभिप्राय जो दूसरे शब्दों में मिश्र जी ने 'दो संबधियों और उनके पारस्परिक संबंध का ज्ञान बताया—वह कैसे? शब्द एवं अर्थ—अवश्य जन्य (पुत्र) एवं जनक की भाँति परस्पर संबंधी हैं—पर प्रत्यक्ष में साधारणीकृत स्थिति की भाँति-जन्यजनकभाव संबंध शून्य—व्यक्ति विशेष से संबद्ध न होकर—पुत्रमात्र की—अर्थ का भी शब्द संबंध—निरपेक्ष प्रतीति होती है—पर विचारे ज्ञान का क्या होगा? दूसरे शब्दों में मिश्र जी ने उसका उपयोग क्या किया? तीसरी बात यह कि जगह-जगह जो उन्होंने सत्त्वोद्रेकरूप चित्त की एकतानता को साधारणीकरण कहा है—वह भी संगत नहीं। पाण्डेयजी ने ठीक ही कहा है कि चित्त की एकतानता एक स्थिर स्थिति है और साधारणीकरण एक व्यापार है। चौथी बात यह कि मधुमती भूमिका यहाँ दृष्टान्तरूप में गृहीत है या वास्तव रूप में। यदि दृष्टान्तरूप गृहीत है और दृष्टान्त का मूलबीज चित्त-गत—सात्त्विकता का उद्रेक का साम्य है—तो यह कोई नई बात नहीं है और यदि वास्तव है—तभी नई बात होगी—तो यह कहने में कोई हिचक नहीं कि वह एक विशिष्ट प्रकार की यौगिक साधनाजनित चित्तभूमि है—उससे और काव्य-व्यापार जनित सहृदय की रसोन्मुख चित्तभूमि से कभी एकता नहीं हो सकती। पण्डितराज ने भी समाधि का दृष्टान्त दिया है—पर दोनो को एक ही नहीं कहा है। वाचस्पति मिश्र ने 'मधुमतीभूमि'—जो संप्रज्ञात समाधि-युक्त योगी के चित्त की एक भूमि है—के संबंध में बताया है कि मधुभूमिक योगी की चित्त-भूमि मधुमती कही गई है। ऋतम्भरा प्रज्ञा ही मधु है—और उस प्रज्ञा से संपन्नचित्त 'मधुमती' है। ऋतम्भराप्रज्ञा के उदय होने पर प्रकाश स्वभाव बुद्धिसत्त्व का स्वच्छ प्रवाह चलने लगता है और उस समय सम्पूर्ण अर्थजात का एक साथ सत्य रूप में प्रकाश हो जाता है। भला इस मधुमती भूमिका से जहाँ समस्त वस्तु जात का प्रत्यक्ष होता रहता है—उस साधारणीकरण व्यापार जो रसोपयोगी पदार्थमात्र को ग्राहक की वासना को परिष्कृतरूप से आंदोलित करने योग्य बनता है—क्या संबंध है। दूसरी बात यह भी है कि रसोपयोगी प्रतीत पदार्थ को सादृश्य, यथार्थ, मिथ्या एवं संशयास्पद ज्ञानों से एक पृथक् कोटि की ही वस्तु कहा गया है। स्वयं अभिनवगुप्त ने इस प्रतीति को यथार्थ से भिन्न प्रकृति का कहा है। रसोपयोगी चित्त भूमि में भासित पदार्थ और मधुमती भूमि में प्रतीत पदार्थों की प्रकृति सर्वथा भिन्न है।

चन्द्रबली पाण्डेय जी 'साहित्यसंदीपनी' नामक अपने कृति-विशेष में संगृहीत अपने दो लेखों में 'साधारणीकरण' का तथा 'रस-भूमि' का विचार किया है। पहला प० केशवजी का खण्डन है। हाँ, प्रसंगतः उन्होंने स्थल-स्थल पर यह अवश्य कहा है कि साधारणीकरण असाधारण को साधारण करना है। असाधारणरूप में रहने से पदार्थ ग्राहक को आकृष्ट करते हैं और साधारणरूप में रस दशा तक पहुँचाते हैं। पाण्डेय जी की इस उक्ति से शास्त्रीय संगति का कोई विरोध नहीं है। पर वे भी जहाँ रस-भूमि की बात को मधुमती एवं मधुप्रतीका से भी आगे 'विशोका' तक ले जाते हैं—उस विषय में बहुत दूर न जाकर मैं केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि रस की अलोकोत्तरता सिद्ध करते हुए मम्मट या अभिनवगुप्त ने मित एवं अपरिमित योगियों की अनुभूति से पृथक् कहा है। दूसरे समाधिज आनंद में और काव्यीय आनंद में यह भी अंतर है कि काव्यीय आनंद जिन सामग्रियों के प्रपानकरसन्यायेन एकीकृतरूप की अनुभूति है—वे सारी सामग्री समाधि आनंद में कभी संभव नहीं। इसलिए पाण्डेय जी का यह कहना—यदि योग की किसी भूमि को रस भूमि, बिना किसी खटके के, कहा जा सकता है, तो वह 'विशोका' भूमि ही कहा जा सकता है—थोड़ा चिंत्य है।

आचार्य वाजपेयी जी ने इस विषय में जो कुछ कहा है—उसका सारांश यों है—(१) आचार्य भट्टनायक का साधारणीकरण केवल काव्य की सामार्थ्य का लेखा न लगाकर दर्शक की सामर्थ्य का भी व्याख्यान करता है। (२) साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य ही है। (३) साधारणीकरण कवि कल्पित समस्त व्यापार का होता है। (४) चौथी बात है संबद्ध विवेचन मे आचार्यों की यह असाहित्यिक दलील कि पूज्य बुद्धि साधारणीकरण में प्रतिबंधक है। अंतिम अंश के संबंध में ऊपर कहा जा चुका है। पहली बात शास्त्रीय सिद्धांत के विरुद्ध नहीं जाती। कारण यह है कि भट्टनायक का साधारणीकरण-सिद्धांत 'भावना' शक्ति के बल पर निर्भर है। यद्यपि भट्टनायक ने काव्य को शब्दात्मक माना है और शब्दात्मक काव्य के त्रिविध व्यापारों में से एक 'भावना' है, और इस प्रकार वह केवल काव्य की ही सामर्थ्य जान पड़ती है, फिर भी यदि ग्राहक की सामर्थ्य की उसे अपेक्षा न होती—वह ग्राहक-सामर्थ्य-निरपेक्ष और स्वयं सर्व-समर्थ होती, तो काव्य अकेली अपनी सामर्थ्य से सबको एक सा प्रभावित करता, जब कि ऐसा हता नहीं है, ग्राहक की सामर्थ्य से प्रभाव-गत तारतम्य स्पष्ट लक्षित होता है। इसलिए

मानना पड़ेगा कि पण्डित जी की दृष्टि अक्षरानुसारिणी नहीं, तथ्यानुसारिणी है। दूसरी दृष्टि से सोचें तो यह भी कह सकते हैं कि अभिनवगुप्त ने जब भावना को व्यञ्जना में गतार्थ कर लिया और व्यञ्जना का स्वरूप बताते हुए उसे शब्द-शक्ति के रूप में भी सकारते हुए उसे क्रियाशील होने में ग्राहक की प्रतिभा को भी आवश्यक मानते हैं—तब ठीक ही हुआ कि साधारणीकरण का सिद्धांत केवल काव्य की सामर्थ्य की लेखा न लगाकर दर्शक की सामर्थ्य का भी व्याख्यान करता है। दूसरी बात 'कविर्हि सामाजिक तुल्य एव'—वाले शास्त्रीय सिद्धांत पर प्रतिष्ठित है। मालूम पडता है कि साधारणीकरण के कार्य या परिणाम को ही शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा के बल से साधारणीकरण कह दिया है।

बाबू श्यामसुंदरदास के साहित्यालोचन में ही कह दिया गया—"साधारणीकरण तो कवि अथवा भावक की चित्तवृत्ति से संबंध रखता है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सब कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।" इस मत को अभिनवगुप्त का कहकर मान्य ठहराया गया। डा० नगेंद्र ने 'आश्रय' एवं 'नायक' से ग्राहक के तादात्म्य को साधारणीकरण मानकर अनेक असंगतियाँ प्रदर्शित करते हुए आलम्बन पर आये और अंततः आलंबन को भी कवि की अनुभूति का सवेद्य रूप बताते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण। साधारणीकरण का कारण है भाषा का भावमय प्रयोग। साथ ही डा० साहब इसे ही अभिनवगुप्त का प्रतिपाद्य बताते हैं। डा० नगेंद्र की व्याख्या करते हुए डा० रामदत्त भारद्वाज ने कहा है—"साधारणीकरण शब्द के तीन अर्थ होते हैं—मनोविज्ञान परक—प्रत्ययीकरण, न्याय-परक सामान्यीकरण तथा धर्मशास्त्रपरक साधारणीकरण। काव्य जगत् के लिए मैं उसका तृतीय अर्थ ही सम्मत समझता हूँ। इसका अर्थ है संयुक्त उपभोग। साधारण धन को अंग्रेजी में 'ज्वाइण्ट प्रापर्टी' कहा जा सकता है। मेरी विनीत सम्मति में काव्य में साधारणीकरण का प्रयोग भी इसी अर्थ में संगत है। इस प्रकार काव्य के साधारणीकरण का अर्थ है कवि, व्यक्ति के द्वारा अपनी अनुभूति को सर्वसाधारण के लिए उपस्थित कर देता है।" फिर लिखा है—"डा० नगेंद्र का सुझाव ठीक है कि साधारणीकरण 'विभावादि' का नहीं होता, वह तो कवि की अनुभूति का होता है। कवि की अनुभूति में विभावादि का समावेश होता ही है अतएव प्रत्न आचार्य तथ्य के निकट आते-आते रह गए [११६ भा० ४७ अं० १ सा० स० प०]।"

बाबू गुलाबराय का मुरारेस्तृतीयः पंथाः है। उनका कहना है कि साधारणी-कृत व्यक्ति का नहीं, उसके संबंध का होता है "और फिर आगे चलकर कवि, पाठक तथा भाव की स्व पर भावनिर्मुक्ति रूप साधारणीकरण बताते हैं।" इसी प्रकार रमाशंकर तिवारी ने नए साहित्य को ध्यान में रखकर यह बताया है कि कवि और भावक—दोनों की अनुभूतियों का साधारणी करण होता है' [१६ आ॰ पृ॰ ११]

"साधारणीकरण रचयिता और उपभोक्ता के बीच भावना का तादात्म्य है"—इस उपस्थापना के संदर्भ में ऊपर जो विभिन्न उद्धरण एकत्र किए गए हैं, उनके देखने से यह स्पष्ट होता है कि बाबू श्यामसुंदरदास जी से ही साधारणीकरण का केंद्रण कवि या भावक या दोनों के चित्त, चित्तवृत्ति या भावना पर होने लगा है। आचार्य वाजपेयी जी को छोड़कर बाबू साहब, डा॰ नगेंद्र आदि ने तो उसी को अभिनवगुप्त का प्रतिपाद्य भी कहा है। डा॰ भारद्वाज तथा तिवारी भी अनुभूतियों के ही साधारणीकरण की बात कहते हैं।

बाबू साहब चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने से सबका साधारण्य फलतः स्वीकार कर लेते हैं, पर प्रश्न यह खड़ा होता है कि चित्त को एकतान और साधारणीकृत स्थिति में लाने की सामग्री क्या है? कम से कम रस को ध्यान में रखकर काव्य में जो विभावादि सामग्री संकलित है—वही है या उससे भिन्न? भरत एवं अभिनव ने जहाँ रस प्रतीति में घातक सात विघ्नों का विचार किया है—वहाँ कहा है—"विघ्नापसारकाः विभाव प्रभृतयः" और दूसरे तथा तीसरे विघ्न के निवारण में साधारणीकरण की अपेक्षा की है। इस प्रकार जब तक विघ्न हटेंगे नहीं, तब तक चित्त एकतान नहीं होगा और एकतान होने पर ही स्व पर संबंध विस्मृत हो सकता है, तभी साधारणीकृत की स्थिति आ सकती है। इसलिए इसके पूर्व की चित्त एकतान हो, विभावादि अपेक्षित हैं। विभावादि उन कारण-कार्यादि को कहा जाता है—जो साधारणीकृत होकर रसोपयोगी हों। निष्कर्ष यह कि चित्त के एकतान होने से विभावादि का साधारण्य नहीं, प्रत्युत विभावादि के साधारण्य से चित्त में एकतानता विश्रान्ति, सत्त्वोद्रेक संभव हैं। वैसे जहाँ तक स्थायीभावात्मक चित्तवृत्ति के साधारण्य की बात है—अभिनव इस बात को मानते हैं।

जहाँ तक डा॰ नगेंद्र की मान्यता का सवाल है वे कवि की अनुभूति का साधारणीकरण मानते हैं, आश्रय आदि का इस भय से नहीं कि

साधारणीकरण तो 'तादात्म्य' ही है, और वह अनेकत्र असंभव है। यह तादात्म्य कवि और भावक के ही बीच हो सकता है और साधारणीकरण का वही स्वरूप है—तो यह पण्डित जी की स्थापना का ही द्रविड़ प्राणायाम से उपस्थापित रूप है। आचार्य वाजपेयी जी ने अपना मत उपस्थित किया यह नहीं कि उसे किसी के मत्थे मढ़ दिया। अतः डा० नगेंद्र के मत में कई प्रश्न खड़े होते हैं। पहला यह 'तादात्म्य' को कहा—कहाँ आचार्यों ने साधारणीकरण ? उलटे 'तादात्म्य' को साधारणीकरण मानने से हानि ही बताई। हानि यह कि आश्रय एवं भावक तादात्म्य होने से अर्थात् भावक द्वारा अपने को दुष्यन्त मान लेने से शकुन्तला आदि के साधारणीकरण की आवश्यकता ही न होगी। दूसरे यह मत अभिनवगुप्त का इसलिए भी नहीं हो सकता कि उन्होने विभावादि का साधारणीकरण माना है और डा० साहब ने नहीं। भारद्वाज जी ने डा० साहब के मत की यह व्याख्या देकर कि कवि की अनुभूति के साधारणीकरण के माध्यम से उसकी अनुभूति-सवेद्य सभी तत्त्वों का साधारणीकरण हो ही गया—और किये-कराये पर पानी फेर दिया। डा० साहब ने जिस चीज को बड़ी सावधानी से बचाया था, उसे इन्होंने बिगाड़ दिया। भारद्वाज जी ने 'साधारण' का जो 'ज्वाइण्ट प्रापर्टी' पर्याय दिया—उसने तो शास्त्रीय भूमिका को ओर धराशायी कर दिया, कारण आचार्य साधारण्य के लिए जहाँ एक ओर असाधारण्य का निषेध करते हैं वहीं दूसरी ओर सर्वसाधारण्य का भी। डा० साहब के विवेचन में चौथी आपत्ति यह है कि कवि की अनुभूति का साधारणीकरण होने का अर्थ अस्पष्ट है। साधारणीकरण असाधारण का ही होता है तो क्या कवि की काव्य-माध्यम से प्रतीत अनुभूति असाधारण है ? व्यक्तिगत है ? क्या वह सामान्य भाव भूमि पर काव्य निर्माण करते समय प्रतिष्ठित नहीं है ? ध्यान रखने की बात यह है कि काव्य में बौद्धिकता का आग्रह रखनेवालों को सामने रखकर मेरा यह प्रश्न नहीं है। हाँ, पण्डित जी ने बातचीत के सिलसिले में जैसा एक बार स्पष्ट किया था कि कवि की अनुभूति के साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि रस-कवि अपनी अनुभूति को इस प्रकार व्यक्त करता है कि वह भावक में वैसी ही अनुभूति पैदा करे—रचयिता और उपभोक्ता के बीच की सामग्री साधारणीकरण की प्रक्रिया से गुजर कर समान भाव व्यक्त करे—तो कोई बात नहीं। लेकिन एक बाधा यह है कि आन्तरालिक सामग्री में से बहुतों को डा० साहब ने साधारणीकरण की परिधि से ही बाहर कर दिया है। इस प्रकार बहुत बातें हैं। रमाशंकर तिवारी

जी ने नई काव्य धारा को सामने रखकर भाव-भूमि को काव्यत्व की अनिवार्य शर्त मानकर साधारणीकरण का जो रूप स्पष्ट किया है वह यह कि कवि और भावक दोनों की अनुभूतियों का साधारणीकरण होता है। अभी हम सब एक ही की अनुभूति के साधारण्य से नहीं मुक्त हो सके तब तक दोनों का प्रश्न सामने आ गया। अब इनको क्या कहा जाय? जहाँ बाबू जी का प्रश्न है उनका अपना एक अलग ही वक्तव्य है। वे व्यक्ति का नहीं संबंध का साधारणीकरण कराना चाहते हैं। यहाँ तक तो ठीक है कि असाधारण संबंध को साधारण या सामान्य संबंध करना चाहते हैं—पर सामान्य संबंध का क्या अर्थ?—क्या दोनो संबंधी पुत्र एवं पिता साधारणीकरण के बाद सामान्य संबंधी हो जाते हैं? वस्तुतः साधारणीकरण में तो सबधांश ही विगलित हो जाता है—सामान्य की बात निरर्थक है।

औचित्य—विमर्श

प्रायः आधुनिक विद्वानों ने काव्यात्मवाद संबधी सिद्धांतों का विचार दो दृष्टियों से किया है—निर्माणपक्ष से और ग्रहण पक्ष से—काव्यात्मक उक्ति की दृष्टि से और काव्यार्थ की दृष्टि से। निर्माण पक्ष से कवि की उक्ति (सामान्य उक्ति से) भेदक वैशिष्ट्य का विश्लेषण करते हुए जहाँ एक ओर आलंकारिक क्रमशः (काव्यीय चारुता का मूल) अलंकार, रीति एवं वक्रोक्ति का महत्त्व स्थापित करते गये – वहीं दूसरी ओर 'काव्यार्थ' पक्ष से सोचते हुए 'रस' एवं 'ध्वनि' सिद्धांत की भी उन्होंने स्थापना की। व्यापकतर दृष्टिकोण से, मैं उनलोगों से सहमत हूँ—जिन्होंने यह कहना चाहा है कि अलंकार, रीति एवं वक्रोक्तिवाद—अलंकारवाद ही है और रस तथा ध्वनिवाद—रसवाद—अर्थात् मुख्यतः दो ही सिद्धांत हैं—अलंकार और रस—सिद्धांत। इस प्रसंग में जब क्षेमेंद्र द्वारा प्रस्तुत किये हुए 'औचित्य-विचार' की बात आती है—तो यह जान पड़ता है कि क्षेमेंद्र ने उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से प्रस्तुत किये हुए विवादों से हटकर—आत्मा और अनात्मा के झगड़े से दूर जाकर—सहृदय या आलोचक (भावक) की दृष्टि से काव्य-निकष का विचार करना चाहा और एतदर्थ उन्होंने 'औचित्य-सिद्धांत' की अवतारणा की। यों तो 'औचित्य' की चर्चा कवियों और आचार्यों द्वारा बहुत ही पहले आरंभ की जा चुकी थी—पर एक विशेष दृष्टि से उसका महत्त्व स्थापित करने के लिए उस पर एक स्वतंत्र कृति का निर्माण क्षेमेंद्र ने ही किया।

क्षेमेंद्र द्वारा प्रस्तुत किया गया औचित्य–विचार अपने विषय में अनेक प्रकार के मतभेदों को जन्म दे चुका है। कुछ लोगों का विचार है कि अन्य वादों की भाँति 'औचित्य' भी एक वाद या सम्प्रदाय है और पूर्ववर्ती आचार्यों के विरोध में क्षेमेंद्र ने 'औचित्य' को काव्य की आत्मा बताकर एक नये सम्प्रदाय की स्थापना करनी चाही है। इन लोगों ने अपने मत के समर्थन में 'औचित्य विचार चर्चा' से इस प्रकार की पंक्तियाँ भी उद्धृत की हैं—"औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्"—औचित्य रस-सिद्ध (रसायनसिद्ध) काव्य (काय) का स्थिर जीवित है। इस प्रकार इन लोगों ने क्षेमेंद्र का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है कि अन्य तत्त्व यदि अस्थिर जीवित हैं—तो औचित्य स्थिर।

इसी वर्ग में उन लोगों को भी रखना चाहिए, जिन लोगों ने यह मानना चाहा है कि क्षेमेंद्र ने तो औचित्य को काव्य की 'आत्मा' रस का भी 'जीवित' माना है। एतदर्थ उनलोगों ने विशिष्टाद्वैतवादियों का दृष्टांत भी प्रस्तुत किया है—वे कहते हैं कि शरीर के अंतर्गत स्थित जीवात्माओं में भी जिस प्रकार 'अंतर्यामी' अनुप्रविष्ट है—[अर्थात् जीवात्मा के भी आत्मा रूप में स्थित है—] उसी प्रकार काव्य में 'रस' के भी भीतर अनुप्रविष्ट 'औचित्य' तत्त्व है। अर्थात् विशिष्टाद्वैत की दृष्टि से जो स्थान 'अंतर्यामी' का है, वही काव्य में 'औचित्य' का है। इन लोगों ने अपने सिद्धांत की पुष्टि में निम्नलिखित पंक्ति उद्धृत की है—"रसजीवितभूतस्य (औचित्यस्य) विचारं कुरुतेऽधुना" (औ० वि० च०)

अभिनवगुप्त ने भी 'लोचन' में कुछ बातें इस प्रकार की कही हैं जिनसे यह अनुमान किया जा सकता है कि उनके भी समय में या उनसे पूर्व कोई मत या दल ऐसा था—जो 'औचित्य' को काव्य का सर्वातिशायी तत्त्व मानता था।

दूसरा मत है—डा० राघवन् का। डा० साहब ने यह स्वीकार किया है कि क्षेमेंद्र आनंदवर्द्धन और अभिनवगुप्त की परम्परा के आचार्य हैं। इसीलिये वे उन्हीं की भाँति 'रस' को काव्य की आत्मा मानते हैं और 'रस' सिद्धांत के अंग रूप में 'औचित्य' का विचार करते हैं। उन्होंने अपनी स्थापना को और अधिक स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि क्षेमेंद्र ने अपने 'औचित्य विचार' में इसीलिये 'रस' को काव्य की 'आत्मा' कहा है और 'औचित्य' को 'जीवित'। यद्यपि अभिनवगुप्त ने अपनी व्याख्याओं में 'जीवित' तथा 'आत्मा' में अंतर नहीं माना है—उन्हें पर्याय की भाँति प्रयुक्त किया है—पर क्षेमेंद्र उन्हें न पर्याय मानते हैं और न पर्याय की

भाँति प्रयुक्त करते हैं। डा० साहब 'आत्मा' को Soul के रूप में और 'जीवित' को Life के रूप में प्रयुक्त मानते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार क्षेमेंद्र की दृष्टि में यदि 'रस' काव्य की 'आत्मा' है—तो 'औचित्य' उसी काव्य का 'प्राण'। जिस प्रकार शरीर में आत्मा की अभिव्यक्ति प्राण-सापेक्ष है—उसी प्रकार काव्य में 'रस' की अभिव्यक्ति 'औचित्य' सापेक्ष। इसलिये 'औचित्य' कोई स्वतंत्र वाद नहीं है—वह 'रससिद्धांत' का अंग है। 'रस' की प्रतीति प्रक्रिया का विचार करते हुए यद्यपि एक तरफ 'ध्वनि-सिद्धांत' का आविष्कार हो गया था—फिर उसी प्रकार मानों उसकी निष्पत्ति-प्रक्रिया की प्रतिष्ठा के लिए अभी औचित्य-सिद्धांत के आविष्कार की आवश्यकता थी–उसे क्षेमेंद्र ने पूरा किया। निष्कर्ष यह कि यह रस-सिद्धांत का ही समर्थक और प्रतिष्ठापक विचार है—इसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

एक तीसरे सज्जन हैं—रामपाल विद्यालंकार—उनका मत यह है कि क्षेमेंद्र, अभिनवगुप्त एवं आनंदवर्द्धन की परम्परा को न अपनाते हुए उनसे भिन्न ढंग से 'औचित्य' का विचार करते हैं। यदि क्षेमेंद्र आनंदवर्द्धन एवं अभिनवगुप्त को मान्यता देते—तो वे यह बात कभी भी स्वीकार न करते कि 'रस' काव्य के अन्य अंगों की भाँति एक अंग है। इसीलिये औचित्य के प्रभेदों के मध्य उसके अंग रूप में इन्होंने 'रसौचित्य' को भी रखा। कहाँ 'रस' के अग रूप में 'औचित्य' की विचारणा करनेवाले आनंदवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त और कहाँ 'औचित्य' के अग रूप में (काव्य का अंग मानकर—अंगी नहीं) 'रस' की चर्चा करने वाले क्षेमेंद्र—दोनों की एकता कैसी? इस प्रकार डा० राघवन् का विरोध ही समझिये कि इन्होंने क्षेमेंद्र को आनंदवर्द्धन और अभिनवगुप्त की परम्परा का न माना। इसी प्रकार विद्यालंकार जी ने उनलोगों का भी विरोध किया है जिन लोगों ने यह माना है कि क्षेमेंद्र औचित्य-विचार द्वारा काव्य की आत्मा और अनात्मा संबंधी विचार प्रस्तुत करते हैं। उनका स्पष्ट उद्घोष है कि क्षेमेंद्र ने ऐसा कहीं भी कुछ नहीं कहा है। क्षेमेंद्र तो केवल इस कृति द्वारा इतना ही विचार कर रहे हैं कि काव्य में आलोचक क्या देखे? विद्यालंकार जी के अनुसार 'जहाँ जो जँच जाय—वही वहाँ 'उचित' है—और काव्य में यही समीक्षणीय है कि जहाँ जो कुछ है—वहाँ वह जँच तो रहा है और इसलिये क्षेमेंद्र न 'रस' को भी औचित्य के एक प्रभेद रूप में प्रस्तुत किया है—अर्थात् वे चाहते हैं कि समीक्षक यह देखे कि जहाँ जिस 'रस' का विधान है—वहाँ वह जँच तो रहा है न?

इस प्रकार 'औचित्य' के संबंध में ये विभिन्न पक्ष-विपक्ष उपलब्ध होते हैं। जहाँ तक मेरा अपना विचार है उक्त तीन पक्षों में से पहला पक्ष—जो 'औचित्य' को भी एक सम्प्रदाय या काव्य-सर्वस्व मानने वाला है—सही और युक्तियुक्त नहीं है। सचमुच क्षेमेंद्र ने काव्यात्मवाद की दृष्टि से 'औचित्य' का 'विचार' नहीं किया है—अन्यथा वे अन्य पक्ष का खण्डन भी प्रस्तुत करते—किंतु समस्त कृति में इस प्रकार का कुछ भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि क्षेमेंद्र के अनुसार 'उचित का भाव ही औचित्य' है—और स्वयं 'उचित' उन्हीं के शब्दों में 'सदृशं किल यस्य यत्' है। अर्थात् 'अनुरूप' 'उचित' और 'आनुरूप्य' ही 'औचित्य' है। इस प्रकार 'आनुरूप्य' एक स्वतः 'रस' आदि की भाँति निरपेक्ष तत्त्व नहीं है। वह अपने स्वरूप-बोध के विषय में सापेक्ष है—अर्थात् 'आनुरूप्य' या 'औचित्य' की बात आने पर तुरंत प्रश्न खड़ा होगा—किस दृष्टि से 'आनुरूप्य' या 'औचित्य'? जिस वस्तु के अनुरूप या सदृश (उचित) विधान की बात के सिलसिले में 'औचित्य' का विचार आनुषंगिक रूप में खड़ा होता है—वह स्वयं क्या है? महत्त्व उसी का है। अभिनवगुप्त भी इसीलिये 'औचित्य' को महत्त्व देने वालों का विरोध करते हैं। निष्कर्ष यह कि 'औचित्य' जैसा स्वरूप-निरूपण में अन्य-सापेक्ष तत्त्व निरपेक्षता की शर्त वहन करने वाले 'आत्मा' का स्थान कथमपि ग्रहण नहीं कर सकता! अतः प्रथम पक्ष सर्वथा अग्राह्य है।

जहाँ तक डा० राघवन् के पक्ष का संबंध है—बहुत ही समीक्षित पक्ष है और मैं उससे सहमत हूँ—अर्थात् मैं भी यह मानता हूँ कि क्षेमेंद्र, आनंदवर्द्धन और अभिनवगुप्त की परम्परा के विचारक हैं और वे रस को महत्त्वपूर्ण मानकर भी उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए 'औचित्य' को आवश्यक समझते हैं। परन्तु डा० राघवन् को इस संदर्भ में यह स्पष्ट करना चाहिए था कि क्या क्षेमेंद्र अपनी इस कृति में ग्राहक की दृष्टि से ही अभिनवगुप्त की भाँति रसाभिव्यक्ति में सहायक औचित्य का आनुषंगिक रूप में—सहायकरूप में विचार कर रहे हैं या किसी अन्य दृष्टि से यहाँ 'औचित्य' का ही प्रधान रूप में विचार कर रहे हैं? डा० राघवन् को इस पर भी विचार करना चाहिए था कि 'रस' को काव्य का 'अंगी' स्वीकार करने वाले आनंदवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त के 'रस' को एक 'काव्यांग' माननेवाले क्षेमेंद्र-अनुयायी किस प्रकार? डा० साहब ने इन सब प्रश्नों पर विचार नहीं किया।

तीसरा पक्ष है—विद्यालंकार का—आंशिक रूप से मैं इनसे सहमत होते हुए भी आंशिक रूप में सहमत नहीं भी हूँ। सहमत इन बातों में हूँ कि इस

कृति के माध्यम से क्षेमेंद्र ने 'ग्राहक' नहीं, बल्कि 'आलोचक' की दृष्टि से—'भावुक' नहीं बल्कि 'भावक' की दृष्टि से—क्षेमेंद्र ने प्रधानतः 'औचित्य' का ही विचार किया है। उनका विचार सचमुच आत्मा और अनात्मा के झगड़े में पड़ने का नहीं है। वे सचमुच यही कहना चाहते हैं कि इस कृति के माध्यम से क्षेमेंद्र ने यही बताना चाहा है कि काव्य में आलोचक के देखने की चीज क्या है? वास्तव में आलोचक यही देखना चाहता है कि काव्य में जहाँ जो कुछ है—वह अपनी जगह उचित तो है? जहाँ जो कुछ है—वहाँ वह जँच तो रहा है? परंतु विद्यालंकार जी से वहाँ मेरा ऐकमत्य नहीं है—जहाँ वे क्षेमेंद्र को आनंदवर्द्धन और अभिनवगुप्त की परम्परा का नहीं मानते।

ऊपर डा० राघवन् ने जिन प्रश्नों पर विचार नहीं किया और विद्यालंकार से जहाँ मै असहमत हूँ—उन सबके सबंध में सोचते हुए यह कहा जा सकता है कि क्षेमेंद्र ने कर्ता एवं ग्राहक नहीं, सहृदय आलोचक की दृष्टि से 'औचित्य' का ही यहाँ प्रमुख रूप से व्यापक विचार किया है। इसीलिए ग्राहक की दृष्टि से विचार करनेवाले आनदवर्द्धन एवं अभिनवगुप्त से इनका आपाततः विरोध भासित होता है। वस्तुतः यह विरोध वस्तुगत न होकर दृष्टिगत है। ग्राहक की दृष्टि से आनंदवर्द्धन एवं अभिनवगुप्त की भाँति क्षेमेंद्र भी 'रस' को काव्य की आत्मा मानते ही हैं—जैसा कि डा० राघवन् ने कहा है—पर आलोचक की दृष्टि से काव्य के अन्य तत्वों की भाँति 'रस' को भी औचित्य-समीक्षा का एक अंग माना है। अतः ग्राहक की दृष्टि से जो 'रस' काव्य का अंगी है—आलोचक की दृष्टि से वह औचित्य विचार का एक अंग भी है। इसमें विरोध क्या है? इस प्रकार मेरा अभिमत यह है कि 'औचित्य' कोई एक स्वतंत्र सम्प्रदाय नहीं है। दूसरा यह कि क्षेमेंद्र ने औचित्य का विचार ग्राहक नहीं, सहृदय की दृष्टि से किया है—इसीलिए 'रस' भी औचित्य विचार का एक अंग हो गया है। तीसरा यह कि क्षेमेंद्र अभिनव और आनंदवर्द्धन की परम्परा के हैं।

सम्प्रति, यह देखना आवश्यक है कि औचित्य का स्वरूप क्या है—स्वरूपगत विभिन्न पक्ष कौन-कौन से हैं? औचित्य और अवयव संगति का पश्चिमी सिद्धांत—दोनों में व्यापक कौन है? औचित्य-निर्धारण के स्रोत क्या हैं? आदि-आदि।

औचित्य के स्वरूप के संबंध में जहाँ तक क्षेमेंद्र का संबंध है—उन्होंने कहा ही है—

> उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
> उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥

अर्थात् आचार्यों ने कहा है कि जो जिसके सदृश है—वही उसके लिए उचित है—अर्थात् वस्तु की अनुरूप योजना ही उचित योजना है और इसी उचित का भाव—औचित्य है। इस प्रकार सदृश संविधान, आनुरूप्य, औचित्य–पर्याय ही हुए। क्षेमेंद्र की इस परिभाषा को देखते हुए कतिपय विवेचकों ने औचित्य के स्वरूप पर विचार करते हुए यह कहा है कि गुण से गुणी का, अलंकार से अलंकार्य का, अंग से अंगी का, शब्दार्थ से काव्य-सर्वस्व का उचित संबंध ही—औचित्य है। ठीक है—पर यह तो औचित्य का एक पक्ष है—जिसे 'कला-गत' कहा जा सकता है, औचित्य का एक दूसरा पक्ष भी है—जिसे वस्तुगत या नैतिक अथवा सामाजिक पक्ष भी कह सकते हैं। इसके अनुसार काव्य में उसी का विधान समुचित है—जो समाजानुमोदित हो। औचित्य निर्द्धारण का स्रोत इसी दृष्टि से समाज या लोक को माना जाता है। पर साहित्य या काव्य की कलागत या अंशतः वस्तुगत कुछ ऐसी भी चीजें है—जिनका समुचित विधान काव्य की परम्परा की भी अपेक्षा रखती हैं। कवि प्रसिद्धियाँ हैं—उन लोगों की कल्पना सगत कुछ लोक-धारणा से विशिष्ट धारणाएँ हैं—जिनके लिए औचित्य विधान को कलागत—रूढ़ियों और परम्पराओं का भी मुखापेक्षी होना पड़ता है। प्रपद्यवाद की द्वादशसूत्री योजना में अवश्य समस्त परम्पराओं की उपेक्षा है—पर इन योजनाओं की ही कितनी अपेक्षा लोगों को है?

जहाँ तक पश्चिम की अवयव संगति का संबंध है—निश्चय ही भारतीय 'औचित्यसिद्धांत'—उसकी अपेक्षा व्यापक और गतिशील है। अवयव संगति का सिद्धात सुदर-कृतियों के सौदर्याभिव्यंजन के अनुरूप संश्लिष्ट अवयवों के अध्ययन पर आश्रित है—इसीलिए वह वाह्य अधिक है—पर औचित्य सिद्धांत बाहरी और भीतरी समस्त काव्य संविधानो से संबंध रखने वाला सिद्धांत है। अवयव संगति के एकबार गढ़े हुए सिद्धांतों को नव-शास्त्रवादियों ने कभी-कभी स्वभावगत औचित्य को छोड़कर भी कठोरता से मानने का आदेश देकर मानो उसे विजड़ित कर दिया है—पर औचित्य सिद्धांत में यह नहीं है।

क्षेमेंद्र, ने औचित्य के जो २७ प्रभेद किए हैं—उसमें काव्य के समस्त आंतर और वाह्य अंग आ गये हैं और जो नहीं भी आ सके हैं—उनके लिए उन्होंने यह कहा है कि इसी प्रकार अन्य काव्यांगों में भी उसकी उत्प्रेक्षा कर लेनी चाहिए।

———

क्षेमेंद्र का अध्ययन और मनन करने के बाद मेरा यह निश्चय है कि भारतीय आचार्यों ने न केवल कवि एवं ग्राहक की ही दृष्टि से अपनी-अपनी विवेचना उक्ति-वैचित्र्य एवं ग्राह्य-अर्थ तक फैलाई, बल्कि समीक्षक (ग्राहक) की दृष्टि से भी आचार्यों ने अपना विवेचन प्रस्तुत किया। यदि कवि एवं ग्राहक की दृष्टि से किये गए विचारों ने कतिपय काव्यात्म संबंधी वादों को जन्म दिया तो समीक्षक की दृष्टि से किए गए क्षेमेंद्र द्वारा विचार इस प्रकार पचड़े से अपने को तटस्थ रखा। उन्होंने तो यह बताया कि समीक्षक का कार्य इतना ही है कि वह देखे कि जो कुछ है—वह 'उचित' तो है!

उपर्युक्त वक्तव्य के विपक्ष में कई विरोधी तर्क भी उपस्थित होते हैं। पहला तो यह कि क्या कवि एवं ग्राहक की दृष्टि से किये गए भारतीय आचार्यों के विचार परस्पर विरोधी काव्यात्म-संबंधी मतवादों को जन्म देते हैं या जैसा कि ग० त्र्य० देशपांडे का विचार है कि आचार्यों के सभी प्रयास रस को ही केंद्र में रखकर उसी के निकट या वहीं तक पहुँचने की दिशा में उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्मतर किए गए प्रयास के परिणाम हैं? मैं इन दो विकल्पों में से परवर्ती-विकल्प के विपक्ष में हूँ। मैं यह नहीं मानता कि सभी आचार्यों ने 'रस' को ही काव्य में प्रामुख्य प्रदान करने की दृष्टि से ही विचार किये हैं। इस प्रसंग में उचित अवसर न होने के कारण अपने पक्ष की पुष्टि में मैं अनेक तर्क तो नहीं उपस्थित कर सकता—पर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि 'दीप्तरसत्वमय' कांति गुण से समन्वित गौड़ी रीति को अतत्त्वभूत मानने वाला रीतिवादी वामन रस को सर्वप्रमुख तत्त्व मान रहा है—यह जँचता नहीं। रही यह कि उन्होंने 'काव्येषु दशरूपकं श्रेयः'—की बात कही है—तो उसका कारण 'रस' नहीं है, वरन् चित्रपटवत् रूपक में विविध काव्यरूपों का मिश्रण है। अतः कवि एवं ग्राहक की दृष्टि से जो विभिन्न काव्यात्मवादों की उत्पत्ति की बात कही गई है—वह अयुक्तियुक्त नहीं है। दूसरा प्रश्न यह है कि क्षेमेंद्र काव्यात्म-निर्णय के झमेले में बिलकुल पड़े ही नहीं—सीधे समीक्षक के कर्तव्य पर विचार किया है या काव्यात्म के संबंध में अपनी धारणा व्यक्त की है? यहाँ भी पूर्ववर्ती समीक्षकों में तीन दल हैं—एक मानता है कि क्षेमेंद्र ने ग्राहक की दृष्टि से विचार करते हुए औचित्य को काव्य की आत्मा माना है। दूसरा दल कहता है क्षेमेंद्र ने काव्य की आत्मा (Soul) रस मानी है और जीवित (Life)—औचित्य। इस प्रकार आनंद एवं अभिनव की परम्परा में

क्षेमेंद्र हैं तो रसवादी ही, पर 'रस' को भी वे जानदार तब मानते है—जब 'औचित्य' का सत्त्व हो। तीसरा दल कहता है कि क्षेमेंद्र, आनंद एवं अभिनव की परम्परा में हैं ही नहीं–उन्होंने काव्य की आत्मा का तो कहीं नाम भी नहीं लिया। उनके सामने तो महज एक ही प्रश्न है—समीक्षक का कर्त्तव्य और वह कर्त्तव्य है—काव्य एवं काव्यांगों में औचित्य का निर्वाह। रस तो स्वयं काव्यांग है। तभी तो क्षेमेंद्र ने काव्य के विभिन्न अंगों में औचित्य का उदाहरण देते हुए रस-औचित्य का उदाहरण दिया है और इस प्रकार रस को भी एक काव्यांग के रूप में प्रस्तुत किया है। इन त्रिविध विचारों में प्रथम-पक्ष तो अब सभी के द्वारा तिरस्कृत हो चुका है। अब 'औचित्य' को एक स्वतंत्र्य संप्रदाय के रूप में काव्यात्मवादी अतिरेकी मतवाद के रूप में—तो कोई नहीं मानता। अभिनवगुप्त के अनुसार औचित्यवती (अतिशयोक्ति) काव्य का जीवित कभी मानी जाती रही हो—पर वह भी आज अग्राह्य पक्ष है। अभिनव ने स्वीकार किया है कि औचित्य का महत्त्व रसध्वनि की अपेक्षा करके ही है—अन्यथा उसका कोई अर्थ नही। दूसरा पक्ष डा० राघवन् और उनके अनुयायियों का है—जो काफी हद तक ग्राह्य एवं समीचीन है—पर इस प्रश्न के समाधान की आशा की जानी चाहिए कि क्यों क्षेमेंद्र ने काव्यांगों के मध्य 'रस' को रखा। साथ ही यह भी उन्हें सोचना चाहिए कि एक ओर काव्य की आत्मा (अगी) के रूप में रस को माननेवाला क्षेमेंद्र दूसरी ओर अपनी ही पुस्तक में रस का अंग रूप में उपन्यास क्यों करता है? डा० राघवन् ने इस प्रश्न को अनुत्तरित रहने दिया। क्षेमेंद्र के विवेचन को समीक्षक की दृष्टि से देखनेवाला दल कुछ दूर तक इन प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है और कहता है कि औचित्य के निकष पर काव्य की परख करते हुए समीक्षक की समीक्षा का विषय 'रस' भी बन जाता है। वह देखता है कि 'रस' अपने स्थान पर (अंगी रूप में) तो है न? उचित पदवी प्राप्त तो कर रहा है? श्री रामपाल विद्यालंकार ने, जो इसी दल के समीक्षक हैं—यह माना है कि क्षेमेंद्र जब अपनी कृति में 'रस' को एक काव्यांग रूप में रखते हैं—तो वे 'रस' को काव्य में अगी रूप से स्वीकार करनेवाले आनदवर्द्धन एवं अभिनवगुप्त की परम्परा से पृथक् जा पड़ते हैं। मेरा विचार इस प्रसंग में यह है कि जब क्षेमेंद्र अभिनवगुप्त के शिष्य हैं—तो थोड़ा ऐसे निष्कर्ष तक पहुँचने से पूर्व कुछ सोचना होगा क्यों न यह मान लिया जाय कि दोनों के वक्तव्यों में मूलतः भेद न होकर महज एक दृष्टिभेद है। दृष्टिभेद यह है कि जब ग्राहक की दृष्टि से आनंदवर्द्धन एवं

अभिनवगुप्त विचार करते हैं—तो वे 'रस' को ही काव्य सर्वस्व के रूप में पाते हैं पर समीक्षक की दृष्टि से विचार करनेवाले क्षेमेंद्र ग्राहक की दृष्टि से विचार ही प्रस्तुत नहीं करते अतः दृष्टिभेद होने से दोनों में विरोध देखना सगत नहीं जँचता। इस प्रकार तीनों उपर्युक्त विचारकों से अंशतः सहमत होते हुए भी किसी हद तक तीनों में अविरोधी दृष्टि से संशोधन करने का प्रयत्न प्रस्तुत कृति में किया गया है। निष्कर्ष यह कि क्षेमेंद्र ने अपनी कृति में औचित्य को काव्य की आत्मा सिद्ध करने का समारम्भ नहीं दिखाया है। साथ ही ग्राहक की दृष्टि से जहाँ वे एक ओर रस को काव्य का सर्वस्व समझते हैं—वहीं समीक्षक की दृष्टि से 'औचित्य' को 'रससिद्ध काव्य' में जान डाल देनेवाली चीज मानते हैं। इस प्रकार समीक्षक की दृष्टि से वे औचित्यदृष्ट्या जाँच करते समय रस को काव्य के विभिन्न अगों की भाँति एक अंग भी मानते हैं। अथवा जब वे काव्य के अग की चर्चा करते हैं—तो 'अंगों' का प्रश्न सहज ही आ जाता है—अंगों के बिना (सापेक्ष, अंग का महत्व ही क्या है? प्रश्न यहाँ यह है कि फिर रस को भी काव्यांग माननेवाले क्षेमेंद्र काव्यांगी किसको समझते हैं?

अपनी कृति में इस प्रश्न का उन्होंने क्या समाधान दिया है? यदि डा० राघवन् की बात मानी जाय—तब एक ही ग्रथ में एक जगह 'रस' को काव्य का अंगी और दूसरी जगह काव्य का अंग कहना वदतो व्याघात नहीं है? और वदतो व्याघात नहीं तो विरोधाभास मानना होगा। विरोधाभास ही मानना ठीक भी है। कारण यह है कि दोनों बातें जब एक ही पुस्तक में एक सचेत आचार्य लिखता है—तो वहाँ विरोधाभास ही माना जा सकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या यहाँ विरोध का आभास ही है—वस्तुतः विरोध नहीं है? वस्तुतः विरोध इसलिए नहीं है कि दोनों वक्तव्यों में दृष्टिभेद है—अर्थात् जहाँ वे रस को काव्य की आत्मा कहते हैं वहाँ वे आनंद एव अभिनव की परम्परा में ग्राहक की दृष्टि से अनायास कह जाते हैं—पर जहाँ वे रस को काव्यांग कहते हैं—वहाँ वे औचित्यदृष्ट्या समीक्ष्य काव्य को विभिन्न पक्षों की भाँति रस को भी एक समीक्ष्य-अंग मानते हैं। यदि हम काव्य का अगी 'रस' को नहीं मानें—तो और किसे मानें औचित्य को? 'औचित्य' अपने—आप में भला अंगी क्या होगा? औचित्य तो सचमुच एक सापेक्ष तत्त्व है। औचित्य विचार सदा किसी दृष्टि से होता है। जिस दृष्टि से औचित्य का विचार होगा—वही काव्य में सर्वस्व होगा। निष्कर्ष यह कि औचित्य अंगी तो नहीं ही हो सकता। इस प्रकार यही निश्चित होता है कि 'औचित्य-विचार-चर्चा' में क्षेमेंद्र काव्यांगो के

विवाद से तटस्थ होकर केवल समीक्षक की दृष्टि से औचित्य का विचार करते हैं—पर वस्तुतः वे आनंद एवं अभिनव की परम्परा से पृथक् हैं—यह नहीं।

अब दूसरा प्रश्न औचित्य संबंधी यह है कि पूर्व एवं पश्चिम के चिंतकों ने उसके रूप के संबंध में क्या-क्या कहा है? उसे वे काव्य के अंतरंग एवं बहिरंग दोनों से संबद्ध मानते हैं या अन्यतर पक्ष से ही? ऐतिहासिक दृष्टि से किन-किन नामों द्वारा उस तथ्य को समझाया जाता रहा?

भारतीय चिंतकों में 'औचित्य' शब्द के लिए भरत ने 'अनुरूपता', भामह ने 'न्याय्य' तथा 'युक्तता' एवं दण्डी ने 'विधिदर्शितमार्ग' शब्दों का प्रयोग किया है। बाद में यशोवर्मा ने पहले पहल 'औचित्य' शब्द का प्रयोग किया और तब से तो फिर उसी शब्द ने अपना एकाधिकार कर लिया। इसी प्रकार पश्चिम में ¹repon, Appropriate, Propriety, Decorum, Symmetry, Adaption, Harmony आदि विभिन्न शब्दों का प्रयोग तो है, डा० राघवन् ने Mutual Conformity of Parts के अर्थ में Sympathy शब्द का भी प्रयोग औचित्य के पर्याय के रूप में समुचित समझा है। इस प्रकार विभिन्न पर्यायवाची शब्दों द्वारा औचित्य तत्त्व की चर्चा उभयदेशीय मनीषियों ने प्रस्तुत की है।

भारतवर्षीय संस्कृत के आचार्यों ने 'औचित्य' की चर्चा न केवल लक्ष्यानुरूप अवयवों की आनुपातिक योजना और समाजानुमोदित आचारों के लिए ही की है, अपितु काव्यमार्ग के एक सामान्य गुण के रूप में भी कुन्तक ने इस तत्त्व का विवेचन प्रस्तुत किया है। यही नहीं अग्निपुराणकार ने तो शब्दार्थोभयालंकार के एक भेद के रूप में भी इसका निर्देश किया है। रसार्णवालंकार में अग्निपुराणकार से भिन्न एक शब्दालंकार के रूप में भी चर्चा उपलब्ध होती है। परंतु इन तीनों विशिष्ट रूपनिरूपक आचार्यों ने इन विभिन्न रूपों में भी औचित्य के मूल स्वरूप की रक्षा की है। प्रत्येक रूप में अवयवों या तत्त्वों के अनुरूप सग्रथन की बात कही गई है। इस प्रकार यद्यपि औचित्य के विभिन्न रूप विवेचित हुए हैं—तथापि अनुरूप योजना और उचित आचार-व्यवहार की स्थिति का इंगित-संकेत सर्वत्र मिलता है। कुंतक की भाँति अरस्तू ने भी शैली के एक गुण के रूप में 'परस्पिक्विटी' एवं 'प्रोप्राइटी' की चर्चा की है। पर उधर विशेष अलंकारों के रूप में इस तत्त्व या नाम का कदाचित् किसी ने नहीं लिया है। हाँ, Decorum की विवेचना में सामान्यतः उसका निरूपण भले हो गया है।

भारतीय आचार्यों में अलंकारवादी तथा रीतिवादी आचार्यों ने औचित्य

को 'न्याय्य' 'युक्त' 'विधिदर्शितमार्ग' आदि शब्दों से कहा है और उनके यहाँ अलंकार्य शब्दार्थ ही रहा है—अतः औचित्य का बहिरंग पक्ष ही प्रमुखरूप से विचार का विषय बना। वक्रोक्तिवादी कुंतक ने काव्यमार्ग के सामान्यगुण के रूप में उसका उल्लेख कर अपना मत स्पष्ट ही कर दिया। रसवादी क्या ध्वनिवादी आचार्यों ने—जिन्होंने अतरात्मा का उच्छलन ही काव्य माना—औचित्य के अंतरंग एवं बहिरंग—उभयपक्षों के एकान्वित रूप पर अच्छा प्रकाश डाला है, औचित्य को इन लोगों ने रस की परा उपनिषद् बताया। क्षेमेंद्र ने रसको आत्मा और औचित्य को जीवित बताकर दोनों का अविच्छेद्य संबंध स्वीकार किया। परवर्ती आचार्यों ने अवश्य उसे कुछ अनौचित्याभाव की ओर ज्यादा मोड़ दिया। विध्यात्मक पक्ष की उथली व्याख्या की। इसी प्रकार पश्चिम में भी परंपरावादी आचार्यों ने काव्य को कला और कला को सौंदर्य-निरूपक माना और साथ ही इस सौंदर्य का पूर्ण उन्मीलन आंगिक-संगति में स्वीकार किया। इस प्रकार अंगसंगति में औचित्य-विचार को नियंत्रित करनेवाले आचार्यों ने उसके बहिरंग पक्ष पर ही विचार किया। स्वच्छंदतावादी आलोचक सौंदर्य का संबध आंतरतत्त्व से (आत्मा) स्वीकार करते हैं—सौंदर्य अतरात्मा का बहिरुच्छलन है—उसे अनेक माध्यमों से व्यक्त किया जा सकता है—अनुभूतिगोचर किया जा सकता है। ग्राहक के संस्कारों के अनुरूप जितने ही समञ्जस अंगों से उसे झंकृत किया जायगा—उतनी ही मात्रा में वह गृहीत होगा। इन आलोचकों ने आंतरिक सामञ्जस्य-व्यवस्था—पर ज्यादा बल दिया। वस्तुतः सौंदर्य के व्यञ्जक आंतर एवं बाह्य उपकरणों में जितनी ही आनुपातिक एकान्विति होगी उतनी ही सौंदर्य-झंकृति मुखर होती जायगी। ध्वनिवादियों का औचित्य-विवेचन इसी प्रकार का है। परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने आंतर एवं बाह्य तत्त्वों की संतुलित योजना को और उभाड़ कर रखा है। प्रकाशकार की काव्य परिभाषा साक्षी है।

औचित्य के अंतरग एवं बहिरग पक्ष के विवेचन की ही भाँति उभयदेशीय मनीषियों ने औचित्य के कलात्मक एवं सामाजिक रूप पर भी विचार किया है। काव्य में वक्तव्य वस्तु होती है और कवि फिर उसकी कलात्मक नियोजना करता है। औचित्य पर विचार करनेवालों ने इन दोनों ही पक्षों से उसके स्वरूप पर दृष्टिपात किया है। जहाँ तक उसके कलात्मक पक्ष का संबंध है—दोनों ही देशों के मनीषियों ने सौंदर्य-संघटक तत्त्वों की संतुलित योजना पर—समुचित व्यवस्था पर विचार किया ही है। पश्चिम में परम्परावादी आचार्यों ने बाह्यांगों की संगति पर, स्वच्छंदतावादी आचार्यों ने अंतरंग व्यवस्था पर

अपेक्षाकृत अधिक बल दिया है। पश्चिम में अतियथार्थवाद जैसे कुछ आंदोलन ऐसे अवश्य हैं—जो कलाकृति में बुद्धि का दखल नहीं चाहते और व्यवस्था बुद्धि-साध्य ही है। यह दूसरी बात है कि किसी-किसी प्रतिभावान् के अंतर में सौंदर्य का साक्षात्कार वेगवान् होता है—वहाँ निष्प्रयास व्यवस्थित रूप में उसके सघटक अपने आप जुड़ाये रहते है और समर्थक कल्पना उन्हें शब्द एवं अर्थ में बाँध लेती है। परंतु इतना निश्चित है कि सौदर्य बेडौल एवं अव्यवस्थित तथा अनन्वित चित्र में नहीं हो सकता है। यदि कलाकृति सुंदर है—तो अवश्य वहाँ व्यवस्था अंतर्हित होगी। भारतीय आचार्यों में से क्षेमेंद्र ने तो परिभाषा ही दी है कि अनुरूप योजना का ही दूसरा नाम औचित्य संविधान है।

जहाँ तक औचित्य के सामाजिक पक्ष का सबंध है—अभिनवगुप्त प्रभृति महामनीषियों ने यह स्पष्ट कहा है कि काव्य में देश-काल तथा पात्र के अनुरूप ही, समाज की धारणा के अनुरूप ही आचार विचारों का संनिवेश उचित है। यह बात दूसरी है कि समाज की मान्यतायें परिवर्तित होती रहती हैं और इसके साथ-साथ आचार-विचार भी बदलते रहते हैं। औचित्य नियोजक को इस पक्षपर ध्यान देना चाहिए।

जहाँ तक औचित्य के स्रोत का सबंध है—कुछ लोग केवल 'लोक' को ही प्रमाण मानते हैं। निश्चय ही लोक को औचित्य का निकष मानना चाहिये—इसमें दो मत नहीं हो सकते। परंतु लोक परम्परा समर्थित कतिपय काव्य सामग्री के अतिरिक्त काव्य-संसार की कुछ चीजें ऐसी भी हैं—जो शास्त्र परम्परा अथवा काव्य परम्परा का आनुकूल्य भी चाहती हैं। काव्य एवं शास्त्र के अनुशीलन से भी एक ऐसा संस्कार उत्पन्न होता है—जिसके अनुरूप सहृदय लोग काव्यगत सामग्री एवं संविधान में औचित्य एवं अनौचित्य का विचार करते हैं। व्यावहारिक जगत् से काव्य-जगत् का कुछ व्यतिरेक अवश्य होता है और इस व्यतिरिक्तांश में औचित्य का नियामक काव्य एवं काव्यशास्त्र की परम्परा को भी स्वीकार करना चाहिए। वैसे प्रयोगवादी एवं प्रबंधवादी परम्परा को ठुकराकर अपनी बुद्धि और प्रतिभा को प्रमाण मानकर काव्य का सामग्री-संविधान निष्पन्न करते हैं—पर सच पूछा जाय तो उनकी बुद्धि एवं प्रतिभा के संघटक परमाणु क्या 'संतति' (प्रवाह) से विच्छिन्न हैं क्या वे एक प्रवाह के अविच्छेद्य अंग नहीं हैं? निश्चय ही ऐसे 'दर्शन' को, जो कार्यकारण की शृंखला को अस्वीकार करता है—पौरस्त्य एवं पाश्चात्य कहीं के भी सुस्थचेता—मनीषी मान्यता नहीं प्रदान

करते। कुछ परम्परा विरोधी ऐसे भी तथाकथित नवसिखुए साहित्यकार हैं— जो बुद्धिपूर्वक परम्परागत मान्यताओं को सामने रखकर बलपूर्वक उसके विरोधी तत्त्वों को सघटित करते है। पर ऐसे सप्रयास लेखकों की मनोवृत्ति कितनी स्पष्ट है। वे लोग किसी देश की प्रकृति एवं स्वस्थ परम्परा का विरोध करने पर ही यदि उतारू है—तो ऐसे लोगों का अनुरोध हमलोग ही क्यों स्वीकार करें।

संक्षेप में औचित्य संबंधी प्रस्तुत अध्ययन के मेरे ये ही निष्कर्ष हैं।

डॉ० नगेंद्र और व्यंजना

शब्द की व्यञ्जनाशक्ति पर भारतीय साहित्यशास्त्र में दो प्रकार के विचार किये गये हैं—विधिमुखी और निषेधमुखी। एक आधुनिक पण्डित ने उक्त 'विधिमुखी' विचार में एक अध्याय और जोड़ने का प्रयन किया है। व्यञ्जना पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि—व्यञ्जना शब्द की वह शक्ति है जो कल्पना को उकसाये। इस सूत्र की व्याख्या में आगे चलकर उन्होंने यह भी कहा है—अपनी कल्पना का नियोजन करके कवि भाषागत शब्दों को ऐसी शक्ति प्रदान करता है कि उसे सुनकर सहृदय को केवल अर्थ बोध ही नहीं होता, वरन् उसके मन नें एक अतिरिक्त कल्पना भी जागती है जो परिणति की अवस्था में पहुँचकर रससंवेदन में विशेषतः सहायक होती है। शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगानेवाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने व्यञ्जना और रस के इस संवेद्य रूप को रसध्वनि कहा है।'

प्रस्तुत निबंध व्यञ्जना के इस नवाकलित स्वरूप की विवेचना पर एक तोतला प्रयास है। वस्तुतः उक्त परिभाषा एवं उसकी व्याख्या, सुविचारित आधारों पर प्रतिष्ठित न होने के कारण ग्राह्य नहीं हो सकती। व्यञ्जना की उक्त परिभाषा में सर्वप्रथम जो त्रुटि लक्षित होती है, वह यह है कि व्यञ्जना यदि एक शब्द-शक्ति है [डा० साहब इसी रूप में विचार कर रहें हैं] तो उसका कार्य होगा—अर्थ प्रकाशन। शब्द की शक्ति में कल्पना का जागरण सर्वथा नवाविष्कृत सिद्धांत है। [यह कहाँ तक समीचीन है, इसका विचार हम पीछे करेंगे], यद्यपि उक्त व्याख्या में यह बताया गया है कि शब्द

की शक्तियों से अर्थ प्रकाशन होता है, पर डा० साहब ने इस नियम को व्यञ्जनाशक्ति के संबंध में व्यभिचरित बताया है। उन्होंने अपने मंतव्य को स्पष्ट करने के लिये कह दिया है कि शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगानेवाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने व्यञ्जना कहा है। इस वाक्य का 'ही' व्यञ्जना को अर्थप्रकाशन से व्यावृत्त कर रहा है। आश्चर्य तो यह है कि ध्वन्यालोककार को इस उपस्थापन में साक्षी बनाया गया है।

अब, इस विषय में दो प्रश्न उठ सकते हैं—

(i) क्या ध्वन्यालोककार ने गुप्त या प्रकट—किसी भी रूप में व्यञ्जना को कल्पना-जगानेवाली कर्म शक्ति के रूप में कहा है? दूसरा यह कि—

(ii) ध्वन्यालोककार ने यदि ऐसा न भी कहा हो तथापि उक्त कथन, क्या सर्वथा असङ्गत है। या कुछ सङ्गत भी?

जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सबध है ध्वन्यालोककार ने स्पष्ट रूप से यह कहीं भी नहीं कहा है कि व्यञ्जना कल्पना को जगानेवाली एक शक्ति है, इसके विपरीत ध्वन्यालोक के जिन दो उद्योतों-प्रथम एवं तृतीय में व्यञ्जना के स्वरूप पर विचार किया गया है, वहाँ यही सिद्ध करने का प्रयास है कि अभिधेय एवं लक्ष्यार्थ से भिन्न शब्दार्थ की एक तृतीय कोटि भी है, जिसे प्रतीयमान कहना चाहिए और इसी अर्थ की प्राप्ति में शब्द का जो व्यापार है, वही व्यञ्जना है। इस अर्थ प्रकाशन से अतिरिक्त कोई और कार्य व्यञ्जना का है—ध्वन्यालोककार ने ऐसा कही नहीं कहा। प्रकट के अतिरिक्त गुप्त ढंग से भी इनके द्वारा कहा जाना तब स्वीकृत होता जब कि व्यञ्जना के तथाकथित स्वरूप का व्यञ्जक कोई चिन्ह होता। बहुत यत्न करने पर भी कोई ऐसा व्यञ्जक-तत्त्व उनमें उपलब्ध नहीं होता जिससे हम व्यञ्जना के नवाकलित रूप का समर्थन कर सकते। ध्वन्यालोककार का सारा प्रयास व्यञ्जना को एक शब्द की शक्ति बताने में केन्द्रित है और उसका उपयोग जिस प्रकार के अर्थ की प्राप्ति के लिए है, वह है—व्यङ्ग्य। आलोककार ने इस व्यङ्ग्यार्थ के सब तीन ही भेद स्थिर किए हैं—रस, वस्तु एवं अलंकार। डा० साहब के अनुसार व्यञ्जना किसी अर्थ का प्रकाशन, या व्यञ्जना नहीं करती बल्कि कल्पना को क्रियाशील कर देती है, उसे उत्तेजित कर देती है। उत्तेजन एवं प्रकाशन दो भिन्न वस्तुएँ हैं। व्यञ्जना प्रकाशन ही है, उत्तेजन नहीं। आचार्य शुक्ल ने भी कहा है—The word व्यञ्जन literly means 'Making manifest' डा० साहब के हिसाब से व्यञ्जना शक्ति अर्थ को उत्तेजित करती है, व्यक्त नहीं। अतः यहाँ जब व्यङ्ग्य ही नहीं,

तो इस अलंकार और वस्तु के प्रकाशन का कोई प्रश्न ही नहीं है। अतः ध्वन्यालोककार से तो उक्त मत का समर्थन नहीं किया जा सकता।

रहा दूसरा विकल्प। सो, उसकी भी परीक्षा कर लेनी चाहिए। अर्थात् देखना यह चाहिए कि यह मत स्वयं अपने आप में कहाँ तक युक्तियुक्त और सङ्गत है। व्यञ्जना कल्पना को उसकाने वाली एक शब्द-शक्ति है इस वाक्य की संगति या असंगति देखने से पूर्व कल्पना का एक निर्भ्रान्त अर्थ निश्चित कर लेना होगा। व्यवहार में कुछ शब्द तो परम्परा से एक निश्चित अर्थ में चलते रहते हैं और कुछ शब्द अनूदित रूप में नवीन अर्थ भर कर चलते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त शब्दों की एक तीसरी राशि भी होती है, जो किसी विशेष परिस्थिति-वश चट नये अर्थ को धारण कर लेते हैं। इस प्रकार हम सोच सकते है कि (i) 'कल्पना' शब्द आज हिंदी साहित्य में सस्कृत साहित्य से ही एक परम्परागत निश्चित अर्थ लेकर प्रयुक्त हो रहा है। (ii) अथवा किसी विदेशी शब्द के अनुवाद के रूप में नवागत अर्थ लेकर चल रहा है। (iii) अथवा आज परिस्थितिवश 'अर्थ विपर्यय' धारण कर रहा है। वस्तुतः 'कल्पना' 'संस्कृति' 'वाद' 'धर्म' आदि ऐसे शब्द हैं। फिर भी डाक्टर साहब ने 'कल्पना शब्द का जिस एक निश्चित अर्थ में प्रयोग किया है, हमें तो उतने ही से काम है। डा० साहब ने 'कल्पना' शब्द का प्रयोग 'चित्र विधायिनी शक्ति' के रूप में प्रयोग किया है और निश्चित है कि इस अर्थ में 'कल्पना' शब्द, Imagination' शब्द का अनुवाद है। देखिये Imagination शब्द का भी तो वही अर्थ है—"The Faculty of forming images in mind"। उक्त तीन विकल्पों में यहाँ द्वितीय विकल्प ही ग्राह्य जान पड़ता है। पश्चिमी दृष्टि से कल्पना (Imagination) वह शक्ति है, जो अंतःकरण में नव-नव प्रतिमायें ढाला करती है। भारतीय दृष्टि से 'कल्पना' अंतःकरण की चारों वृत्तियों की समष्टि है क्योंकि यहाँ संस्कारों के अनुसंधान, चयन (संकल्प, विकल्पपूर्वक) और निश्चय इन क्रियाओं के माध्यम से व्यक्ति के व्यक्तित्वानुसार (अहं) एक प्रतिमा निर्मित होती है। अस्तु भारतीय साहित्यशास्त्र में कल्पना के समशील यदि कोई शब्द है, तो वह है—'प्रतिभा'। 'कल्पना' के समान ही प्रतिभा का भी परिणाम काव्य है। शेली ने यही तो कहा है—Poetry is repression of Imagintion अर्थात् कविता कल्पना का ही बाह्य रूप है। आचार्य आनंद ने प्रतिभा के संबंध में भी यही कहा है—

सरस्वतीस्वादुतदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभा विशेषम् ॥
(ध्व० प्रथम उ०)

कवि की सरस्वती (वाग्) प्रतिभा विशेष को ही व्यक्त करती है, अर्थात् कविता प्रतिभा का व्यञ्जक है—प्रतिभा का प्रकाशन है। वहाँ भी तो (Imagination) का Expression ही तो poetry है और क्या ? इसके अतिरिक्त जितना ही विचार किया जाय, कल्पना और प्रतिभा एक होती जायँगी। जिस प्रकार 'कल्पना' Faculty of forming images in mind है, उसी प्रकार प्रतिभा भी 'अपूर्व वस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा' है। सारांश यह कि ये दोनो बहुत कुछ एक हैं।

जिस प्रकार कर्ता की दृष्टि से कल्पना और प्रतिभा एक हैं, उसी प्रकार ग्राहक की दृष्टि से भी। ग्राहक को भी अपनी कल्पना की प्रतिभा का उपयोग काव्यार्थ-परिग्रह के लिए अपेक्षित है।

सम्प्रति, इस एकता के आलोक में डा० साहब के उक्त आलोच्य वाक्य को लेना चाहिए जिसमें उन्होंने व्यञ्जना का स्वरूप स्थिर किया है। उन्होंने व्यञ्जना का जो स्वरूप निश्चित किया है, उसके अनुसार कल्पना के जागरण से पूर्व ही व्यञ्जना व्यापार की क्रिया समाप्त हो जानी चाहिए। कल्पना जागरण के अनन्तर [अर्थात् विभाव आदि रूप चित्रों के ग्रहण हो जाने पर] काव्य में रसावस्था तक पहुँचने में जितनी भी मञ्जिलें तय करनी पड़ती हों, आप के मत से तो वहाँ व्यञ्जना का कार्य नहीं हो सकता क्योंकि व्यञ्जना ने तो अपना कार्य पहले ही समाप्त कर लिया है। कल्पना के जग जाने पर ग्राहक की दृष्टि से होता यह है कि ग्राहक उसी शक्ति के बल से कवि के विशेष शब्दों या चित्रमय शब्दों के अर्थों को चित्र रूप में ग्रहण करता है। कर्ता की कल्पना-शक्ति जिन चित्रों से समन्वित करके शब्दयोजना करती है, ग्राहक की कल्पना शक्ति उन्हीं तारों को उघाड़ती है [कभी कभी तो उसके आगे भी बढ़ जाती है] और तब कहीं कल्पित और भावित रसानुभूति तक पहुँचती है। इस भावित सामग्री एवं रसानुभूति के मध्य ऐसा सूक्ष्म व्यवहार होता है कि उसका पता तक नहीं चलता। यही कारण है कि भारतीय आचार्य रस को असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहते हैं। इस प्रकार काव्य से रस तक पहुँचने का क्रम यह हुआ—शब्द-श्रवण-अभिधा समर्पित वाच्यार्थ—भावित अर्थ [साधारणीकृत] रसानुभूति। अर्थात् शब्द श्रवण के अनन्तर प्रथम स्तर पर ग्राहक शब्दों की अभिधा शक्ति से पदार्थों को 'विशेष' रूप में ग्रहण करता है।

द्वितीय स्तर में 'भावना' [अभिनवगुप्त ने इसे भी व्यञ्जना ही कहा है] या जागृत कल्पना से उस 'विशेष' को रसोपयोगी स्थिति में ले आता है, फिर अंत में इन्ही भावित अर्थों की सहायता से रसानुभूति होती है। यह रसानुभूति उन भावित अर्थों से व्यङ्ग्य होती है अर्थात् व्यञ्जना द्वारा आती है। ध्वन्यालोककार एवं ध्वनिवादी आचार्यों की ऐसी ही मान्यता है।इस प्रकार स्पष्ट है कि शास्त्रसम्मत वैयञ्जनिक प्रक्रिया में भावित अर्थ एवं रसानुभूति के बीच भी व्यञ्जनावृत्ति कार्य करती है, जब कि डा० साहब ने उसे प्रथम एवं द्वितीय स्तर के ही बीच समाप्त कर दिया है। प्रथम स्तर है—शब्द श्रवण से अभिधेयार्थ तक पहुँचना और द्वितीय स्तर में हम अभिधेयार्थ (विशेष) से भावित या कल्पित (साधारण) अर्थवाले स्तर तक पहुँच जाते हैं। डा० साहब की व्यञ्जना इस स्तर को पार नहीं करती।

हाँ, वाच्यार्थ एवं भावितार्थ या कल्पितार्थ के बीच भी व्यञ्जना है, [इसी व्यापार को भट्टनायक ने भावना जो किसी अंश तक कल्पना के समकक्ष है, कहा है] पर वह भी कल्पना जागरणकर्त्री शक्ति के रूप में नहीं, बल्कि स्वयं कल्पना के रूप में स्थित है। क्योंकि कल्पना या भावना यदि एक मान ली जायँ तो भावना और व्यञ्जना के एक होने से कल्पना और व्यञ्जना भी एक ही हो जायँगी। अतः इस दृष्टि से भी उक्त परिभाषा ठीक नहीं है।

इस प्रकार डा० साहब की उक्ति की असंगति देखने के अनन्तर एक विचार और शेष है और वह यह है कि क्या कहीं तक, किसी रूप में उनकी उक्ति संगत है ? विचार करने से ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि आखिर शब्द श्रवण एवं वाच्यार्थबोध के अनन्तर जो ग्राहक की कल्पना जगती है, उसका जगाने वाला कौन है ? संसार का कोई कार्य अकारण नहीं होता, अतः कल्पना का जागरण भी अकारण नहीं होगा, अवश्य ही उसका कुछ न कुछ कारण होगा। यहाँ जो कुछ भी दृष्टिगोचर है, वह शब्द ही है, या और बढ़ें, तो उसके वाच्यार्थ ले सकते हैं। अवश्य इन्हीं में से किसी में कुछ ऐसी उत्तेजक शक्ति है जो ग्राहक की कल्पना शक्ति को क्रियाशील बना देती है। यह उत्तेजक शक्ति 'अभिधा' लक्षणा या 'तात्पर्य' तो नहीं हैं, कारण है इन शक्तियों की कल्पना में अपेक्षित उपकरणों का अभाव। पर है यह उसी शब्द एवं अर्थ में से किसी की शक्ति। अब प्रश्न है उसी संज्ञा का। कल्पना के इस उत्तेजन में शब्द एवं अर्थ की महत्ता न मानकर सहृदय ग्राहक की ही व्यक्तिगत विशेषता मानें, तब भी यह प्रश्न बना रह जाता है कि उसकी यह व्यक्तिगत विशेषता जो कल्पना को सजग करती है, क्यों

अचानक कार्यशील हो गई ? यहाँ अतिरिक्त इसके कि इसे शब्दार्थ की सामर्थ्य मानी जाय, इसका कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

अब, इस पर भी यह कहा जा सकता है कि शब्द की यह सामर्थ्य व्यञ्जना शक्ति इसलिए नहीं है कि वह किसी प्रकार के शब्दार्थ को देने में सक्षम नहीं है। शब्दार्थ की शक्ति वही है, जो किसी न किसी प्रकार का अर्थ दे। व्यञ्जना के जिन दो रूपों (भावना-भोग) की चर्चा पीछे की गई है, उनसे हमें किसी न किसी प्रकार के अर्थ ही मिलते हैं। भावना के रूप में व्यञ्जना साधारणीकृत रूप में अर्थ ही तो देती है, जो पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार द्वितीय स्तर का कार्य है। भोग के रूप में तृतीय स्तर की व्यञ्जना तो 'रस-रूप' अर्थ देती ही है। व्यञ्जना के इन दोनों रूपों से पृथक् डा० साहब की व्यञ्जना है। पर साथ ही यह कहा ही जायगा कि व्यञ्जना के इस नवाकलित रूप में अर्थ-दान की सामर्थ्य नहीं, अतः अर्थदात्री शब्द की शक्तियों में इसका कोई भी स्थान नहीं हो सकता।

कहा जा सकता है, कि प्राचीनों ने व्यञ्जना के इस नव-रूप का उन्मीलन नहीं किया—केवल इसी कारणवश अस्वीकृति, मात्र परम्परा की पूजा है। यह अर्थ दात्री नहीं, इसीलिए शब्द की शक्तियों के बीच स्थान नही दिया जा सकता। यह तर्क भी एक बँधी हुई धारणा की आवृत्ति ही है। अतः दोनों ही माननीय नहीं हैं। सारांश यह कि इसे शब्द की एक शक्ति के रूप में मानना चाहिए और उसे व्यञ्जना नाम देना चाहिए। हमारे विचार से अन्तिम निर्णय तो यह है कि शब्दार्थ की इस तथाकल्पित सामर्थ्य को व्यञ्जना नहीं, बल्कि भावना = कल्पना = की उत्थापक सहकारी सामग्रियों में से एक मान लेना चाहिए और इस रास्ते प्राचीन तथा नवीन दोनों की उपस्थापनायें समञ्जस रह जायँगी।

'भक्तिवाद'—एक प्रश्न

आनंदवर्द्धन ने 'ध्वनितत्त्व' की स्थापना या स्वरूपचर्चा करने से पूर्व कुछ ध्वनिविरोधियों की कल्पना की है, जिन्हें क्रमशः अभाववादी[1], भक्तिवादी[2] एवं अनिर्वचनीयतावादी[3] कहा जाता है। अभाववादी ध्वनितत्त्व नामक वस्तु की किसी भी रूप में सत्ता नही स्वीकार करते। भक्तिवादी उस ध्वनितत्त्व को मानते हैं, परंतु उसे भक्ति या 'लक्षणा' से पृथक् नहीं मानते और 'अनिर्वचनीयतावाद' वालों का यह उद्घोष है कि ध्वनिततत्त्व की सत्ता है, और 'भक्ति' से पृथक् अस्तित्व भी, परतु उसकी विशेषताएँ इतनी सूक्ष्म है कि बुद्धि की पकड़ में आती ही नहीं और इसीलिए उन अग्राह्य विशेषताओं से उस तत्त्व का निर्वचन नहीं किया जा सकता। हाँ, तो 'भक्तिवाद' के सबंध में आनदवर्द्धन का यह वक्तव्य है कि इस वाद का कोई प्रवर्तक इनसे पूर्व था नहीं, बल्कि स्वय अपनी बुद्धि से इस वाद की इन्होंने ही परिकल्पना[4] की। परिकल्पना का बीज यह बताया कि प्राचीन आलंकारिकों ने लक्षणावृत्ति या भक्तिवृत्ति की चर्चा अनेकशः की—अनेक चामत्कारिक अलकारों में उसका उपयोग बताया। लक्षणा का प्रयोग परंपरा या प्रयोजनवश होता है। परंपरा का अनुरोध मानकर चलनेवाली लक्षणा का चमत्कार मरा होता है, जीता रहता है तो केवल प्रयोजन का नियंत्रण मानकर गतिशील रहनेवाली लक्षणा का। सारांश यह कि यही प्रयोजनवती लक्षणा चामत्कारिक प्रयोगों का बीज मानी गई। लोचनकार[5] अभिनवगुप्तपादाचार्य ने ऐसे आलंकारिकों की परंपरा दी है, जिन्होंने लक्षणा की चर्चा

---

१. 'तस्याभावं जगदुरपरे'—ध्वन्यालोक, प्र० उ०, पृ० १।

२. 'भाक्तमाहुस्तमन्ये'—वही।

३. 'केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्'—वही।

४. 'तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्—'भाक्तमाहुस्तमन्ये'—वही, पृ० ३२।

५. 'भामहेनोक्तं शब्दाँश्छन्दोऽभिधानार्थाः' इति अभिधानस्य शब्दाद्भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो वभाषे—'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिं च' इति। वामनोऽपि 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' इति।—लोचन, पृ० ३२।

की, परंतु ऐसे लक्षणागर्भ प्रयोगों में जो 'प्रयोजनांश' निहित रहता है, जिस पर सारा प्रयोग-गत-चमत्कार निर्भर है, उसकी प्रतीति में क्रम व्यंजनावृत्ति का नाम नहीं लिया। व्यंजना नाम का अनुल्लेख ही निषेधात्मक प्रमाण है और उसी के बल पर आचार्य ने यह कल्पना की कि संभव है उन आलकारिकों ने व्यंजना को (जो किसी रूप में ध्वनितत्त्व है) लक्षणा से पृथक् न माना हो।

बड़े आश्चर्य की बात यह है कि आनंदवर्द्धन (८५६ ई०) के ठीक बाद और संभवतः अत्यधिक सनिहित होनेवाले मुकुलभट्ट (९-१० शतक) ने आनंदवर्द्धन के इस पक्ष का कि ध्वनितत्त्व 'भक्ति' से भिन्न है—पूर्णतः खंडन किया है और कहा है कि उन्होंने अपनी कृति में शब्द-शक्ति-संबद्ध जो कुछ विचार किया है वह केवल यह दिखाने के लिए कि ध्वनिमार्ग सारा का सारा लक्षणामार्ग का ही अवगाहन करता है और इसलिए सहृदय का यह कहना कि ध्वनिमार्ग सर्वथा नूतन है—बिलकुल तथ्यहीन[1] है।

मुकुल का यह खंडन कुछ विचित्र जिज्ञासा को जन्म देता है। ध्वन्यालोककार ने जिस पक्ष को इतने विशाल समारंभपूर्वक स्थिर किया, उसे मुकुल ने बिना किसी तर्क के यह कह दिया कि ध्वनिमार्ग अक्षरशः लक्षणा का ही अनुगमन है। क्या सचमुच ध्वनि के जिन प्रभेदों की चर्चा आनंदवर्द्धन ने की है, उन प्रभेदों की चर्चा लक्षणामार्ग में होती आ रही थी? अथवा स्वयं मुकुल ने ही उन प्रभेदों की संभावना लक्षणामार्ग में भी की? मुकुल ने कहा है कि किस प्रकार लक्षणाप्रभेदों को ध्वनिकार ने आत्मसात् किया है इसकी दिशाभर उन्मीलित करने का प्रयास किया है, यों कहा तो बहुत कुछ जा सकता है। मुकुल के इस कथन से वह संभावना की जा सकती है कि यदि मुकुल सर्वथा नई बात कहते होते तो उसे सिद्ध करने के लिए अपना वक्तव्य देते और खूब देते। कोई भी बात इतनी उपेक्षा के साथ तभी कही जाती है जब वह बात बहुत ही प्रसिद्ध हो। तो क्या यह बात मुकुलभट्ट तक इतनी प्रसिद्ध हो चुकी थी कि उन्हें इस विषय में इतने हलके ढंग से कहना पड़ा? इस हलके ढंग से किए गए खंडन से यह अनुमान किया जा सकता है कि संभव है भक्तिवादी धारा कोई रही हो। पर ऐसा कहने में लोचनकार एक बड़ी जबर्दस्त रुकावट डालनेवाले हैं। लोचनकार एक सजग अध्येता हैं और वे मुकुल के परवर्ती हैं। यदि ऐसी जीवित धारा कोई

---

१. 'लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमुक्तम्—अभिधावृत्तिमातृका, पृ० २१।

होती तो उसका पता उन्हें होता और पता होता तो उन्होने उसका उल्लेख किया होता पर यह सब कुछ नहीं। बात यहीं तक होती तो भी कुछ गनीमत थी, भोजराज ने भी कुछ ऐसी बातें की जिनसे यह अनुमान पुनः सिर उठाने लगता है। भोजराज ने अपने सरस्वती:ंठाभरण में प्रसंगवश द्वितीय परिच्छेद में प्रकीर्ण-घटना की चर्चा चलाई है और कहा[1] है यही लक्षण आदि शब्द-शक्तियो के उपयोग ी बात सुनी जाती है। इसी प्रसंग में एक उदाहरण देकर उसकी व्याख्या में यह कहा है कि रस आदि भी लक्ष्य[2] ही हैं। ध्वनि-संप्रदायानुयायियों ने इस बात का खडन किया है कि लक्षणा शक्ति द्वारा एक अन्वयोपयोगी अर्थ की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् प्रयोजनात्मा अर्थ के लिए लक्षणा नहीं, व्यंजना ही कार्यकर हो सकती[3] है। पर इस सिद्धांत की अवहेलना करते हुए भोजराज ने प्रयोजनांश को भी लक्ष्य[4] ही कहा और इसके टीकाकार रत्नेश्वर[5] ने भी दोहरी एवं तेहरी लक्षणा तक की भी चर्चा की है। इससे स्पष्ट है कि ये लोग भी व्यंजना को लक्षणा में ही समेटना चाहते हैं।

सारांश यह कि मुकुल एवं भोजराज में 'भक्तिवाद' की सरस्वती जो गुप्त-प्रकट प्रवाहित होती हुई परिलक्षित होती है, क्या उसकी निश्चित सीमा मुकुल ही हैं अथवा उनसे भी पूर्व का अतीत उसे क्रोडीकृत किए है?

———

१. 'तेन या इमा महाकविप्रबंधेषु मुख्य गौणीलक्षणास्तद्भावापत्तिरुपचरिता लक्षितलक्षणेतिशब्दवृत्तयस्ता अपीह श्रूयन्ते—सरस्वतीकंठाभरण, पृ० १८५।

२. वही, पृ० १८६।

३. काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास।

४. वही, पृ० १८६।

५. 'एवं लक्षणात्रय पूर्वाऽपि लक्षणा बोद्धव्येत्याह'—पृ० १९० 'रत्नदर्पण' टीका (सरस्वती कठाभरण)।

[रसगत (काव्यीय) गुणों की तारतमिक स्थिति]

'गुण' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है। मीमांसकों की 'गुण[1]-विधि' में गुण अप्रधान का पर्याय है। जैमिनि महर्षि के सूत्रों में 'गुणत्वन्याय[2] कल्पना' में गुण का अर्थ लक्षण अथवा लक्षणा के लिये भी हुआ है। सांख्यतत्त्वकौमुदीकार ने 'गुणा[3] इति परार्थाः' के द्वारा गुण से 'परार्थ' भी समझा है। कोषकारों ने गुण के अनेक अर्थों में 'रस्सी' को भी रखा है[4] और महर्षि कणाद ने द्रव्याश्रित कुछ परिमित धर्मों को गुण सज्ञा[5] दी है। व्यवहार[6] धर्मसामान्य में 'गुण' शब्द का प्रयोग चलता है। काव्य में गुण शब्द का प्रयोग इसी अंतिम अर्थ में ही देखा जाता है। भामह[7] शब्दार्थ धर्म, आनंदवर्द्धन [8] रस-धर्म एवं पंडितराज जगन्नाथ[9] शब्द, अर्थ, वर्ण, रचना एवं रस आदि में रहनेवाली चित्त द्रवादि की प्रयोजकता के ही अर्थ में काव्यगुण का प्रयोग करते हैं।

अर्थ एवं आश्रय के अतिरिक्त गुणों की सख्या के संबंध में भी भी मतभेद है। भरत[10] ने दस, भामह ने तीन, वामन ने बीस[11], भोजराज[12]

---

१. न्यायप्रकाश, पृ० १२।

२. ६।३।५।१५ जैमिनी मीमांसादर्शन।

३ सांख्यतत्त्व कौमुदी, पृ० १३१।

४. अमरकोष, तृतीयकांड, नानार्थवर्ग, ४६।

५. अ० १ सू० १६ वैशेषिक दर्शन।

६. इस व्यक्ति और उस वस्तु में काफी गुण हैं—व्यवहार वाक्य।

७. काव्यालकार, पृ० २१, २२, द्वितीय परिच्छेद, श्लोक संख्या १, २।

८ ध्वन्यालोक, द्वि० उ० पृ० २०४ 'तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः'।

९. 'प्रयोजकत्वं चादृष्टादिविलक्षणं शब्दार्थरत्नश्चानागतमेव ग्राह्यम्'—रसगंगाधर पृ० ६६।

१०. भरत नाट्यशास्त्र, अध्याय १७, पृ० सं० ६६।

११. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, तृतीय अधिकरण, प्रथम अध्याय, पृ० १४—२०

१२. सरस्वतीकंठाभरण, प्रथम परिच्छेद, श्लोक, ६१, ६२।

ने चौबीस एवं पंडितराज[1] ने अपनी कुछ विचित्र ही उपस्थापना की है। गुणों की संख्या और मान्यता के विषय में पंडितराज ने 'जरन्', 'जरत्तर' तथा 'मादृश' प्रतीकों से तीन प्रतिनिधि मतों की चर्चा[2] की है। 'जरत्तर' में वामन, 'जरन्' में ध्वनिप्रस्थापक परमाचार्य आनंदवर्द्धन या ध्वनिमार्गानुयायी मम्मट प्रभृति तथा 'मादृशाः' में स्वयं पंडितराज की स्थिति है।

काव्य के चमत्काराधायक तत्त्वों का व्यवस्थित, संगत एवं समंजस स्थान निर्धारित करनेवालों में ध्वनिमार्गानुयायियों का मूर्द्धन्य स्थान है। इन लोगों ने देखा कि वामन जैसे जरत्तर आलंकारिकों ने गुणों की जितनी सख्या मानी है और उनका जो स्वरूप स्थित किया है, वह संकीर्ण है। उनके गुणो में से कुछेक दोष हैं, कुछ दोषाभाव। कुछ अलंकारों में अंतर्भूत हो सकते हैं, तो कुछ रस एवं गुणीभूत व्यग्य में और कुछ तो सचमुच गुण कहे जा सकते हैं।[3] विचार करने से सब मिलाकर प्रमुख रूप में तीन ही गुण ठहरते हैं।

पंडितराज[4] ने गुण की उपर्युक्त संख्या एवं स्वरूप के संबंध में आपत्ति उठाई और कहा कि वैसा मानने में कोई प्रमाण नहीं। गुणत्रयवादियों का पक्ष है कि रसानुभूति के फलस्वरूप अंतःकरण की तीन दशाएँ होती हैं—द्रुति, दीप्ति एवं विकास। तार्किकों की दृष्टि से अंतःकरण[5] अणु एवं निरवयव है, अतः द्रुत्यात्मक परिणाम असंभव है, क्योंकि परिणाम सावयव पदार्थ का ही हो सकता[6] है, तथापि वेदांतियों के मत से सारी भौतिक सृष्टि 'पंचीकरण'[7] या 'त्रिवृत्करण'[8] से निष्पन्न है, अतः पार्थिवांशता तथा अवयव संपत्ति होने के कारण 'द्रव' या 'द्रुति' का होना

---

१. रसगंगाधर ६६।

२ वही, पृ० ६७—६६।

३ 'केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः। अन्ये भवन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश' काव्यप्रकाश पृ० ४७८।

४. रसगंगाधर पृ० ६८।

५. मुक्तावली, गुणनिरूपण, श्लो० सं० ८५।

६. वेदांत परिभाषा, पृ० ३७।

७. समणिप्रभाशिखामणि सहित वेदांतपरिभाषा, विषय परिच्छेद, पृ० ३१५।

८. शिखामणि टीका (वेदांतपरिभाषा) पृ० ३१७।

संभव है। अस्तु, तो बात यह चल रही थी कि रसानुभूति-जनित अंतःकरण की तीन दशाएँ होती हैं, अब देखना यह है कि इन तीन अवस्थाओं की उत्पत्ति 'रस' से ही होती है या रस में रहनेवाले किसी रसातिरिक्त तत्त्व से। गुणत्रयवादियों का पक्ष है कि यदि इन त्रिविध अवस्थाओं का निमित्त रस को माना जाय, तो 'रस' की संख्या नव है फिर जब कारण नव है तो कार्य किस प्रकार तीन ही हो सकेंगे अतः मानना होगा कि कोई तीन ही तत्त्व निमित्त हैं। वे तीन तत्त्व हैं—माधुर्य, ओज एवं प्रसाद। शृंगार, करुण एव शांत में 'माधुर्य', वीर, वीभत्स एवं रौद्र मे 'ओज' तथा सर्वत्र 'प्रसाद' की स्थिति[1] है। हास्य, भयानक एवं अद्भुत की सामग्री सकीर्ण रूप में संभव[2] है, अतः गुणों की भी स्थिति वहाँ संकीर्ण होती है। अभिनवगुप्तपाद[3] ने तो हास्य, भयानक, वीभत्स एवं शांत—इन चार में माधुर्य तथा दीप्ति की यथासंभव स्थिति मानी है। लोचनकार अभिनव गुप्त ने इन चारो में गुण की स्थिति का और अधिक तलस्पर्शी विवेचन करते हुए कहा है कि हास्य शृंगार का अंग है, अतः उसमें 'माधुर्य' तथा 'विकास' जनक होने के कारण 'ओज'—ये दोनों समकक्ष रूप में स्थित रहते हैं। 'भयानक' में विभाव दीप्त रहता है अतः 'ओज' की 'प्रकृष्टता तथा 'माधुर्य' की अल्पता रहती है। वीभत्स की भी यही स्थिति है। 'शात' में ओज तथा माधुर्य की प्रकृष्टता उसकी सामग्री पर निर्भर है। वहाँ कभी माधुर्य और कभी ओज की प्रकृष्टता संभव[4] है। इस प्रकार द्रुति का कारण माधुर्य, दीप्ति का ओज और विकास का प्रसाद निमित्त माना गया है और तीन गुणों की सत्ता सिद्ध की गई है। पंडितराज इसे प्रमाणहीन मानते हैं कि रसनिष्ठ, परतु रसभिन्न द्रुति, दीप्ति एवं विकास के जनकरूप में 'गुण' कोई पदार्थ है। 'गुण' कहने को कहा जा सकता है, अतः 'मधुर-रस' 'मधुर-रचना' यह लौकिक व्यवहार उत्पन्न हो सकता[5] है, परंतु विवाद इस बात पर है कि गुणों का स्वरूप क्या माना जाय ?

---

१. काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास, पृ. ४७७ 'प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहित-स्थितिः ।'

२. काव्यप्रकाश—प्रदीपोद्योत, पृ० ३९६ ।

३. लोचन, पृ० १२ ।

४. वही ।

५. रसगंगाधर पृ० ६६ ।

विपक्ष में पंडितराज[1] के तर्क हैं कि क्या जिस प्रकार अग्निगत अग्नि-भिन्न औष्ण्य 'दाह' पैदा करने में कारण है, और यह 'औष्ण्य' गुण प्रत्यक्ष सिद्ध है, उसी प्रकार रसगत, रसभिन्न 'द्रुतिजनक' माधुर्य भी प्रत्यक्ष सिद्ध है? कदाचित् नहीं और इस रूप में अनुमान करना कि किसी धर्म से युक्त होकर ही रस 'द्रुति' आदि के कारण हो सकते हैं, क्योंकि कारण-मात्र किसी न किसी धर्म से युक्त ही कोई कार्य पैदा करते हैं। अतः ये ही धर्म गुण हैं और कार्य के अनुरोध से इन्हें तीन ही मानना चाहिए—तो यह तर्क भी अकारण है। कारण यह है कि ये धर्म क्यों द्रुति आदि के जनक माने जाएँ, स्वयं रस को ही कारण क्यों न माना जाय? कहा जा सकता है कि जब कर्म तीन ही हैं तो कारण नव क्यों माने जाएँ? पर यह वितर्क इसलिए निर्मूल है कि कार्य भी तरतमभाव रखने के कारण नव हो जाते हैं। स्पष्ट ही प्रकाशकार[2] ने कहा है कि संभोग से अधिक द्रुति करुण में, उससे भी अधिक विप्रलंभ में और उससे भी अधिक शांत में होती है। निष्कर्ष यह कि द्रुत्यादि का कारण रस को ही मानना सगत है, रस में रहनेवाले किसी अतिरिक्त धर्म को नहीं।

दूसरा तर्क विपक्ष में यह भी दिया जा सकता है कि आत्मा निर्गुण है, अतः उसमें गुण कहाँ से आ जायगा?[3] 'रस' काव्य की आत्मा ही तो है, उसमें कैसा गुण?

'साहित्यसार'—कार अच्युतराय[4] ने इन तर्कों का प्रत्युत्तर दिया है। जहाँ तक प्रथम तर्क की बात है, उस विषय में उनका निवेदन है कि कार्य के तरतमभाव को लेकर कारणभेद का विचार नहीं किया जाता। 'दाह' में तारतम्य होने पर भी विभिन्नस्तर के 'दाह' का कारण विभिन्न 'औष्ण्य सपन्न अग्नि' नहीं मानी जाती, बल्कि सीधे 'दाह' और 'उष्ण आग' में ही कार्य-कारण-भाव संबंध स्वीकार किया जाता है। उसी प्रकार तरतमभाव मानकर विपक्षी का तर्क व्यर्थ है। रहा दूसरा पक्ष, सो उस विषय में भी इतना ही समझें कि जिस प्रकार निरुपाधिक ब्रह्म निर्गुण है, पर सोपाधिक सगुण, इसी प्रकार स्थायी रूप उपाधि से युक्त

---

१. रसगंगाधर, पृ ६७, ६८।

२. काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास, पृ० ४७५।

३. रसगंगाधर, पृ० ६६।

४. साहित्यसार, ७ गुणरत्न, पृ० ३२४—३२७।

'चिदात्मा' रस भी सगुण हो सकता है। 'रस' के स्वरूप को संशोधित करते हुए पंडितराज ने माना भी है—'रत्यवच्छिन्ना[1] चिदेव रसः'। जिस प्रकार इच्छा (गुण) में 'इच्छात्व' धर्म है, वैसे ही स्थायी का धर्म गुण हो सकता है। इस प्रकार पुनः गुणत्रयवाद की स्थापना हो जाती है।

तीन गुणों की स्थिति मान लेने पर दूसरा प्रश्न उठता है कि गुणों की रसगत स्थिति किस क्रम से है। इस विषय में भी आचार्यों का मतैक्य नहीं है। इस विषय में सबसे पहले ध्वन्यालोककार[2] को ही लें। माधुर्य के संबध में इनका वक्तव्य है—'शृंगारे विप्रलंभाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्'—अर्थात् संभोगशृंगार के पश्चात् विप्रलंभ शृंगार और उसके बाद माधुर्य का प्रकर्ष करुण में दिखाई पड़ता है। लोचनकार[3] ने इस 'प्रकर्षवत्' का अर्थ किया है—'प्रकर्षवदिति उत्तरोत्तरं तरतमयोगेनेति भावः'—यह प्रकर्ष उत्तरोत्तर बढ़ता है। ओज के संबंध में वक्तव्य यों है—'रौद्रादयो रसा दीप्ताः लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः'[4]। दीप्ति रौद्रादि रस का असाधारण लक्षण है। लोचनकार ने इस 'आदि' से वीर एवं अद्भुत का भी ग्रहण किया है। इन पाँच रसों के पश्चात् अवशिष्ट चार रसों हास्य, भयानक, वीभत्स एव शांत के संबंध में आनंदवर्द्धन ने तो कुछ भी नहीं कहा, पर लोचनकार का मत इस विषय में पहले ही उल्लिखित हो चुका है।

प्रकाशकार मम्मट का क्रम उक्त आचार्यों से कुछ भिन्न है। प्रकाशकार मानते हैं कि संभोग शृंगार से अधिक करुण में, उससे अधिक विप्रलंभ में और सर्वातिशायी शांत में माधुर्य की स्थिति[5] है। कुछ लोग इनके सूत्र की योजना अन्य ढंग से भी करते हैं और कहते हैं कि संयोग शृंगार से करुण, विप्रलंभ एवं शांत में समकक्ष उत्कर्ष माधुर्य का रहता है।[6] यह भी उक्त सूत्र से खींचा जा सकता है। ओज के संबंध में वीर, वीभत्स तथा रौद्रगत तारतमिक उत्कर्ष इष्ट ही है। उद्योतकार नागेश भट्ट ने माना है

---

१. रसगंगाधर, पृ० २७।
२. ध्वन्यालोक, पृ० २०७।
३. लोचन पृ० २०७।
४. ध्वन्यालोक, पृ० २०८।
५. काव्यप्रकाश, पृ० ४७५, अष्टम उल्लास।
६. रसगंगाधर, पृ० ६७।

कि शेष तीन रसों में दोनों गुणों का यथायोग्य सांकर्य संभव है[1]। साहित्यदर्पणकार[2] ने प्रकाशकार का ही क्रम अपनाया है।

पंडितराज जगन्नाथ ने इस तारतम्य के विषय में तीन मतों का उल्लेख किया है, जिनमें से दो तो प्रकाशकार के मत के व्याख्यान के रूप में ऊपर कहे ही जा चुके हैं, शेष यों है—सयोग शृंगार से अधिक या समकक्ष माधुर्य करुण एवं शांत में हैं और विप्रलंभ में इन दोनों से भी अधिक[3] है।

प्रदीपकार ने क्रम तो वही प्रकाशकार वाला ही माना है, पर इतना अधिक कहा है कि संभोग एवं विप्रलंभ में माधुर्य निःसंपन्न रहता है, पर शांत का माधुर्य ओजोतोश से अनुविद्ध रहता है। ओज के विषय में इनका वक्तव्य है कि वीर एवं रौद्र में ओज का निःसंपन्न अवस्थान है, पर वीभत्स में माधुर्य का भी लेश रहता है[4]। उद्योतकार ने क्रम के विषय में कुछ तर्क भी दिए हैं।[5]

काव्यप्रकाश के सुख्यात टीकाकार वामन ने इस क्रम की उपपत्ति के विषय में उद्योतकार का अनुसरण कर थोडा बहुत कुछ कहा है।[6] उनका कहना है कि द्रुति, राग, द्वेष के विनष्ट होने से चित्तगत काठिन्य गल जाता है और निसर्गतः, द्रवशील अंतःकरण पिघल जाता है। काव्यीय व्यापार 'हृदय' गत 'स्व - पर - भाव' पर धीरे-धीरे पानी फेरता जाता है और इसीलिए तन्मूलक राग, द्वेष भी बिखरता जाता है। असल में विषय का चित्त से जितने अंश में संबध हटता है, द्रव की मात्रा में उसी क्रम से वृद्धि होती जाती है। विषय का अपेक्षाकृत अधिक संबंध संभोग शृंगार में संभव है, क्योंकि उसमें प्रिय के बाहर रहने से वृत्ति बहिर्मुख रहती और वृत्ति के बहिर्मुख रहने से विषय का अधिकाधिक संबध संभव ही है। करुण में निर्वेद सचारी भाव है। निर्वेद विषय से वैमुख्य ही है। अतः यहाँ विषय संबंध की कमी होने से 'द्रव' की मात्रा बढ़ जाती है। विप्रलंभ का भी सचारी भाव निर्वेद है, अतः इसी दृष्टि से वह करुण के ही समान है, फिर भी करुण की भाँति यहाँ

---

१. प्रदीपोद्योतटीका (काव्यप्रकाश) पृ० ३९३।

२. साहित्यदर्पण, अष्टम परिच्छेद, पृ० ५३६–५३७।

३ रसगंगाधर, पृ० ६७।

४. काव्यप्रदीप, पृ० २७९, २८०।

५ काव्यप्रकाश टीका वामनी, पृ० ४७५-४७६।

६. काव्यप्रकाश टीका उद्योत, पृ० ३९२।

स्थायी शोक उद्द्रेजक नहीं होता, अतएव द्रुति की दृष्टि से विप्रलंभ का स्थान करुण के आगे है। शांत का संचारी नहीं, निर्वेद स्थायीभाव है अतः यहाँ सर्वाधिक विषय का संबंध तिरोहित होता है। यही कारण है कि यहाँ 'द्रव' सर्वातिशायी होता है।

'दीप्ति' एक प्रकार की चित्त की ज्वलित दशा है। इसका क्रमिक अतिशय वीर, वीभत्स एवं रौद्र में होता है। वीर का स्थायी भाव उत्साह है, जो सात्त्विक कोटि का कहा जाता है। इसका आलंबन अहंकारी शत्रु है, जिसकी विजय मात्र—अहंकार-खंडनमात्र—ईप्सित रहती है। वीभत्स में आलंबन का किसी भी स्थिति में सामने रहना चित्त-ज्वलनकारी होता है। वीर में जिगीषा एवं वीभत्स में जिहीर्षा होती है। रौद्र का आलंबन अतिशय ज्वलनकारी होता है, अतः रौद्र में उसको संसार से ही उठा देने की स्थिति रहती है। अर्थात् यहाँ रौद्र में जिघांसा होती है।

शेष रसों में एव इतर क्रमों के सबध में जो मतभेद है, उस विषय में समन्वय की दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि जिस हृदय की वासना जिस क्रम की होगी, उसे उसी के अनुकूल द्रुति एवं दीप्ति का क्रम अनुभूत होगा। इसीलिए पंडितराज ने भी कहा है कि अन्य क्रमों में सहृदय ही प्रमाण[1] है। दूसरे यह भी है कि यदि क्रमों के संबंध में कोई एक निश्चित मत होना ही चाहिए—यह आवश्यक होता, तो एक विशेष एवं विपरीत क्रम का निर्धारण करनेवाले प्रकाशकार पूर्ववर्ती मतों की अवश्य आलोचना करते। आदरणीय होने के कारण आनंदवर्द्धन को अनालोचित न छोड़ दिया जाता, कारण यह है कि रसदोष के प्रकरण में स्वयं मम्मट ने 'सत्यं मनोरमा रामाः' आदि श्लोकों में आनंदवर्द्धन की आलोचना[2] की है। इस प्रकार तर्कानुमोदित अनुभव से यही सिद्ध जान पड़ता है कि गुणक्रम सहृदयों की भावना के ही अनुसार संभव है।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ६७।

२. काव्य - प्रकाश, पृ० ४४८ (वामनी)।

पंडितराज की कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभाएँ असाधारण हैं। जहाँ वे एक ओर अपनी कारयित्री प्रतिभा पर गर्व करते हुए अपने लक्षणग्रंथ में परकीय काव्य का ग्रहण नहीं करते और उदाहरणानुरूप नूतन निर्माण ही पसंद करते हैं तथा साथ ही यह गर्वोक्ति भी करते हैं कि कहीं कस्तूरीमृग अन्य सुमनों की गंध को मनसा भी ग्रहण करना चाहता[1] है वहीं अपनी भावयित्री प्रतिभा के संबंध में वे कहते हैं कि भले अन्यान्य सहृदय धुरीण अर्थों का परिष्कार करते रहें, पर क्या उनके प्रयास से मेरा प्रयास गतार्थ हो सकता है? तिमींद्रों के संक्षोभ से कहीं मंदराचल का आयास निष्फल हो सकता[2] है? ऐसा धुरीण मनीषी विभिन्न साहित्यिक सिद्धांतों में भी अपनी अनेकविध मौलिकता क्यों न प्रदर्शित करेगा?

काव्यलक्षण और पंडितराज

संस्कृत-लक्षणग्रंथों में काव्य के स्वरूप के संबंध में कुल तीन प्रकार की धारणाएँ मिलती हैं—१. शब्दवादी, २. अर्थवादी एवं ३. शब्दार्थवादी[3]। मध्यम धारा का नाममात्र ही उल्लेख है, शेष दो धाराएँ भी अपने दो-दो अवांतर रूपों में मिलती हैं। वे दो अवांतर रूप हैं—सामान्य धारा एवं विशिष्ट धारा। सामान्य काव्य का लक्षण सामान्य धारा में और विशिष्ट या उत्कृष्ट काव्य का लक्षण विशिष्ट धारा में मिलता है। उदाहरणार्थ, शब्द को ही काव्य माननेवाली शब्दवादी धारा का सामान्य रूप 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'[4] में और विशिष्ट रूप चंद्रालोककार के काव्यलक्षण[5] में मिलेगा। इसी प्रकार शब्दार्थवादी धारा का सामान्य रूप भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'[6] में और विशिष्ट रूप मम्मट की 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'[7] में मिलेगी। पंडितराज यद्यपि प्राक्तन प्रवाहित शब्दधारा में ही अपने काव्यलक्षण—'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः

---

१. रसगंगाधर, पृ० ५।

२ वही।

३. भारतीय साहित्यदर्शन।

४. साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद।

५. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालंकाररसानेक वृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक् ॥—चंद्रालोक

६. काव्यालंकार, प्र० प०।

काव्यम्'[1], को रखते है—पर अनेक ढंग से उसमें मौलिकता और नवीनता भी प्रदर्शित करते हैं। पहले तो वे शब्दार्थवादियो के सामान्य आधार का ही खडन करते हैं और आगे चलकर सामान्य एव विशिष्ट धाराओ के स्वरूपाधायक तथा उत्कर्षाधायक विशेषणों की आलोचना करते हुए अपने मत की श्रेष्ठता समर्थित करते है। जो लोग शब्दार्थयुगल में काव्य पद की शक्ति स्वीकार करते हैं—दोनो को काव्य कहते है। उनके विरोध में पंडितराज के तीन तर्क है—पहला यह है कि शक्तिग्राहक लोकप्रमाण विरोध में है। वह इस प्रकार कि 'काव्य सुनने लायक है' जब हम ऐसे लौकिक प्रयोग सुनते हैं, तो निश्चय काव्य को सुनने का विषय ही समझते हैं और सुनने का विषय शब्द ही हो सकता है, न कि शब्द और अर्थ, दोनो। दूसरा तर्क यह है कि आस्वादोद्बोधक होने के कारण शब्द एवं अर्थ दोनो को काव्य नहीं कहा जा सकता। कारण, इस तर्क की अमान्यता; अन्यथा राग भी रसव्यजक होने से काव्य कहा जा सकता है। तीसरा तर्क यह है कि जो लोग शब्द अर्थ दोनो को काव्य मानते हैं, उन लोगो का मंतव्य क्या हो सकता है? क्या दोनो मिलकर काव्य है अथवा दोनों पृथक्-पृथक् काव्य है? जहाँ तक पहला पक्ष है वह उतना ही असंगत है जैसे, दो को एक कहना। दूसरे पक्ष में सहृदय लोग विरुद्ध हैं, अन्यथा प्रत्येक काव्य में अर्थ एवं शब्द की सत्ता होने से दो-दो काव्य का व्यवहार माना जाने लगेगा। इसलिए शब्दार्थवादियों का पक्ष अमान्य है। इसके अतिरिक्त चाहे शब्दवादी धारा हो या शब्दार्थवादी—विशेषण शास्त्रव्यावर्तक तथा काव्यसग्राहक तत्त्व—अन्य कोई भी ठीक नहीं है, चाहे शब्दवादियों की रसात्मकता हो या विशिष्ट शब्दार्थवादियों की गुणवत्ता, अलंकारवत्ता एवं दोषाभाववत्ता जैसे उत्कर्षाधायक विशेषण हों। तर्क यह है कि विश्वनाथ काव्य के लिए वाक्य में जब रसात्मकता या रसव्यंजकता स्वीकार करते है, तो रससंस्पर्श किस रूप में मानते हैं? पूर्णतः विभावादि के साथ या जिस किसी भी रूप मे। पहला पक्ष इसलिए असंगत है कि प्रकीर्णक वर्णनकाव्य अकाव्य हो जायेंगे और इनके संग्रहार्थ 'यथाकथंचित्' रससंस्पर्श ही माना जाय तो अकाव्यात्मक साधारण वाक्य—'गौ चर रही है' भी काव्य की कोटि में आ जायगा, क्योकि इस वाक्य का अर्थ भी गौविषयिणी रति का विभाव हो ही जायगा। रहे उत्कर्षाधायक विशेषण, उन्हें काव्यलक्षण में तो कभी देना ही नहीं चाहिए।

---

१. रसगंगाधर, प्र० आ०।

कारण यह कि लक्षण ऐसा होना चाहिए जिससे लक्ष्यमात्र का संग्रह हो सके, उत्कर्षाधायक विशेषण-सवलित लक्षण तो केवल उत्कृष्ट काव्यों का ही संग्रह कर सकते हैं। आगे तो गुणवत्ता, अलंकारवत्ता एवं दोषाभाववत्ता जैसे उत्कर्षाधायक विशेषणों का जमकर निराकरण है। इस प्रकार सभी पूर्ववर्ती मतो की आलोचना करते हुए अत में अपना लक्षण निर्द्धारित किया है—रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द ही काव्य है। अर्थगत रमणीयता एक विशेष प्रकार का आह्लाद है, जिसमें सहृदयों का हृदय साक्षी हैं, जिसे चमत्कार के नाम से भी अभिहित किया जाता है। यही रमणीयता, चमत्कार या लोकोत्तर आह्लाद मुख्य तत्त्व है जिसके कारण काव्य अपने को अकाव्यात्मक वाङ्मय से पृथक् कर लेता है।[1]

काव्यहेतु : पंडितराज तथा अन्य आलंकारिक

पंडितराज ने काव्यहेतुओं का विचार भी प्राक्तन आलंकारिकों से पृथक् ही किया है। सबसे पहले और प्रमुख रूप में प्रकाशकार का खंडन करते हुए यह कहा है कि काव्य का कारण केवल प्रतिभा ही है। हाँ, यह दूसरी बात है कि वह प्रतिभा कभी शक्तिवश स्फुरित होती है और कभी व्युत्पत्ति तथा अभ्यासवश।[2] मम्मट ने शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनों को मिलित रूप में कारण माना है।[3] वस्तुतः विचार किया जाय तो यही कहा जा सकता है कि प्रकाशकार उत्कृष्ट काव्य का हेतु बता रहे हैं और मम्मट सामान्य काव्य का। प्रकाशकार के 'इति हेतुस्तदुद्भवे'[4] में 'उद्भवे' का अर्थ 'उत्कृष्ट उत्पाद' ही किया गया है, अर्थात् उत्कृष्ट काव्य की उत्पत्ति के लिये तीनों की मिलित रूप में हेतुता मानी जानी चाहिए। हाँ, सामान्य काव्य के लिये पंडितराज की बात ठीक है। अब, यह देखना है कि जिन लोगों ने सामान्य काव्य की हेतुता का विचार किया है, उनसे पंडितराज की क्या विशेषता है। भामह ने प्रतिभावानों से ही काव्य का निर्माण संभव माना है[5], पर काव्यक्रिया के प्रति उनके उन्मुख होने के लिये यह आवश्यक बताया है कि वे व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के द्वारा[6] करें। पंडितराज इनसे इस माने में भिन्न हैं कि इन्होंने

---

१. रसगंगाधर, प्रथम आनन।

२. वही, पृ० ६।

३. काव्यप्रकाश, प्र० उ०।

४. वही।

५. काव्यालंकार, प्र० प०।

६ वही।

शक्ति की चर्चा का कोई संकेत नहीं किया। दंडी ने काव्यकारण की संपत्ति प्रतिभा, श्रुत तथा अभ्यास को कहा है।[1] इस प्रकार जहाँ दंडी तीनों को मिलित रूप में कारण कहते हैं, वहाँ पंडितराज श्रुत तथा अभ्यास का फल प्रतिभा को मानते हैं और केवल प्रतिभा को ही काव्यहेतु कहते हैं। काव्यविलासकार चिरंजीव[2] भी दंडी की ही भाँति काव्यकारण की बात सोचते है। दडी से पंडितराज इसलिये मिलते भी हैं कि दोनो ने श्रुत तथा यत्न का भी पृथक् से कारण कहा है, पर शक्ति और प्रतिभा के संबंध के बारे में दंडी मौन हैं। वामन ने कवित्व का बीज 'प्रतिभान'[3] को कहा है पर पंडितराज से ये भी इसलिए भिन्न हैं कि पंडितराज ने प्रतिभा का स्वरूप 'काव्यानुकूल-शब्दार्थोपस्थिति'[4] बताया है, जब कि वामन ने उसे संस्काररूप[5] माना है। रुद्रट ने काव्यकारण के रूप में तथाविध विस्फुरण को कारण अवश्य माना है, परंतु उसे वे 'शक्ति'[6] के नाम से कहते हैं। प्रतिभा को संस्कारविशेषरूप माननेवाले आचार्य चिरंजीव[7], प्रदीपकार गोविंद ठक्कुर[8], म०म० गंगाधर शास्त्री[9] आदि हैं। उनसे पंडितराज का मतभेद स्पष्ट है। श्रुताभ्याससहित प्रतिभा को कारण माननेवालों में चद्रालोककार जयदेव[10], विद्यानाथ[11], दंडी[12], नरेंद्रप्रभ सूरि[13] आदि हैं जिनसे पंडितराज का विचार इसलिए नया हो जाता है कि इन लोगों ने तीनो को समस्तर का कारण कहा है, जब कि पंडितराज ने श्रुताभ्यास तथा प्रतिभा में कार्यकारणभाव—संबंध कहा

---

१. काव्यादर्श, प्र० प०।
२. काव्यविलास।
३. कवित्वबीजं प्रतिभानम् १।३।१६, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति।
४. रसगंगाधर, प्र० आ०।
५. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति।
६. काव्यालंकार।
७. काव्यविलास।
८. काव्यप्रदीप, प्र० उ०।
९. रसगंगाधर, टिप्पणी।
१०. चंद्रालोक, प्रथम मयूख।
११. प्रतापरुद्र, यशोभूषण।
१२. काव्यादर्श, प्र० प०।
१३. अलंकारमहोदधि।

है। दो तीन आचार्य, जैसे मंखक[1] आदि ऐसे भी हैं जिन्होंने श्रुत, अभ्यास, शक्ति और प्रतिभा—चारो को कारण माना है। पंडितराज इन लोगों से भी प्रतिभा के साथ शेष तीन का अनियत रूप में कार्यकारणभाव–संबंध स्वीकार करने से भिन्न हो जाते हैं। इस प्रकार पंडितराज अपने इन विचारों में सर्वथा नवीन और स्पष्ट हैं। 'प्रतिभैव गरीयसी'[2], एक भिन्न बात है और 'प्रतिभैव केवला कारणम्'[3] भिन्न। पहली बात इसलिये भिन्न है कि कइयों में श्रेष्ठ कारण है और दूसरे का अर्थ यह है कि 'प्रतिभा' के बिना काव्य हो ही नहीं सकता और केवल प्रतिभा से ही काव्य होता है। हाँ, वह प्रतिभा कभी शक्तिजनित हो सकती है और कभी व्युत्पत्ति तथा अभ्यासवश। पंडितराज का यही मत है।

काव्यप्रयोजन के संबंध में इनकी कोई नई देन नहीं है। अर्थ की दृष्टि से काव्यप्रभेद पर किए गए विचारों में अवश्य नवीनता है। आनंदवर्धन,[4] एवं मम्मट[5], विद्यानाथ[6], हेमचंद्र ने[7] अर्थयुक्त चमत्कारगत तारतम्य की दृष्टि से काव्य के तीन भेद माने—उत्तम, मध्यम एवं अधम और ऐसा करने का कारण यह बताया है कि प्रतीयमान अर्थ कभी स्फुट हो सकता है और कभी अस्फुट तथा अस्फुटतर। स्फुट में भी दो स्थितियाँ हैं—प्रधान और अप्रधान। प्रधान तथा स्फुट रूप में जहाँ प्रतीयमान की स्थिति रहती है वहाँ उत्तम काव्य या ध्वनिकाव्य, जहाँ स्फुट पर समप्रधान, अप्रधान या अस्फुट स्थितियाँ रहती है, वहाँ मध्यम या गुणीभूत व्यंग्य और जहाँ प्रतीयमान की स्थिति अस्फुटतर रहती है वहाँ अधम अथवा चित्रकाव्य कहा जाता है। महिमभट्ट का कहना है कि काव्य रसात्मक ही होता है और रसप्रधान ही होता है। इसलिये रसरूप अनुमेय अर्थ की दृष्टि से काव्य एक ही प्रकार का हो सकता है।[8] साहित्यदर्पणकार ने काव्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि रसात्मक वाक्य काव्य है। इनकी दृष्टि से रस कभी स्वयं प्रधान रहता है और कभी अतिरिक्त अर्थ का उपकारक भी। अतः इन दो स्थितियों की

---

१. साहित्यमीमांसा।
२. काव्यमीमांसा।
३. रसगंगाधर, प्र० आ०।
४. ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत।
५. काव्यप्रकाश, प्र० उ०।
६. साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद।
७. काव्यानुशासन, प्र० प०।
८. व्यक्तिविवेक, प्र० विमर्श। २१ (६६–२-४)

दृष्टि से रसात्मक अर्थ को ध्यान में रखते हुए काव्य दो ही प्रकार का हो सकता है।[1] पंडितराज ने इन सबसे मतभेद रखते हुए यह कहा कि काव्य चार प्रकार[2] का होना चाहिए—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम। ध्वन्यालोककार के नजदीक होते हुए भी जहाँ मम्मट अथवा आनद चित्रकाव्य को एक ही प्रकार का मानते हैं, वहाँ पंडितराज अर्थचित्र तथा शब्दचित्र नाम के दो भेद मानते हैं और तर्क देते है कि अर्थचित्र एवं शब्दचित्र जनित चमत्कार में अतर है। तो इस दशा में दोनों को एक श्रेणी की वस्तु मानना कहाँ तक समुचित होगा। मध्यम[3] या गुणीभूत काव्य के सबंध में भी इनकी धारणा भिन्न है।

जहाँ मम्मट आदि अप्रधान व्यंग्य को गुणीभूत व्यंग्य कहते है, वहाँ पडितराज अप्रधान ही को गुणीभूत व्यंग्यकाव्य कहते हैं। दोनों के वक्तव्यो में अंतर यह है कि जहाँ प्रकाशकार पार्यंतिक अर्थ की अपेक्षा ही अप्रधान की शर्त रखते हैं, चाहे और किसी कोटि के अर्थ से वह प्रधान भी हो तो कोई हर्ज नहीं, वहाँ पंडितराज का कहना है वह गुणीभूत व्यग्य तभी है जब सर्वथा अप्रधान ही हो–किसी भी स्फुट अर्थ की अपेक्षा उसे प्रधान नहीं होना चाहिए।

चौथी देन पंडितराज की रससंबधी व्याख्या में है। इनसे पूर्व जो भी भरतसूत्र की व्याख्याएँ की गई थीं, उनमें प्रत्यभिज्ञानदर्शन पर आश्रित अभिनवगुप्त की व्याख्या सुदर मानी जाती थी। मम्मट आदि सहृदय शिरोमणियों ने उसी मत को महत्त्वपूर्ण माना। पंडितराज ने अद्वैतवेदातदर्शन के आधार पर उसकी नई व्याख्या दी। उन्होने कहा कि विभावादि की समुदित प्रतीति के फलस्वरूप एक अलौकिक व्यापार होता है, जिससे रसोपयोगी सामग्रीविषयक आत्मा पर पड़ा हुआ आवरण भंग होता है। फिर यह भग्नावरण चिद् अपने आनंदात्मक स्वरूप के साथ विभावादि प्रकाश्य स्थायी का ग्रहण करता है और इन्हीं की पानकरसन्यायेन एक रसप्रतीति ही रसास्वाद है। अभिनव तथा मम्मट आदि 'चिद्विशिष्टस्थायी' को रस कहते थे। जहाँ चिद् विशेषण था और स्थायी विशेष्य। पंडितराज को यह खटका कि जड़ स्थायी विशेष्य हो—प्रधान हो और 'चिद्' विशेषण अप्रधान? नहीं, मानना यह चाहिए कि 'स्थायी विशिष्ट चिद्' रस[4] है।

---

१. साहित्यदर्पण, प्र० परि०।
२. रसगंगाधर, प्र० आ०।
३. वही।
४. वही।

पाँचवीं क्रांतिकारी विचारसंतति का धारावाहिक उल्लेख इनके गुणसंबंधी विमर्श के प्रसंग में मिलता है। वहाँ इन्होंने समस्त पूर्ववर्ती गुणसंबंधी विचारधाराओं का उल्लेख किया है और उसे तीन भागों में विभक्त किया है—चिरंतन, नव्य एवं नव्यतर। नव्यतर में पंडितराज की स्वयं अपनी गणना है। चिरंतनों के बीस गुणों को तो नव्यों (प्रकाशकार, आनंदवर्द्धन आदि ध्वनिवादी) ने ही निर्मूल कर दिया और कहा कि गुण शब्द अर्थ के नहीं बल्कि शब्दार्थात्मक काव्य की आत्मा रस के धर्म है और इन्हें तीन इसलिए मानना चाहिए कि रसों के अनुभव से चित्त की तीन ही दशायें होती हैं—द्रुति, दीप्ति और विकास। एक-एक रसवर्ती गुण के एक-एक कार्य हैं। पंडितराज का तर्क है कि ध्वनिवादी गुण का जो रूप मानते हैं, जो आधार मानते है और उनका जो कार्य मानते है, वह सब गलत है। वस्तु वही मानी जाती है जो सप्रमाण हो। 'गुण' की तथाकथित सत्ता में कोई प्रमाण नहीं। जिस प्रकार अग्निगत दाहजनक 'उष्णता' गुण प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है, उसी प्रकार यदि द्रुत्यादिजनक रसगत रस से कोई भिन्न वस्तु प्रत्यक्ष सिद्ध होती तो उसे माना जाता। अनुमान इसलिए असमर्थ है कि गुण जैसी चीज का कोई अनुमापक कार्य ही नहीं है। द्रुति आदि वस्तुतः गुण के नहीं रस के ही कार्य है। रसों के तरतम से द्रुति आदि में भी तरतम भाव होता ही है। तीसरी बात यह कि अद्वैत मत से आत्मा निर्गुण होता है, उसमें गुण कहाँ। ऐसे ही अनेक तर्कों से गुणों का तथाविध रूप निरस्त किया गया है। मधुरादि व्यवहार की सिद्धि की दृष्टि से यदि सोचा जाय तो यह कहा जा सकता है कि चित्त को द्रुत करने में जिन जिन को प्रयोजकता प्राप्त है, वे सब माधुर्यवान् कहे जायँ—शब्द, अर्थ, रचना, रस, सब कुछ। इस प्रकार गुणों के स्वरूप के संबंध में इनकी यह विचित्र धारणा है।[1]

छठी देन है—भावोदय, भावसंधि, भावशबलता एवं भावशांति की संज्ञा के विषय में। पंडितराज की स्थापना है कि जिस प्रकार 'स्थिति' दशा की चमत्कारकारिता के अनुभवसिद्ध होने पर भी उसे 'भावस्थिति' नाम न देकर 'भाव' ही नाम देते हैं, उसी प्रकार भावों की अन्य स्थितियों (संधि, शबलता, शांति) की भी मुख्यता इन संज्ञाओं में नहीं होनी चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि यदि भावशांति नाम रखा जाय और संज्ञा द्वारा

---

१. वही।

'भाव' की अपेक्षा 'शांति' को ही प्रधान माना जाय तो उस उदाहरण में जहाँ प्रधान (शांति) व्यंग्य है और 'भाव' अप्रधान वाच्य है, वहाँ प्रधानानुरोधवश भावशांति का व्यवहार होना चाहिए, जब कि यह बात आलंकारिकों को संमत नहीं है। इसी प्रकार जहाँ भाव व्यंग्य है और शांत्यादि वाच्य हैं, वहाँ सहृदयसमत ध्वनिव्यपदेश भी न हो पायगा। इसलिए सबको 'भाव' संज्ञा ही देनी चाहिए। रही अंतर की बात, वह भिन्न-भिन्न अवस्थाओ से हो जायगी।[1]

रस को असलक्ष्यक्रम ही माना जाता है, पर जगन्नाथ पंडित ने उसे संलक्ष्यक्रम भी कहा है।[2] वस्तुतः यह कोई इनकी नई बात नहीं है। इसे तो आनंदवर्द्धन ने पहले ही कह दिया था।[3] हाँ उस विषय में एक नया प्रश्न अवश्य रखा कि यदि रस को सलक्ष्यक्रम माना जायगा तो संलक्ष्यक्रम के भेदों की गणना कराते समय जो अर्थशक्तिमूलध्वनि के बारह प्रभेद अभिनवगुप्त तथा मम्मट ने कहे हैं उनकी सगति किस प्रकार होगी। समाधान देते हुए यह कहा कि संलक्ष्यक्रम 'रस' की गणना 'वस्तु' के भीतर ही की जानी चाहिए। 'वस्तु' के भीतर क्यो गणना करनी चाहिए, इस विषय में उन्होंने कोई उपपत्ति नहीं दी और बुभुक्कड़ों को ललकारा कि वे सोचें। 'प्रथम आनन' के उनके ये ही अपने विचार प्रमुख हैं। वैसे तो प्रतिभावान् व्यक्ति हर पद पर अपनी छाप रखता है।

द्वितीय आनन का आरंभ संलक्ष्यक्रमध्वनि से करते हुए उसके 'अर्थशक्तिमूल' वाले प्रभेद के विषय में भी इनके क्रांतिकारी विचार है। जहाँ सारी परंपरा 'अर्थशक्तिमूल' के बारह भेद मानती थी, वहाँ इन्होने आठ ही कहे।

अर्थशक्तिमूलध्वनि

बस्तु से वस्तु	वस्तु से अलंकार	अलंकार से वस्तु	अलंकार से अलकार
स्वतः संभवी, कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध	स्व०, कवि०	स्व०, कवि०	स्व०, कवि०
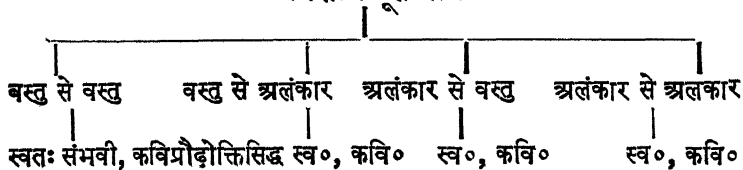
अन्य लोग प्रत्येक व्यंजक के 'कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध' नामक चार भेद और बढ़ा देते है। पंडितराज का यह कहना है कि भले ही कविनिबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति से वस्तु या अलंकार व्यंजकरूप में उपनिबद्ध हो, अंततः है तो वह कवि की ही प्रौढ़ोक्ति। इसलिए उसको कविप्रौढ़ोक्ति ही में अंतर्भूत कर लेना चाहिए।[4]

१. वही। २. वही। ३. ध्वन्यालोक, द्वि०उ०। ४. रसगगाधर, द्वि०आ०।

शाब्दी व्यंजना के संबंध में कोई नई उपस्थापना तो नहीं है, परंतु पूर्ववर्ती व्याख्याओं और विचारों को अप्रौढ़ सिद्ध करके अपनी सर्वथा नूतन उपपत्ति दी है। उपपत्तियों और विचारों के इस दौरान में उन्होंने काव्यप्रकाश-कार की कारिका—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियंत्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थे व्यापारो व्यंजनैव सा ॥[1]

की अनेकविध व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं और इस कारिका की अपनी स्थापना से अशक्त सिद्ध करते हुए अततः कहा है कि उसे यों होना चाहिए —

योगरूढस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियंत्रिते।
धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यंजनैव सा ॥

योगरूढ़ शब्द की अभिधा का नियंत्रण हो जाने पर यौगिक अर्थ का भान करानेवाली शक्ति शाब्दी व्यंजना ही है। उदाहरणार्थ अधोलिखित पद्य को लीजिए—

चाञ्चल्ययोगिनयनं तव जलजानां श्रियं हरतु।
विपिनेऽतिचञ्चलानामपि च मृगाणां कथं हरति ॥

[यदि कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि चाञ्चल्यगुण से रहित कमलों की शोभा का तिरस्कार चञ्चल नेत्र करें, आश्चर्य की बात यह है कि चाञ्चल्यगुणयुक्त हरिणों की शोभा का भी वे तिरस्कार करते हैं।

दूसरा (यौगिक) अर्थ—मूर्खों के प्रमत्त पुत्रों की संपत्ति का हरण यदि चोर करें—तो यह हो सकता है, पर अप्रमत्त गवेषकों की भी संपत्ति छीन लें—यह नहीं।] दूसरा अर्थ अप्राकरणिक है और तदर्थ व्यंजना अपेक्षित है।

इसी प्रकार प्राचीनों ने अनेकार्थक शब्दप्रयोग के स्थलों में, जहाँ प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक उभयविध अर्थ प्रतीत होते हैं, अभिधा के नियामक सयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता आदि अनेक साधन माने हैं, वहाँ भी पंडितराज की यह स्थापना है कि जिस प्रकार संयोग, विभाग आदि के वाचक शब्द या उनके अर्थ अभिधानियामक होते हैं, वैसी स्थिति अर्थ, सामर्थ्य तथा औचिती की नहीं हो सकती। इनको पृथक् पृथक् अभिधानियामक न मानकर उचित यही है कि चतुर्थी, तृतीया आदि अर्थसामर्थ्य से बोधित कार्यकारणभाव को ही एकमात्र नियामक मानें, अन्य कुछ नहीं। इसी प्रकार सूक्ष्म विचार किया जाय, तो संयोग, विप्रयोग आदि को भी 'लिंग' का ही एक भेद मानना पड़ेगा - स्वतंत्र तत्त्व नहीं।[2]

---

१. वही। २. वही।

ध्वनि के उदाहरणों की विवेचना करते हुए उन्होंने कई नए प्रश्न उठाए हैं, जो उनके अपने मौलिक जान पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, शब्दशक्ति मूल ध्वनि का एक उदाहरण—

भद्रात्म है अतिविशाल सुवंश उच्च हैं पास में बहु शिलीमुख भी सपक्ष।
जो हैं सदैव परवारणशोभनीय, दानांबुसेचनमयी कर है तदीय॥

इस पद्य में किसी राजा की प्रशस्ति है, पर इसमें कुछ ऐसे अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग है जिनके बल पर एक अप्राकरणिक अर्थ भी निकलता है जो हाथीपरक है। पंडितराज ने यहाँ परपरागत विचारों के विरुद्ध तीन प्रश्न उठाए हैं—(१) उपर्युक्त स्थलो में जो उपमा व्यंग्य होती है, उसे ध्वनि का विषय क्यो माना जाय; (२) जो अप्राकरणिक अर्थ व्यग्य है, उसे लेकर ध्वनि का व्यवहार क्यो किया जाय, (३) जिस प्रकार समासोक्ति में एक शब्द से बोध्य होने के कारण प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थों में अभेद व्यग्य माना जाता है, न कि सादृश्य उसी प्रकार प्रस्तुत स्थान में उभयविध अर्थों में एकशब्दबोध्यता होने के कारण अभेद क्यों न माना जाय—क्यो सादृश्य की व्यंजना स्वीकार की जाय? इसी प्रकार जब अप्राकरणिक अर्थ और उपमा प्रकृत अर्थ के उपस्कारक हैं, तब उस व्यंग्य को प्रधान कहकर गुणीभूत ही कहना चाहिए और गुणीभूत होने पर वहाँ गुणीभूत व्यंग्य का ही व्यपदेश सयुक्तिक ठहरता है। फिर अंधी परंपरा का क्या महत्त्व है?[1]

ध्वनिप्रभेदों का विचार तथा अभिधा एवं लक्षणा शक्ति का विमर्श कर लेने के पश्चात् उन्होंने अलंकारों का विवेचन आरंभ किया है। इसमें स्थान-स्थान पर मुख्य रूप से पारस्परिक विद्वेषवश अप्पय दीक्षित का खंडन अधिक किया है, यों संरंभ में अन्य प्राक्तन आलंकारकों का भी खंडन किया है। प्रतीप एवं उपमानोपमेय का पृथक् निरूपण करते हुए भी उपमाविमर्श के प्रसंग में पंडितराज ने परंपराविरुद्ध यह स्वीकार किया है कि प्रतीप एवं उपमानोपमेय का 'उपमा' में ही संग्रह कर लिया जाना चाहिए। प्रत्ययनिमित्तक जो विभिन्न भेद पुरातन आलंकारिकों ने कहे हैं, उसपर भी पंडितराज की आस्था नहीं है। अलंकारप्रकरण में सर्वत्र उनकी विवेचक प्रतिभा का चमत्कार उपलब्ध होता है, पर प्रमुख रूप से दो

---

१. वही।

तीन उपस्थापनाओं का उल्लेख नीचे किया जा रहा है, जिनमें उन्होंने न केवल प्राक्तन साहित्यिकों का ही, बल्कि नैयायिकों एवं वैयाकरणों के भी मान्य सिद्धांतों का खंडन किया है और आलंकारिकों का स्वतंत्र 'तंत्र' स्थापित किया है। उदाहरण के लिए उत्प्रेक्षा अलंकार को ही लें। आचार्यों के विवाद का विषय अधोलिखित है—

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः'—अर्थात् लगता है मानो तम अंग-अंग पर लेपन कर रहे हों, आकाश अंजन की वर्षा कर रहा हो। दंडी[1], अप्पय दीक्षित[2], काव्यप्रकाशकार[3] ने इसी स्थल को लेकर अनेकविध विचार किए हैं। प्रकाशकार ने और लोगों के मतों का समीक्षण वैयाकरणों के 'भावप्रधानमाख्यातम्' के सिद्धांत को लेकर किया है। पंडितराज ने वैयाकरणों के इस सिद्धांत का ही खंडन किया और कहा कि 'स्वतंत्रत्वेनालंकारिकतंत्रस्य तद्विरोधस्यादूषणत्वात्'[4]—अर्थात् आलंकारिकों का अपना स्वतंत्र सिद्धांत है अतः वैयाकरण से विरोध होना कोई तर्क नहीं है।

इसी प्रकार 'सहोक्ति' अलंकार में 'सहभाव' शाब्द होता है या आर्थ—इस पर भी आपके विचार मौलिक हैं। उस प्रसंग में अपने इस पक्ष को—'सहोक्ति' में सहभाव शाब्दप्रतीति का विषय है—सिद्ध करते हुए मनोरमाकार का खंडन किया है।[5]

इस प्रकार अलंकारसंबंधी विवेचन अत्यंत सूक्ष्म है, जहाँ पग-पग पर पंडितराज की मौलिकता प्रतिफलित होती दिखाई पड़ती है।

ऊपर इनकी प्रमुख स्थापनाओं की चर्चा की गई है। उनमें से कतिपय मान्य हुईं और कतिपय अमान्य भी। जहाँ तक काव्यलक्षण का प्रश्न है, नागेश जी ने रसगंगाधर की टीका करते हुए कहा है कि काव्य को विशिष्ट शब्दात्मा नहीं, प्रत्युत विशिष्ट 'शब्दार्थोभयात्मा' ही मानना ठीक है। कारण, जिस प्रकार लोक काव्य 'सुनता है' उसी प्रकार 'समझता' भी है। अर्थात् काव्य वह वस्तु है जो न केवल सुने जाने का विषय होने के कारण 'शब्द' रूप ही है बल्कि समझे जाने के कारण 'अर्थ' रूप भी है। काव्य के 'शब्दार्थरूप' होने में पाणिनि का 'तदधीतेतद्वेद' सूत्र भी कारण है। इस सूत्र में वाङ्मय की कोई भी शाखा अध्ययन तथा वेदन दोनों का विषय बताई गई है। अध्ययन शब्द पाठ है और वेदन अर्थज्ञान।[6]

---

१. काव्यादर्श। २ कुवलयानंद। ३. काव्यप्रकाश, दशम उल्लास। ४. रसगंगाधर, पृ० ३६६। ५. वही, द्वितीय आनन। ६. रसगंगाधर पर नागेश जी की टीका, प्र० आ०।

काव्यहेतु एवं प्रभेदविमर्शसंबधी स्थापनाओं पर तो इनका खंडन करनेवाले तर्क नहीं मिलते, पर 'गुण' संबंधी जिस मत का उल्लेख उन्होंने 'माहशाः' नाम से किया है, उसको आगे चलकर मान्यता नहीं मिली। साहित्यसारप्रणेता अच्युतराय ने पंडितराज के प्रकाशकारविरोधी तर्कों का खंडन एक-एक करके किया है। उदाहरण के लिए पंडितराज का वह तर्क लिया जा सकता है जहाँ उन्होंने यह कहा है कि आत्मा जब निर्गुण होता है, तो काव्य की आत्मा 'रस' गुणवती कैसे हो सकती है? अच्युतराय ने कहा कि जिस प्रकार सोपाधिक आत्मा गुणवती हो सकती है, उसी प्रकार यहाँ (रत्युपहितचित्) भी रस सगुण हो सकता है।[1] इस प्रकार पडितराज के इस मत का सूक्ष्म खंडन हुआ है।

भावसंधि आदि को 'भाव' संज्ञा ही दी जाय और अंतर करने के लिए उन्हें तथाकथित भेदक तत्त्वों को ध्यान में रखकर अवांतर प्रभेद के रूप में रख लिया जाय—इस स्थापना का विरोध नहीं हुआ। पर मान्यता न मिली और प्रचलन न हुआ।

अर्थशक्तिमूलध्वनि के दो भेदों को जो इन्होंने निकाल दिया; उसका विरोध भी हुआ। विरोध में यह कहा गया है कि यह ठीक है कि कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति' को कवि की प्रौढ़ोक्ति से भिन्न नहीं कहना चाहिए, पर यदि कवि जिस पात्र के द्वारा प्रौढ़ोक्ति कराना चाहता है, वह पात्र स्वाभाविक विशेषताओं और चारित्रिक विशेषताओं के कारण अपनी उक्ति से व्यंग्यार्थ में एक अपूर्वता ला देता है—कारण यह है कि व्यक्तिवैशिष्ट्य या वक्तृवैशिष्ट्य भी तो व्यंजकता में एक साधन है; यदि कवि स्वनिबद्ध पात्र से न कहलाकर स्वयं कहता तो यह अपूर्वता न आती—तो क्यों न कविप्रौढ़ोक्ति से कविनिबद्धप्रौढ़ोक्ति को भिन्न माना जाय?

शब्दशक्तिमूलध्वनि के उदाहरणों में जो रूपक या अभेद के व्यग्य होने की तथा गुणीभूतव्यंग्य के व्यपदेश की स्थापना की है, वह अवश्य परंपरा के विरोध में एक विचारणीय बात है। इस स्थापना में पर्याप्त पुष्ट तर्क हैं।

अलंकारों के विवेचन द्वारा उनका स्वरूप एवं पारस्परिक वैषम्य पर्याप्त स्पष्ट होकर आया है, इसमें कोई संदेह नहीं। अलंकारों का इतना सूक्ष्म, सविस्तर तथा स्पष्ट विमर्शन इनसे पूर्व किसी भी आलंकारिक ने नहीं किया था।